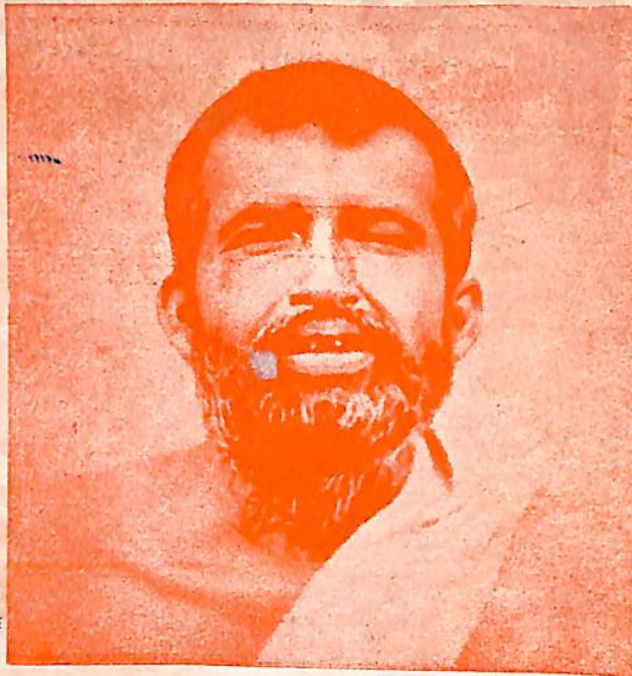
49
RVL

ॐ



ॐ नमोभगवते रामकृष्णाय

(स्वामिरामकृष्णानन्दविरचितश्रीरामकृष्णोपदेशावलिसमेता)

श्रीश्रीरामकृष्णोपदेशसाहस्री

(अनुवाद समेत)

रामकृष्ण शिवानन्द आश्रम
बारासत

प्रकाशक : रामकृष्ण शिवानन्द आश्रम
पोस्ट : बारासत, जिला २४ परगना ।

उपस्थापक : स्वामी अपूर्वानन्द

इस ग्रन्थ की समस्त आमदनी बारासत रामकृष्ण-शिवानन्द आश्रम में श्रीश्रीठाकुरजी की सेवा में व्ययित होगी ।

प्रथम संस्करण—जून, १९७७ ई०

मूल्य-लिम्प—१०) रु०

प्रच्छद पत्र—दी इउरेका प्रिंटिंग वर्क्स प्राइवेट लिमिटेड, वाराणसी ।

मुद्रक—श्री विश्वनाथ दत्त,
दी इउरेका प्रिंटिंग वर्क्स (प्रा०) लिमिटेड,
गोदौलिया, वाराणसी-१ (यू० पी०)

प्रकाशक का निवेदन

करुणावतार भगवान श्रीरामकृष्णदेव की असीम कृपा से उनके श्रीमुख-कथित वाणी और उपदेशावली हिन्दी अनुवाद के साथ संस्कृत भाषा के सुललित छन्द में लगभग बारह सौ श्लोकों तथा अठारह अध्यायों में "श्रीरामकृष्णोपदेशसाहस्री" नामक ग्रन्थ के रूप में प्रकाशित हुई।

वाराणसी के प्रख्यात पण्डित तथा अध्यापक टी० ए० भण्डारकर, श्री त्र्यम्बक शर्मा, साहित्याचार्य, एम० ए० (डबल) महोदय ने इस ग्रंथ की रचना की है तथा लखनऊ विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग के अध्यक्ष आचार्य श्री आनन्द झा, न्यायाचार्य, वेदान्तवागीश महोदय ने इस ग्रंथ का सम्पादन-कार्य सम्पन्न किया है। इसके अतिरिक्त उन्होंने एक सुचिन्तित सम्पादकीय निबंध की रचना करके इस ग्रन्थ को सुसमृद्ध किया है। इस ग्रंथ का हिन्दी अनुवाद तथा पाण्डुलिपि प्रस्तुत किया है काशी के पण्डित-प्रवर श्री गोपालचन्द्र चक्रवर्ती, वेदान्तशास्त्री जी ने। मूल बंगला भाषा में प्रकाशित श्रीरामकृष्णवाणी तथा उपदेश से इस ग्रंथ के उपादान संग्रह किया है स्वामी अपूर्वानन्द महाराज ने। इसके ग्रंथकार, सम्पादक, अनुवादक तथा इस ग्रंथ के संकलक आदि सभी को हम अपना आन्तरिक धन्यवाद तथा कृतज्ञता विज्ञापित करते हैं।

हम आनन्द के साथ जताते हैं कि श्रीभगवान के विशेष आशीर्वाद से इस ग्रंथ के परिशिष्ट में स्वामी रामकृष्णानन्द विरचित श्रीरामकृष्णोपदेशावलिः शीर्षक निबंध के कुछ अंश तथा उन्हीं के द्वारा लिखित अंग्रेजी अनुवाद और संस्कृत टीका के साथ इस ग्रंथ के परिशिष्ट में प्रकाशित करने का मौका मिलने से हम अपने को गौरवान्वित तथा धन्य समझते हैं। श्रीस्वामी रामकृष्णानन्द जी महाराज ने १८९६-९७ ईस्वी में बंगाल के उस समय की संस्कृत मासिक पत्रिका विद्योदय की कुछ संख्याओं में श्रीरामकृष्णदेव के कुछ उपदेश संस्कृत श्लोकों के रूप में प्रकाशित किये थे। अनुसंधान के फलस्वरूप अभी कलकत्ते के जातीय ग्रंथागार में "विद्योदय" पत्रिका की ३ संख्याओं में स्वामी रामकृष्णानन्द महाराज द्वारा रचित श्रीरामकृष्णोपदेशावलिः के पचास से अधिक श्लोक अंग्रेजी अनुवाद तथा संस्कृत टीका सहित मिले हैं। इस अनुसंधान कार्य में सफलता कलकत्ता विश्वविद्यालय के अध्यापक श्री शौवीर

किशोर चट्टोपाध्याय महोदय को मिली है। उन्होंने कलकत्ते के जातीय ग्रंथागार के कर्तृपक्ष की आज्ञा से हमारे इस ग्रथ के लिए अनुवाद सहित उन श्लोकों को लिखकर हमें भेज दिया है। इस अनमोल सहायता के लिए जातीय ग्रंथागार के कर्तृपक्ष और श्री शौवीर किशोर चट्टोपाध्याय महोदय के हम कृतज्ञ हैं।

सुप्राचीन वेद, पुराण, तन्त्र, रामायण, महाभारत, कालिदास आदि महाकवियों के विरचित लौकिक काव्य-सम्भार युगों से अनमोल तत्त्व तथा तथ्य आदि लिपिबद्ध होकर आज भी वे समस्त विश्ववासी के कल्याण तथा प्रेरणा के उत्स-रूप वर्तमान हैं। इतना होने पर भी श्रीरामकृष्णदेव की उपदेशावली चारों ओर विशेष रूप से परिलक्षित हो रही है। उसका प्रधान कारण है—मौलिक समस्याओं का समाधान तथा भगवत्प्राप्ति का चरम लक्ष्य-निर्देश और देश-काल-पात्र के उपयोगी समुज्ज्वल आलोक-वर्तिका है, श्रीरामकृष्ण की वाणी तथा उनके अनमोल उपदेश।

सरल संस्कृत भाषा में लिखित तथा सुललित अनुवाद सहित प्रदर्शित होकर "श्री श्रीरामकृष्णोपदेशसाहस्री" अल्प संस्कृतज्ञ व्यक्तियों के लिए भी अति उपादेय तथा परम कल्याण के निदान के रूप में गण्य होगा।

सर्व भारतीयों की उपयोगिता की बात का स्मरण रखकर फिलहाल बंगला तथा हिन्दी अनुवाद सहित दो संस्करण प्रकाशित हुए। भविष्य में अंग्रेजी तथा अन्यान्य भारतीय भाषाओं में इस ग्रंथ को प्रकाशित करने की हमें इच्छा है।

आशा है कि श्रीरामकृष्णसाहित्य के अनुरागी संस्कृत-प्रेमी विद्वान लोग "श्रीश्रीरामकृष्णोपदेशसाहस्री" ग्रंथ को श्रद्धा तथा मर्यादा के साथ ग्रहण करके संस्कृतभाषा-चर्चा तथा उसके माध्यम से भारत के गौरवमय ऐतिह्य का स्मरण तथा जातीय संहति की रक्षा के कार्य में अग्रसर होते रहेंगे।

स्वामी अपूर्वानन्द महाराज ने इस ग्रंथ का लाभांश बारासत श्रीरामकृष्ण शिवानन्द आश्रम में स्थापित श्रीठाकुर की सेवा में उत्सर्ग करके हमें विशेष रूप से आभारी किया है।

—प्रकाशक

ग्रंथ का पूर्वाभास

लगभग ३० साल पहले मैंने श्रीमत् स्वामी रामकृष्णानन्दजी महाराज के जीवनी-ग्रंथ में पढ़ा था कि उन्होंने श्री ठाकुर के गृही-भक्त सुरेशचन्द्र दत्त के द्वारा प्रकाशित 'श्रीरामकृष्णदेव के उपदेश' नामक बंगला ग्रंथ से श्रीराम-कृष्णदेव के अनेक उपदेश संस्कृत श्लोकों को अनुष्टुप छन्द में रचना करके 'विद्योदय' नामक संस्कृत मासिक पत्रिका में क्रमशः प्रकाशित कर दिया था।

उन दिनों 'विद्योदय' ही बंगाल में एकमात्र संस्कृत पत्रिका थी। उस विवरण से मेरे मन में विशेष आग्रह उत्पन्न हुआ और 'विद्योदय' पत्रिका में संस्कृत श्लोकों में प्रकाशित श्रीरामकृष्णदेव की उपदेशावली के पढ़ने की तीव्र आकांक्षा उत्पन्न हुई।

उस घटना से श्रीमत्स्वामी रामकृष्णानन्दजी के मन में संस्कृत भाषा में श्रीश्रीठाकुर के उपदेशों को प्रकाशित करने की इच्छा उत्पन्न हुई थी, उसे हम जान गये। उन्होंने अपने संकल्प को कार्य में परिणत कहाँ तक किया था, उसे जानने का मौका नहीं मिला।

परम पूज्य महापुरुष महाराज ने अन्तिम जीवन में स्वामी रामकृष्णा-नन्दजी के प्रसंग में कहा था—'शशी संस्कृत अच्छी जानता था। एक समय उसके मन में श्रीठाकुर के उपदेशों को संस्कृत श्लोकों में रचना करने की इच्छा हुई थी। दोपहर को विश्राम न लेकर वह बैठे-बैठे श्रीठाकुर के उपदेशों को संस्कृत श्लोकों में रचना करता था और बाद में वह उसे पढ़कर सुनाता था। हमें भी उसकी रचना अच्छी लगती थी। सुनकर सभी लोग उसकी प्रशंसा करते थे। वह उन श्लोकों को एक संस्कृत पत्रिका में धारावाहिक रूप से छपाता था। वह पत्रिका आलमबाजार मठ में बहुत दिनों तक आती थी। उसके अनन्तर शशी के मद्रास चले जाने के कारण वह बंद हो गयी। उस समय महापुरुषजी की बात सुनकर मेरे मन में ऐसा भाव उत्पन्न हुआ था कि पूजनीय शशी महाराज ने अनेक उपदेशों की रचना संस्कृत में की थी।

ईश्वर की इच्छा से ही स्वामी रामकृष्णानन्द महाराज के मन में श्रीठाकुर के उपदेशों को संस्कृत भाषा में प्रकाशित करने की इच्छा उत्पन्न हुई थी, इस विषय में कोई संदेह नहीं है। कुछ वर्षों तक 'विद्योदय' पत्रिका के संग्रह की चेष्टा होने पर भी वह सफल नहीं हुई, किन्तु उसी समय से श्रीठाकुर के उपदेशों को संस्कृत में प्रकाशित करने की इच्छा मेरे मन में दीपक की अनिर्वाण शिखा देदीप्यमान थी। इधर लगभग बारह-तेरह सालों की चेष्टा से श्रीभगवान के आशीर्वाद के फलस्वरूप श्रीश्रीरामकृष्णोपदेश-साहस्री के रूप में वह इच्छा फलप्रसू हुई।

श्रीरामकृष्णदेव की उपदेश-वाणी संस्कृत में प्रकाशित करने का कार्य श्रीमत्स्वामी रामकृष्णानन्दजी महाराज ने सब से पहले आरंभ किया था, किन्तु वे उस कार्य को सम्पूर्ण नहीं कर सके थे। स्वामी विवेकानन्दजी के शतवार्षिक उत्सव के समय पूण्यवान स्वामी रामकृष्णानन्दजी के आरब्ध कार्य की आंशिक पूर्ति का मौका मुझे मिला था और उससे अपने को मैं धन्य समझने लगा। स्वामी विवेकानन्दजी केवल संस्कृतप्रेमी ही नहीं थे, बल्कि देश-विदेशों में संस्कृत भाषा का प्रचार-प्रसार उनका काम्य था। उन्होंने और भी कहा था कि पूण्य-भूमि भारत की सर्वांगीण उन्नति संस्कृत भाषा के विशेष प्रचार के ऊपर बहुत कुछ निर्भर है। स्वामीजी की उस वाणी का स्मरण करके उनकी शतवार्षिकी समिति के प्रधान सचिव ने शतवार्षिकी स्मारक ग्रंथ रूप में संस्कृत भाषा में श्रीरामकृष्णदेव और स्वामी विवेकानन्दजी की जीवनी और वाणी के प्रकाशित करने का भार मेरे ऊपर सौंपा था। ठीक समय पर वेदमूर्तिश्रीरामकृष्णः (३०० पृष्ठ) तथा युगाचार्य-विवेकानन्दः (४०० पृष्ठ) इन दोनों ग्रंथों को मैंने छापकर शतवार्षिकी समिति के हाथ सौंपा था।

वेदमूर्तिश्रीरामकृष्णः ग्रंथ को सर्वांगसुन्दर तथा अधिक उपयोगी करने की इच्छा से उस ग्रंथ के परिशिष्ट में श्रीरामकृष्णदेव के २०० वाणियों को श्लोक के रूप में सन्निवेशित किया गया है। अब लगता है स्वामी रामकृष्णानन्द महाराज की शुभ इच्छा ने ही हमें उस काम को पूर्ण करने की प्रेरणा

दी थी। उस काम के लिए विभिन्न ग्रंथों से ४०० उपदेश संग्रह करके बाराणसी के पंडितप्रवर अध्यापक टी० ए० भंडारकर, साहित्याचार्य, महाशय को उन उपदेशों को संस्कृत श्लोकों के रूप में रचना करने के लिए अनुरोध किया गया। वे आनन्द से उस काम में व्रती हुए और कुछ महीनों के समय में विभिन्न अध्यायों में विभक्त २०० उपदेशों की श्लोकों के रूप में उन्होंने रचना की। वे श्लोक "वेदमूर्ति-श्रीरामकृष्णः" ग्रंथ के परिशिष्ट में श्रीराम-कृष्णोपदेशद्विशती नामक अध्यायों में संयोजित होकर विद्वत्समाज में विशेष रूप से आदरणीय हुए हैं। श्रीरामकृष्णोपदेश-द्विशती की रचना-शैली इतनी उच्चांग की हुई थी कि उसको हमें श्रीश्रीरामकृष्णोपदेशसाहस्री ग्रंथ की रचना के बारे में आशान्वित की थी। हमारी यह परिकल्पना पंडितजी को जताने पर वे आनन्द से उस काम को हाथ में लेने में राजी हुए। उस काम के लिए हमने बंगला तथा अंग्रेजी में लिखित श्रीरामकृष्णवाणी तथा उनके उपदेशों के रूप में प्रकाशित श्रीरामकृष्ण-साहित्यों से लगभग डेढ़ हजार उपदेशों का संग्रह करके उसे पंडितजी को दिया। वे उन उपदेशों को १८ अध्यायों में विभक्त करके श्लोक-रचना के काम में व्रती हुए और दो वर्षों में विभिन्न छन्दों में लगभग बारह सौ श्लोकों में श्रीश्रीरामकृष्णोपदेशसाहस्री-ग्रंथ लिखना उन्होंने समाप्त किया, उसके बाद विभिन्न पंडितों के द्वारा सम्पादन, बंगला तथा हिन्दी में अनुवाद और पांडुलिपि तैयार करने में बहुत समय बीत गया। अनेक बाधा-विघ्नों का अतिक्रमण कर श्रीश्रीरामकृष्णोपदेश-साहस्री ग्रंथ आत्म-प्रकाश कर सका। इसके लिए हम श्रीभगवान के चरण-कमलों में चिरकृतज्ञ हैं।

श्रीश्रीरामकृष्णोपदेशसाहस्री ग्रंथ के द्वारा सम्पूर्ण भारत में विभिन्न भाषा-भाषी लोग जिससे उपकृत हो सकें इसके लिए इस ग्रंथ के बंगला और हिन्दी इन दो भाषाओं में अर्थ-सहित प्रकाशित किया गया।

अति प्राचीन युग से मुनि-ऋषियों के द्वारा अनेक उपदेश तथा नीति-वचन संस्कृत में सुरक्षित हुए हैं। आर्य मुनि-ऋषियों के द्वारा संस्कृत भाषा में रचित धर्म-साहित्य, स्मृतिशास्त्र तथा अनेक अनुशासन वाक्य हिन्दू जाति

के धर्म-जीवन को आज भी नियंत्रित कर रहे हैं। वेद, उपनिषद, गीता, भागवत, पुराण, महाभारत से आरंभ करके पंचतन्त्र, हितोपदेश आदि के उपदेश केवल हिन्दू जाति को ही नहीं सभी मानव-सभ्यता तथा मानव-धर्म को प्रभावान्वित करके प्रगति के पथ में चालित कर रहे हैं। महाभारत के अनुशासन-पर्व, शान्ति-पर्व तथा मनुसंहिता आदि धर्म-ग्रंथों में वर्णित समाज-तंन्त्र, राजनीति, आपद्धर्म, दण्डनीति, वर्णाश्रमधर्म, धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष रूप चतुर्वर्ग-फलप्राप्ति के उपाय, ब्रह्मचर्य आदि चतुराश्रम-धर्म आदि तथा दूर अतीत में विभिन्न अवतार तथा साधु-संतों और महापुरुषों के आविर्भाव का प्रभाव सर्वविदित है। इस प्रकार के अनमोल रत्न तथा आदर्श के रहते हुए भी अल्पशिक्षित दक्षिणेश्वर के काली-मन्दिर के पुजारी ब्राह्मण श्रीरामकृष्ण के उपदेश संस्कृत भाषा में प्रकाशित करने का प्रयोजन अनुभूत हो रहा है। कारण यह है कि श्रीरामकृष्णदेव के उपदेश नये ढंग से मिलते हैं। वे उपदेश उनके अपनी अनुभूति से उत्पन्न तथा देशकालोपयोगी उपादानों से गठित हैं। उनके जीवन और वाणी के भीतर सभी स्तरों के मनुष्य भगवत्प्राप्ति के सरल मार्ग का संधान पाते हैं, सभी समस्याओं का समाधान, अग्रगति के संकेत तथा आशा का प्रकाश भी पाते हैं।

'श्रीश्रीरामकृष्णोपदेशसाहस्री' ग्रंथ को प्रकाशित करने के लिए ढाई साल पहले मुद्रणालय में भेजा गया था तथा साथ ही साथ 'विद्योदय' पत्रिका का अनुसंधान भी चलता रहा, विशेष रूप से कलकत्ते के बड़े-बड़े पुस्तकालयों तथा बड़ी-बड़ी दुकानों में जाँच-पड़ताल होती रही। श्रीभगवान की विशेष कृपा से १० महीने पहले कलकत्ते के जातीय ग्रंथागार में (Calcutta National Library) में 'विद्योदय' मासिक पत्रिका की १८९७ ई० की कुछ संख्यायें मिल गयी हैं। इस कठिन अनुसंधान के काम में (Prof. Soutir Kishore Chatterji, Department of Statistics, Calcutta University) सफल हुए हैं। 'विद्योदय' की इस खोज के लिए हम समग्र श्रीरामकृष्णभक्त-मण्डली तथा संस्कृत-प्रेमिक पाठक वर्ग श्रीशौटीर किशोर चट्टोपाध्याय महाशय के निकट चिरकृतज्ञ हैं।

उन्होंने 'विद्योदय' पत्रिका की (१) १८९६ ई० के आषाढ़ संख्या के १४४-४७ पृष्ठ, (२) १८९६ ई० की भाद्र संख्या के १९३-१९९ पृष्ठ में (३) १८९७ ई० की माघ संख्या के १११६ पृष्ठों में श्रीरामकृष्णोपदेशावलिः जैसे और जितने मिले हैं, जातीय ग्रंथागार के कर्तृपक्ष की आज्ञा से उसकी नकल कर लाये हैं। उन उपदेशों की भूमिका से लगता है कि १८९६ ई० की आषाढ़ संख्या में ही उपदेशावली पहले छापी गयी है। National Library में जो तीन संख्याएँ मिली हैं उनको ज्यों-का-त्यों श्रीश्रीरामकृष्णोपदेशसाहस्री ग्रंथ के परिशिष्ट में प्रकाशित किया गया है।

१८९६ ई० की आषाढ़ संख्या में संक्षिप्त भूमिका, श्लोकाकार में ग्रथित उपदेश और उसकी संस्कृत व्याख्या केवल ४ पृष्ठों में प्रकाशित हुई थी। १८९६ ई० की भाद्र संख्या में श्लोक और उसका अंग्रेजी अनुवाद ७ पृष्ठों में तथा १८९७ ई० की माघ संख्या में श्लोक और उसका अंग्रेजी अनुवाद ६ पृष्ठों में प्रकाशित हुआ था। 'विद्योदय' पत्रिका की परवर्ती किसी संख्या में श्रीरामकृष्णोपदेशावलिः प्रकाशित हुई थी या नहीं उसकी खोज आज तक नहीं मिली है।

पूज्यपाद महापुरुष महाराज की बातचीत से जाना जाता है कि श्रीमत्स्वामी रामकृष्णानन्दजी के मद्रास चले जाने के बाद वह काम बन्द हो गया था। पूजनीय रामकृष्णानन्द जी १८९७ ई० के मार्च महीने में मद्रास चले गये थे। इससे मालूम होता है कि उन्होंने अपनी अंतिम रचना को 'विद्योदय' पत्र में भेजा था। १८९७ ई० की माघ संख्या में वह प्रकाशित हुई थी।

उस पत्रिका के संबंध में श्रीशौटीर किशोर बाबू ने और भी कुछ विवरण का संग्रह किया था, उसे भी नीचे ज्यों का त्यों प्रदर्शित किया गया—

'विद्योदयः'

संस्कृत-मासिक-पत्रम्

The Sanskrit Critical Journal of the Oriental Nobility Institute edited by Pandit Hrisikesh Sastri, Bhatpara,

24 Parganas. (Printed by B. N. Nandi at the Valmiki Press, Calcutta). Annual subscription including Postage :

	Rs.	3.00
For India	Rs.	2.00
Single Copy		0-4-0

विद्योदय:, Vol. XXVI, April, 1897 No. IV पृष्ठ ११६-१२८ में विवेकानन्दस्वामिन: प्रत्यावृत्ति: नाम का एक निबन्ध छपा है। सम्भवत: वह सम्पादकीय लेख है। Calcutta National Library में 'विद्योदय' की संख्या 1893-Vol. 22, 1894. Vol. 23, 1895-Vol. 24 मिले हैं, किन्तु उसमें श्रीरामकृष्णोपदेशावलि: या उस प्रकार का कोई निबन्ध नहीं है। 'विद्योदय' की अन्य कोई संख्या भी Calcutta National Library में नहीं मिली है।

हमने परम श्रद्धा के साथ इस ग्रन्थ को पूज्यपाद स्वामी रामकृष्णानन्द महाराज की पूण्य स्मृति के उद्देश्य में अर्पित किया। इस ग्रन्थ की सारी आमदनी बारासत रामकृष्णशिवानन्द आश्रम के श्रीश्रीठाकुर की सेवा में अर्पित होगी।

। इति ।

विनीत उपस्थापक

स्वामी अपूर्वानन्द

सम्पादकीय

ग्रंथ-निर्माण और उसके सम्पादन की परम्परा बहुत पुरानी है, भले ही उसके मुद्रण और वर्तमान प्रकाशन की परम्परा उससे पीछे की हो। इसलिए विधि-विधान के अनुसार काल के गाल में अनेकानेक ग्रंथों के समाते रहने पर भी ग्रंथों का बाहुल्य स्वाभाविक है। परन्तु उन ग्रंथों के अन्दर ऐसे ग्रंथों की संख्या अधिक नहीं, विरली ही होती है जो कि "पावक" हों अर्थात् पावन भी हों। पावक (अग्नि) जहाँ प्रकाश्य का प्रकाशन करता है वहाँ वह उस प्रकाशन के साथ प्रकाश्य एवं तत्सम्बद्धों को पवित्र भी करता है तथा दोषमुक्त करते हुए उसमें अभ्युदयकारी गुणों का आधान भी करता है—यह प्रत्यक्ष-सिद्ध है।

किसी भी ग्रंथ में यह महत्ता इसलिए आती है कि उसका प्रतिपाद्य पुण्यमय होता है। इसीलिए विख्यात दार्शनिक महाकवि श्रीहर्ष ने अपने अनुपम महाकाव्य 'नैषधीय चरित' में पुण्यमय क्षितिरक्षी नल के सम्बन्ध में पूर्ण आश्वस्त भाव से यह कहा है कि :—

(१)

निपीय यस्य क्षितिरक्षिणः कथा-
स्तथाऽऽद्रियन्ते न बुधाः सुधामपि।
नलः सितच्छत्रित - कीर्तिमण्डलः
स राशिरासीन्महसां महोज्ज्वलः॥

(२)

पवित्रमत्राऽऽतनुत जगद्युगे
स्मृता रसक्षालनयेव यत्कथा।
कथं न सा मद्गिरमाविलामपि
स्वसेविनीमेव पवित्रयिष्यति॥

क्षितिरक्षी अर्थात् समाज का सच्चा रक्षक केवल लौकिक शासक ही नहीं होता है, किन्तु वह अलौकिक शासक होता है, जिसके इङ्गित के बिना पत्ते तक नहीं हिलते। परमेश्वर तथा उसके वे सारे अंशावतार भी क्षितिरक्षी होते हैं, जो जगत् के कल्याणार्थ लीला-विग्रह धारण कर अपने आचरणों या अपने उपदेशों के द्वारा मानव-समाज को अभ्युदय और निःश्रेयस की ओर अग्रसर किया करते हैं। परमहंस देव श्रीरामकृष्ण देव के दिव्य जन्म तथा दिव्य कर्मों की ओर ध्यान देने पर उन्हें एक विशिष्ट अंशावतार मानना ही होगा, जैसा कि भगवान् कृष्ण ने श्रीमद्भगवद्गीता में कहा है :—

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसंभवम्॥

यहाँ विहित इस विचार के अनुसार प्रकृत श्रीरामकृष्णोपदेशसाहस्री को "ज्ञापक" होने के साथ "पावन" भी मानना ही होगा। अतः इस ग्रंथ के लेखक, अनुवादक, मूलभूत-बंगला ग्रंथों से उपादान सङ्कलनकर्त्ता तथा असंख्य अध्येता, यहाँ तक कि मेरे जैसा सम्पादक सभी इसके साथ सम्बद्ध होने के कारण पुनीत समझे जायेंगे—इसमें संदेह नहीं।

इस ग्रंथ का नाम है "श्रीरामकृष्णोपदेशसाहस्री" जो कि सर्वथा सार्थक है और विषय-वस्तु के अनुरूप है, क्योंकि परमहंसदेव भगवान् श्रीरामकृष्णदेव के द्वारा समय-समय पर दिये गये हजारों उपदेशों का इसमें प्रामाणिक संकलन है। परमहंस देव ने सारे उपदेश बंगला भाषा में ही दिये थे, अतः उनके उपदेशों का विस्तृत संग्रह तथा प्रकाशन बंगला भाषा में ही हुआ था। उसी से स्वामी अपूर्वानन्द जी ने जिन उपदेश-रत्नों को चुनकर ग्रंथकार को दिया; वे ही ग्रन्थकर्त्ता के द्वारा इस संस्कृत ग्रंथ की रचना के लिए उपादान रूप में अर्थात् निदान रूप में अपनाये गये।

संस्कृत में श्रीरामकृष्णोपदेशसाहस्री ग्रंथ के रचयिता स्वर्णपदक-प्राप्त प्रो० टी० एन० भण्डारकर, साहित्याचार्य और हिन्दी-अनुवादक हैं पं० गोपाल चन्द्र चक्रवर्ती वेदान्तशास्त्री।

ग्रंथों के "साहस्री" "उपदेशसाहस्री" आदि नामकरण की परम्परा नई नहीं पुरानी है। जैनदर्शन ग्रंथों के अन्दर आनेवाले "अष्टसाहस्री" और वेदान्तदर्शन ग्रंथों के अन्दर आनेवाले जगद्गुरु आद्य-शंकराचार्य-रचित "उपदेश साहस्री" का वैसा नामकरण इसका ज्वलन्त उदाहरण है। तदनुसार ही प्रस्तुत संस्कृत ग्रंथ का नाम "श्रीरामकृष्णोपदेशसाहस्री" रखा गया प्रतीत होता है। स्वयं मैंने एक अपने संस्कृत ग्रंथ को "ध्वनि-साहस्री" कहा है।

परमहंस देव श्रीरामकृष्ण देव जी के उपदेश कितने हृदयग्राही हैं और सोदाहरण होने के कारण कितने सत्तर्कपूर्ण हैं इसका अनुभव पाठक इसके अध्ययन से स्वयं प्राप्त करेंगे। अतः यहाँ उसका समावेश कर इस लेख का कलेवर नहीं बढ़ाया जा रहा है।

मूल श्रीरामकृष्णोपदेशसाहस्री संस्कृत ग्रंथ और उसके हिन्दी अनुवाद दोनों की शैली सुन्दर है, प्रशस्त और प्रांजल है। अतः सम्पादन में मुझे सरलता हुई है।

कोई भी ग्रंथ बड़े से बड़ा क्यों न हो, है वह एक महाकाव्य ही है और तदनुसार ही उसके सारांशभूत तात्पर्यार्थ का निर्णय प्राप्त होता है। इसलिए इस श्रीरामकृष्णोपदेशसाहस्री का सारभूत, सरल और संक्षिप्त तात्पर्यार्थ यह ज्ञातव्य है कि परमशान्ति भगवत्प्राप्ति से ही संभव है, अन्य उपायों से नहीं और वह भगवत्प्राप्ति विभिन्न धर्मानुसारी उन सदुपदेशों के वास्तविक ग्रहण से ही संभव है, जो परस्पर में विरोधी न हों, सामञ्जस्यात्मक हों।

परमहंस देव श्रीरामकृष्ण साक्षर मात्र थे, अधिक पढ़े-लिखे नहीं थे। वे शास्त्र-व्यवसायी, पंडित एवं तदनुरूप वाग्मी भी नहीं थे। उन्होंने अपने जीवन में विभिन्न धार्मिक साधनाओं को अपनाते हुए जिस चरम सत्य को प्राप्त किया था उसी का उपदेश वे जनकल्याण के लिए विमुक्त भाव से दिया करते थे। तदनुसार यह स्वाभाविक है कि यह श्रीरामकृष्णोपदेशसाहस्री भी उस चरम सत्य का ही प्रतिपादक और सज्जनों को उस चरम सत्य की ओर अग्रसर कर उत्कृष्ट प्रयोजनवान् बने।

इस श्रीरामकृष्णोपदेशसाहस्री को उपनिषदों का प्रतिबिम्ब भली-भाँति कहा जा सकता है। क्योंकि यहाँ भी परमहंस देव के दिव्य उपदेश उसी प्रकार जगमगा रहे हैं जिस प्रकार उपनिषदों में आर्ष उपदेश।

अन्त में, पाठकों से यह निवेदन कर देना आवश्यक समझता हूँ कि मुद्रण-दोष से कहीं रह जानेवाली अशुद्धि को शुद्ध कर लें, क्योंकि अनेक सावधानता रखने पर भी विरल अशुद्धि रह सकती है। इति।

आनन्द झा
प्रधान
प्राच्य संस्कृत विभाग
लखनऊ विश्वविद्यालय

श्रीश्रीरामकृष्णसंघस्तोत्रम् *

सर्वधर्मस्थापकस्त्वं सर्वधर्मस्वरूपकः ।
आचार्याणां महाचार्यो रामकृष्णाय ते नमः ॥ १ ॥
यथाग्नेर्दाहिकाशक्ती रामकृष्णे स्थिता हि या ।
सर्वविद्यास्वरूपां तां सारदां प्रणमाम्यहम् ॥ २ ॥
परतत्त्वे सदा लीनो रामकृष्णसमाज्ञया ।
यो धर्मस्थापनापरो वीरेशं तं नमाम्यहम् ॥ ३ ॥

हे रामकृष्ण, आप सर्वधर्म के संस्थापक, सर्वधर्मस्वरूप तथा आचार्यों में महाचार्य हैं, मैं आपको प्रणाम करता हूँ ॥ १ ॥

अग्नि की दाहिका शक्ति की तरह जो सदा श्रीरामकृष्ण में अवस्थान करती हैं तथा जो सर्वविद्या-स्वरूपिणी हैं, उन सारदादेवी को मैं प्रणाम करता हूँ ॥ २ ॥

जो श्रीरामकृष्ण की आज्ञा से सदा परम तत्त्व में अवलीन रहते थे और जो सदा धर्म-स्थापन-परायण थे, उन वीरेश (स्वामी विवेकानन्द) को मैं नमस्कार करता हूँ ॥ ३ ॥

---

* ब्रह्मचारी ज्ञान के द्वारा प्रकाशित रामकृष्ण-विवेकानन्द-प्रचार "अञ्जलि" से गृहीत। —प्रकाशक।

कालिन्दीफुल्लकमले माधवेन क्रीड़ारतः ।
ब्रह्मानन्द ! नमस्तुभ्यं सद्गुरो लोकनायक ! ॥ ४ ॥
योगानन्दः प्रेमानन्दश्चान्ये वै ये च पार्श्वदाः ।
रामकृष्णगतप्राणाः सर्वान् तान् प्रणमाम्यहम् ॥ ५ ॥

इति श्रीस्वामिसारदानन्द-विरचितं श्रीश्रीरामकृष्णसंघस्तोत्रम् ॥

यमुना के प्रस्फुटित कमलवन में माधव के साथ क्रीड़ापरायण हे सद्गुरु, हे लोकनायक ब्रह्मानन्द, तुम्हें नमस्कार करता हूँ ॥ ४ ॥

रामकृष्णगतप्राण योगानन्द, प्रेमानन्द आदि अन्यान्य जो पार्षद हैं उन सबको मैं प्रणाम करता हूँ ॥ ५ ॥

स्वामि-सारदानन्द-विरचित
श्रीश्रीरामकृष्णसंघ-स्तोत्र
समाप्त ।

श्रीरामकृष्णोपदेशसाहस्री

अथ "साकारो निराकारश्च" नाम प्रथमोध्यायः

श्रीकृष्णो मनुजाकृतिः क्वाचिदसौ साकारतामाश्रये-
न्नानारूपधरो भवेत्क्वचिदयं भक्तस्य दृग्गोचरः ।
सच्चित्सौख्यमयोऽप्यसौ यदि निराकारोऽस्ति सर्वं तथा
'साकारोऽपि निराकृतिः' श्रुतिरिदं ब्रूते 'गुणी निर्गुणः' ॥ १ ॥

भक्त्या भवेत्स साकारो ज्ञानेन च निराकृतिः ।
शैत्येऽम्भो हिमतामेति हिमं चर्केण नीरताम् ॥ २ ॥

साकार और निराकार नामक प्रथम अध्याय

भगवान श्रीकृष्ण कभी मनुष्य के रूप में साकार होकर आते हैं, अनेक रूप धारण कर भक्त को दर्शन देते हैं, कभी सच्चिदानन्द रूप से निराकार होकर ही रहते हैं, उनके यह साकार और निराकार दोनों भाव ही सत्य हैं। क्योंकि वेद में उनके साकार और निराकार, सगुण और निर्गुण दोनों भावों का ही वर्णन है ॥ १ ॥

भक्ति से भगवान साकार रूप धारण करते हैं और ज्ञानी के लिए वे निराकार ही रहते हैं। जिस प्रकार ठंड के प्रभाव से जल जम कर बर्फ बन जाता है। उसके बाद वह बर्फ पुनः सूर्य-किरणों से गलकर जल बन जाता है ॥ २ ॥

भक्तिशैत्याद्धिमीभूतः सच्चिदानन्दसागरः ।
साकारत्वमिदं तस्य नानारूपधरो भवेत् ॥ ३ ॥

पक्वापक्वौ निराकारौ पक्वे सर्वोच्चभावनाः ।
पक्वः साकारतः प्राप्योऽपक्वोऽज्ञानतमोमयः ॥ ४ ॥

नानारूपधरस्यापि हिमस्यान्तर्बहिर्जलम् ।
जलमाकारशून्यं तु समे साकृत्यनाकृती ॥ ५ ॥

नास्ति रूपादिकं किञ्चिद् वेदान्तस्य विचारतः ।
"ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या" नामरूपात्मकं तथा ॥ ६ ॥

ईशं करोति साकारं 'भक्तोऽहं'मिति भावना ।
भक्तस्याहं तथा किञ्चित् दूरं स्थापयतीश्वरम् ॥ ७ ॥

सच्चिदानन्दरूप महासागर भक्ति की शीतलता से जमकर बरफ हो जाता है, इसी प्रकार भगवान भी विविध रूपों से स्थूल साकार रूप बन जाते हैं ॥ ३ ॥

निराकार भावना भी दो प्रकार की हैं—पक्की और कच्ची, पक्की निराकार भावना ही श्रेष्ठ है और वह साकार भावना से ही मिलती है। कच्ची भावना अज्ञान रूप अन्धकार से पूर्ण है ॥ ४ ॥

बर्फ के विविध आकार रहने पर भी उसके भीतर सर्वत्र ही जल है। किन्तु जल का कोई आकार नहीं है। ज्ञानी की दृष्टि में साकार और निराकार दोनों ही समान हैं ॥ ५ ॥

वेदान्त के विचार से ब्रह्म के नाम और रूप कुछ भी नहीं है। ब्रह्म ही सत्य वस्तु है और नामरूपात्मक जगत् मिथ्या है ॥ ६ ॥

"मैं भक्त हूँ" ऐसी भावना ईश्वर को साकार कर देती है, किन्तु भक्त का यह अहं-भाव ईश्वर को भक्त से कुछ दूर रखता है ॥ ७ ॥

दूरादेव हरिन्नीलं कृष्णं वा दीर्घिकाजलम् ।
हस्तेनोद्धृत्य दृष्टं चेन्न रूपं तत्स्वरूपतः ॥ ८ ॥
नीलं दूरान्नभो दृश्यमरूपं तु समीपतः ।
एवं दूरात्स साकारो निराकारः समीपतः ॥ ९ ॥
निर्गुणं ब्रह्म वेदान्ते न वाच्यं तत्स्वरूपतः ।
सत्ये त्वयि जगत्सत्यं सत्यं व्यक्तित्वमीश्वरे ॥१०॥
"अहमेकं पृथग् वस्तु जगन्मत्तः पृथक् तथा ।"
भक्तो ब्रूते तदर्थं स 'साकारो' भवति प्रभुः ॥११॥
"ज्ञानी ब्रूते जगन्मिथ्या स्वप्नतुल्यमहं तथा ।"
तत्कृतेऽयं निराकारो नामरूप-विवर्जितः ॥१२॥

दीर्घ तालाब का जल दूर से कभी हरा, नीला या काला दिखाई पड़ता है, किन्तु वह जल हाथ में उठाने पर उसमें कोई भी रंग नहीं दिखाई पड़ता ॥ ८ ॥

दूर से आकाश नीला दिखाई पड़ता है, किन्तु उसके समीप जाने पर कुछ भी रंग नहीं दिखाई पड़ता । उसी प्रकार दूर से ईश्वर साकार प्रतीत होने पर भी निकट जाने पर वह निराकार हो जाते हैं (अर्थात् तदात्मता का ज्ञान होता है) ॥ ९ ॥

वेदान्त में ब्रह्म स्वरूप से निर्गुण तथा अनिर्वचनीय हैं । तुम भक्त रूप से सत्य हो तो जगत भी सत्य है, इस कारण ईश्वर का व्यक्तित्व अर्थात् साकार रूप भी सत्य है ॥ १० ॥

जब भक्त सोचते हैं कि मैं पृथक हूँ और संसार मुझसे पृथक है, तब भक्त के लिए ईश्वर भी साकार हो जाते हैं ॥ ११ ॥

ज्ञानी कहते हैं—"जगत मिथ्या है और मेरा अहं-भाव भी स्वप्न के समान मिथ्या है ।" इस प्रकार ज्ञानी के लिए ईश्वर नाम-रूप-रहित निराकार हैं ॥ १२ ॥

'इति मानं कथं शक्यमवाच्यस्याथ वस्तुनः ।
वदन्ति नेति नेतीति नित्यं वेदान्तवादिनः ॥१३॥
अतिदुष्करमस्माकं निराकारस्य साधनम् ।
अन्तर्बहिः कष्टसाध्यस्त्यागो यत्रार्थकामयोः ॥१४॥
ज्ञानयोगेन सम्बद्धा निराकारस्य साधना ।
स्वप्नवत् सर्वमित्युक्तेर्वृथा साकारभावना ॥१५॥
साकारसाधनं श्रेयो भक्तिं प्राप्य सुदुर्लभाम् ।
सर्वं मिथ्येति चिन्तायां हानिः स्यादुभयोरपि ॥१६॥
अन्तस्तत्त्वमसीत्युक्त्या बहिरोंतत्सदित्यतः ।
अन्तर्बहिः स एवास्ते माययानेकरूपता ॥१७॥

जो वाच्य अर्थ नहीं हैं उनके लिए "वे ऐसे या वैसे हैं" ऐसा कैसे कहा जा सकता है ? इसी कारण वेदान्तवादी सदा ही नेति नेति—न + इति, न + इति—ऐसे भी नहीं है और वैसे भी नहीं है—ऐसा वर्णन करते हैं ॥ १३ ॥

हम लोगों के लिए निराकार की साधना चाहे अन्तर्दृष्टि से हो या बाहरी दृष्टि से, अत्यन्त कठिन है। क्योंकि इसमें धन तथा काम्य वस्तुओं का पूर्णतया परित्याग करना पड़ता है ॥ १४ ॥

निराकार की साधना ज्ञानयोगी के लिए उत्तम है। इस संसार के सारे पदार्थ ही स्वप्न के समान मिथ्या हैं। यदि भक्त ऐसी बात कहें तो उनके लिए साकार की उपासना असम्भव हो जाती है ॥ १५ ॥

अत्यन्त दुर्लभ भक्ति प्राप्त होने पर ही साकार की साधना मंगलजनक होती है। सभी पदार्थ ही मिथ्या हैं, ऐसी बात की चिन्ता करने से साकार और निराकार दोनों प्रकार की साधनाओं को हानि पहुँचती है ॥ १६ ॥

अन्तर में तत्त्वमसि की भावना और बाहर ओं तत् सत् कहने से भीतर बाहर विराजमान ब्रह्म ही प्रकाशित होते हैं। अनेक प्रकार के रूप केवल माया का विलास मात्र है ॥ १७ ॥

ईशाचिन्तापरा नित्यं जानन्त्येनं स्वरूपतः।
सगुणो निर्गुणो वापि नानारूपधरोऽथ वा ॥१८॥
अवर्णः सरटो नैकवर्णो वा वृक्षमाश्रिताः।
जना जानन्तीतरे तु केवलं वादतत्परा ॥१९॥
नानारूपविहीनत्वमीश्वरस्य समीपतः।
स एव रूपहीनोऽपि साकारो दूरतो भवेत् ॥२०॥
अरूपः स सरूपोऽपि सगुणोऽपि स निर्गुणः।
शक्तिर्ब्रह्म ब्रह्मशक्तिरुभयोरप्यभिन्नता ॥२१॥
स एव सच्चिदानन्दः सच्चित्सुखमयी च सः।
श्यामैव प्रकृतिः ख्याता पुरुषः सैव शाश्वतः ॥२२॥

निरन्तर भगवान की चिन्ता करने से उनका यथार्थ स्वरूप प्रकाशित होता है। वे सगुण, निर्गुण अथवा विभिन्न रूपों से प्रकाशमान हैं ॥ १८ ॥

पेड़ में जो छिपकली रहती है, उसका रंग कैसा है उसे उस पेड़ के नीचे रहने वाले मनुष्य ही जान सकते हैं, दूसरे लोग दूर से उसके रंग के बारे में वृथा ही तर्क-वितर्क करते हैं ॥ १९ ॥

निकट से अर्थात् ज्ञानदृष्टि से देखने पर ब्रह्म का कोई भी रूप नहीं दिखाई पड़ता। यथार्थ में रूपरहित होने पर भी दूर से अर्थात् भक्तिभाव से देखने पर वे साकार ही प्रतीत होते हैं ॥ २० ॥

भगवान रूपरहित होने पर भी रूपवान और सगुण होने पर भी निर्गुण हैं। शक्तिरूपिणी माया ही ब्रह्म हैं और ब्रह्म ही माया है। शक्ति और शक्तिमान में कोई भेद नहीं है ॥ २१ ॥

वे ही सच्चिदानन्द ब्रह्म हैं और सच्चिदानन्दमयी शक्ति भी वे ही हैं। वे श्यामरूपिणी प्रकृति और वे ही शाश्वत पुरुष हैं ॥ २२ ॥

दण्डी यति कर्तुमैच्छज्जगन्नाथस्य दर्शनम् ।
सन्देहोऽभूदस्य 'नाथः साकारो वा निराकृतिः' ॥२३॥
हस्तस्थं भ्रामयन् दण्डमीशमूर्तावितस्ततः ।
अदृश्यां मूर्तिमालोक्य 'निराकारोऽयम'ब्रवीत् ॥२४॥
पुनः स चालयन् दण्डं विग्रहस्पर्शमन्वभूत् ।
ततश्च निश्चितं तेन साकारोऽयं जगत्प्रभुः ॥२५॥
अवंश्याकारवंशो हि नालं रागस्य सृष्टये ।
वाद्यभावमवाप्तोऽसौ विविधान् सृजति स्वरान् ॥२६॥
निर्गुणं केवलं ब्रह्म भावशून्यं निराकृतिः ।
शान्त-वात्सल्य-सख्यादि-भावाः साकारवादिनाम् ॥२७॥

कोई दण्डी संन्यासी जगन्नाथ जी का दर्शन करने गये थे। उनके मन में सन्देह जगा कि भगवान साकार हैं या निराकार ॥ २३ ॥

वे संन्यासी अपने हाथ के दण्ड को भगवान की मूर्ति की ओर इधर-उधर घुमाने लगे, तब उन्होंने देखा कि वहाँ कोई मूर्ति नहीं है। तब उन्होंने कहा कि ईश्वर निराकार हैं ॥ २४ ॥

फिर वे दण्डिस्वामी अपने दण्ड को घुमाने लगे, जब वे जान गये कि उनका दण्ड मूर्ति का स्पर्श कर रहा है, तब वे निश्चित रूप से समझ गये कि भगवान साकार हैं ॥ २५ ॥

बाँस का एक टुकड़ा बाँसुरी तैयार होने के पहले कोई राग उत्पन्न नहीं कर सकता, किन्तु जब उससे बाँसुरी तैयार हो जाती है, तब वह अनेक प्रकार के सुर उत्पन्न कर सकता है ॥ २६ ॥

ब्रह्म यथार्थ में निर्गुण हैं, उनमें उपाधि या कोई भाव नहीं है तथा वह निराकार हैं, किन्तु साकार-वादियों के लिए वे शान्त, वात्सल्य तथा सख्य आदि भावमय हो जाते हैं ॥ २७ ॥

ध्याने साक्षान्मया दृष्टा श्यामा मातृस्वरूपिणी ।
वक्तुं न शक्यते कस्मिन् रूपे सा प्रकटीभवेत् ।।२८।।
ईश्वरे विद्यते रूपं विश्वासः क्रियतामिह ।
यस्मिन् रूपे भवेत्प्रेम ध्येयं तच्छ्रद्धया सह ।।२९।।
योग्यतामनुसृत्यायमात्मानं साधकान् प्रति ।
नानाभावैस्तथा नानारूपैः स्वं दर्शयेद्धरिः ।।३०।।
यथाभूद्रञ्जकः कश्चिदेकस्मादेव भाजनात् ।
अरञ्जयद्यो वासांसि लोकरुच्यनुसारतः ।।३१।।
रक्तं पीतं च नीलं च चित्रं वैच्छद्यथैव यः ।
रहस्यज्ञोऽब्रवीत् किन्तु रञ्जय त्वं यदिच्छसि ।।३२।।

ध्यान करते समय मैंने इस श्यामा शक्ति को माता के रूप में देखा था । किस समय वे किस रूप में आविर्भूत होंगी, उसे मैं नहीं बता सकता ।।२८।।

ईश्वर के रूप हैं, इस बात पर विश्वास करो, जिस रूप में तुम्हें श्रद्धा हो, उसी रूप का ध्यान करना उचित है ।। २९ ।।

भक्तों की प्रार्थना और योग्यता के अनुसार श्रीभगवान विविध भावों तथा विविध रूपों में दर्शन देते हैं ।। ३० ।।

कोई रंग करने वाला एक ही पात्र से विभिन्न व्यक्तियों की रुचि के अनुसार वस्त्रों में विभिन्न रंग लगा देता है ।। ३१ ।।

जो मनुष्य जैसा रंग चाहता है, उसके इच्छानुसार लाल, पीला, नीला या अन्य अनेक रंगों से वह वस्त्रों में रंग लगा देता है, किन्तु रंग का रहस्य जानने वाला मनुष्य कहता है—'तुम जिस रंग में चाहो, उसी रंग में मेरे वस्त्रों को रंजित कर दो' ।। ३२ ।।

अखिलं चेदिमं लोकं जगद्धात्री न धारयेत् ।
आधाररहितो नश्येद् रूपं शक्तेरतः स्थितम् ।।३३।।
दुर्निग्रहो मनोदन्ती वशमापद्यते यदा ।
साकारायाः जगद्धात्र्या उदयो हृदये तदा ।।३४।।
स्फुटं चित्रं पितुर्दृष्ट्वा यथा स्यात्पितृभावना ।
प्रतिमायास्तथा ध्याने साक्षाद्रूपोदयो भवेत् ।।३५।।
जलराशितले यद्वद् बुद्बुदानामुपक्रमः ।
चिदाकाशतले तद्वद् रूपोद्भूतिर्विलोक्यते ।।३६।।
परेशस्यावतारोपि रूपं स्यादेकमीदृशम् ।
आद्यशक्तेरिदं सर्वं लीलाकैवल्यमुच्यते ।।३७।।

जगद्धात्री महामाया यदि इस ब्रह्मांड को धारण कर नहीं रखती तो सारा विश्व आधार-रहित होकर नष्ट हो जाता, इस कारण शक्ति साकार है यह बात माननी पड़ती है ।। ३३ ।।

मन रूप हाथी को संयत रखना बहुत कठिन है, तो भी जब वह हाथी वश में आ जाता है, तब आद्या शक्ति जगद्धात्री साकार रूप में भक्त के हृदय के भीतर अवश्य ही उदित होती हैं ।। ३४ ।।

जैसे पिता की फोटो देखने से मन में उनकी चिन्ता उदित होती है, उसी प्रकार किसी प्रतिमा का ध्यान करने से उस देवता का रूप प्रत्यक्ष देखा जाता है ।। ३५ ।।

जिस प्रकार जल के ऊपर अनेक बुलबुले होते हैं, उसी प्रकार चिदाकाश में देवताओं के अनेक रूप दिखाई पड़ते हैं ।। ३६ ।।

भगवान के अवतार भी इसी प्रकार उनके एक-एक रूप हैं । ये सब उन आद्या शक्ति की ही लीला मात्र हैं ।। ३७ ।।

मृत्तिकाप्रतिमापूजा शक्तेः पूजनमिष्यते।
केवलं प्रतिमा नेयं साक्षादाहूयते प्रभुः ॥३८॥

पूजकस्य परा भक्तिः प्रतिमाचारुता तथा।
स्वामिनः परमा श्रद्धाऽपेक्ष्या साकारपूजने ॥३९॥

तेन पूजादिकं प्रोक्तं येनेदं निर्मितं जगत्।
अधिकारिप्रभेदेन यद्वदन्नं यथारुचि ॥४०॥

साकारता वाथ निराकृतित्वं
न निश्चयश्चेद्वद यादृशोऽसि।
मयि प्रभो! त्वं भव सानुकम्पो
रूपं न जाने शरणागतोऽस्मि ॥४१॥

मृत्तिका-निर्मित प्रतिमा की पूजा उन शक्ति की ही पूजा रूप से स्वीकृत है, यह केवल प्रतिमा की ही पूजा नहीं है, बल्कि साक्षात् श्रीप्रभु की ही पुजा है। क्योंकि उन्हीं का आवाहन होता है॥ ३८॥

पूजक की हार्दिक भक्ति, प्रतिमा की सुन्दरता और गृहपति की आन्तरिक श्रद्धा—ये तीन ही साकार पूजा में आवश्यक हैं॥ ३९॥

जिस भगवान ने इस संसार को बनाया है, उन्होंने ही पूजा आदि का विधान भी किया है। जिस प्रकार विभिन्न मनुष्यों की विभिन्न रुचियों के अनुसार उन्होंने नाना प्रकार के अन्न आदि उत्पन्न किये हैं, उसी प्रकार अधिकारी-भेद के अनुसार पूजा भी भिन्न-भिन्न रूपों से उन्होंने ही विहित की है॥ ४०॥

भगवान साकार हैं या निराकार इसका विवेचन यदि तुम न कर सको तो कहो कि हे भगवन्! तुम जिस रूप में हो, उसी रूप में मेरे प्रति कृपा करो। मैं तुम्हारा रूप नहीं जानता। मैं तुम्हारा ही शरणागत हूँ॥ ४१॥

तोषो महान् साकृतिदर्शनानां
क्रमेण ते यान्ति निराकृतिं च।
निराकृतिं केवलमाश्रयन्तो
बाह्यं न जानन्ति न चान्तरं च ॥४२॥

इति श्रीरामकृष्णोपदेशसाहस्र्यां "साकारो निराकारश्च" नाम प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

भगवान का दर्शन जो लोग साकार रूप से करते हैं, उनके मन में विशेष आनन्द होता है और वे साकार से निराकार में पहुँच सकते हैं, किन्तु जो लोग पहले से ही निराकार का आश्रय लेते हैं, वे भगवान का यथार्थ स्वरूप तथा बाहरी रूप नहीं जान सकते ॥ ४२ ॥

साकार-निराकार-नामक प्रथम अध्याय समाप्त ।

श्रीरामकृष्णोपदेशसाहस्री

शास्त्रं पाण्डित्यं च नाम द्वितीयोऽध्यायः

विवेकवैराग्यशमादिहीनैः प्रयोजनं केवलपण्डितैः किम् ?
यस्येशभक्तिर्न सतोऽसतो वा ज्ञानं स वै पण्डितम्मन्य एव ॥१॥

संसारासक्तचित्तानामर्थकामानुसारिणाम् ।
अपि कण्ठस्थशास्त्राणां जीवनं तु विडम्बना ॥ २ ॥

मुखेन दीर्घं वक्तृत्वं दृष्टिः काञ्चनभोगयोः ।
गृध्रो नभसि यात्युच्चैः कुणपासक्तलोचनः ॥ ३ ॥

शास्त्र और पांडित्य नामक द्वितीय अध्याय

जिन लोगों में विवेक, वैराग्य, शम, दम आदि साधन नहीं हैं, ऐसे पण्डितों से क्या प्रयोजन है ? जिसके हृदय में ईश्वर के प्रति भक्ति नहीं है और सत् तथा असत् का भेदज्ञान भी नहीं है, ऐसा व्यक्ति स्वयं ही अपने को पण्डित समझता है ॥ १ ॥

जो लोग सांसारिक विषयों में आसक्त हैं और जो लोग धन तथा काम्यवस्तुओं के लाभ को ही परम पुरुषार्थ समझते हैं, समस्त शास्त्र कंठस्थ रहने पर भी ऐसे पंडितों का जीवन व्यर्थ है ॥ २ ॥

गिद्ध बहुत ऊँचे आकाश में उड़ते हैं, किन्तु उनकी दृष्टि मृत पशु पर ही रहती है, उसी प्रकार जो शास्त्रों का श्लोक उद्धृत कर केवल लम्बे भाषण देते हैं, पंडित होने पर भी गिद्ध की तरह उनकी दृष्टि सांसारिक भोग-विलास की ओर ही रहती है ॥ ३ ॥

'नास्ति विद्यामतिर्ज्ञानं शास्त्रस्याध्ययनं विना ।
मन्यन्ते केचिदित्यं यन्न तत् सम्यग् विभाति मे ॥ ४ ॥
पठनाच्छ्रवणं श्रेयः श्रवणाद्दर्शनं वरम् ।
'काशी-पाठश्रुतीक्षासु वरं स्यादुत्तरोत्तरम् ॥ ५ ॥
शास्त्रानुशीलनादीशास्तित्वबुद्धिः प्रजायते ।
परं तद्दर्शनानन्दः स्वयं मज्जनतो भवेत् ॥ ६ ॥
पठ्यन्तां शतशो ग्रन्थाः श्लोकाश्चापि सहस्रशः ।
ईशलाभो विना न स्याद् व्याकुलीभूयमज्जनात् ॥ ७ ॥
अतः केवलपाण्डित्यं स्याल्लोकाकृष्टिकारणम् ।
परं तेनेशलाभो न कदाजिच्छक्यसम्भवः ॥ ८ ॥

कुछ लोग कहते हैं कि शास्त्रों का अध्ययन न करने से विद्या, बुद्धि, ज्ञान कुछ भी नहीं मिलता, किन्तु मेरे विचार से यह बात उचित नहीं है ॥ ४ ॥

किसी के सम्बन्ध में पढ़ने की अपेक्षा सुनना अच्छा है, सुनने से भी प्रत्यक्ष दर्शन और भी अच्छा है । काशी के सम्बन्ध में पठन, श्रवण और प्रत्यक्ष दर्शन क्रमशः अच्छा है ॥ ५ ॥

शास्त्रों का अध्ययन ईश्वर के अस्तित्व के विषय में ज्ञान लाभ का सहायक है, किन्तु भगवद्दर्शन का आनन्द स्वयं साधना-समुद्र में डूबने से ही मिलता है ॥ ६ ॥

सैकड़ों ग्रन्थों का पाठ और हजारों श्लोकों को कण्ठस्थ क्यों न किया जाय, किन्तु व्याकुल होकर भगवान की चिन्ता में मग्न हुए बिना वे नहीं मिलते ॥ ७ ॥

इसलिए मनुष्यों को केवल आकृष्ट करने के लिए पाण्डित्य का प्रयोजन हो सकता है, किन्तु उससे ईश्वर-लाभ कभी सम्भव नहीं है ॥ ८ ॥

शास्त्रग्रन्थस्य चाभ्यासो निष्फलस्तत्कृपां विना ।
व्याकुलीभूय चेष्टायां दर्शनालापसम्भवः ॥ ९ ॥
ईश्वरप्राप्तयेऽध्वानः सन्ति शास्त्रेस्वनेकशः ।
मार्गज्ञाने तु किं शास्त्रैः साक्षात्कारपरस्य ते ॥१०॥
शास्त्रं नाम बुधाः प्राहुः सितासैकतमिश्रणम् ।
सिकताभ्यासितायास्तु दुष्करास्ति पृथक्कृतिः ॥११॥
गुरुसाधुमुखादादौ शास्त्रमर्म श्रुतं यदि ।
ईशस्य सुलभा प्राप्तिर्ग्रन्थैः किं ते प्रयोजनम् ॥१२॥
पत्रे लिखितमासीद्यन्मिष्टान्नं किंचिदाहरेः ।
पठितं चेद् वृथा पत्रं मिष्टान्नेन प्रयोजनम् ॥१३॥

ईश्वर के अनुग्रह के बिना शास्त्रों का अध्ययन निष्फल है। व्याकुल होकर प्रयत्न करने से ईश्वर का दर्शन तथा उनसे वार्तालाप करना सम्भव है ॥ ९ ॥

शास्त्रों में ईश्वरप्राप्ति के अनेक मार्गों की बात है। उन मार्गों का ज्ञान तथा ईश्वर दर्शन होने से शास्त्रों का क्या प्रयोजन है ? ॥ १० ॥

ज्ञानी लोग कहते हैं कि शास्त्रों में बालू और चीनी का सम्मिश्रण है, किन्तु बालू से चीनी को पृथक् करना कठिन है ॥ ११ ॥

यदि तुमने गुरु और साधु-सन्तों से शास्त्र की बात सुनी हो तो तुम्हारे लिए ईश्वर-प्राप्ति सुलभ है। ऐसी परिस्थिति में शास्त्रों के अध्ययन की क्या आवश्यकता है ? ॥ १२ ॥

एक मनुष्य ने दूसरे को पत्र में लिखा था कि कुछ मिठाई लेते आना। जब उसने उस पत्र को पढ़ लिया तो उस पत्र का कोई प्रयोजन नहीं रह गया। उस समय केवल मिठाई लाना ही प्रधान कार्य रह गया ॥ १३ ॥

सरस्यां कुत्रचित्स्थाने कलशी पतीता यदि ।
निश्चित्य प्रथमं स्थानं युज्यतेऽन्वेषणं ततः ॥१४॥
श्रुत्वा गुरुमुखाच्छास्त्रमर्म साधनमज्जनम् ।
तस्मिंस्तु सफले जाते प्रत्यक्षं दर्शनं ध्रुवम् ॥१५॥
मज्जने क्रोधकामात्मतिमिनक्रादिसंकटम् ।
चेद् वैराग्यहरिद्राक्तकायः सन्मज्जनं कुरु ॥१६॥
शब्दार्थोऽथ रहस्यार्थः शास्त्रार्थो द्विविधो मतः ।
पत्रेण तुल्यः शब्दार्थो मर्मार्थो मौखिकोक्तिवत् ॥१७॥
ग्रन्थानुसारं शंसन्ति काशीं केवलपण्डिताः ।
येन दृष्टा परं काशी प्रमाणं तद्वचः शृणु ॥१८॥

यदि किसी तालाब में घड़ा गिर गया हो तो वह कहाँ गिरा, इसका निर्णय करना ही प्रथम कार्य है । उसके अनन्तर उस घड़े को खोज निकालना सुलभ है ॥ १४ ॥

गुरुमुख से सुनकर शास्त्र का आशय जानकर साधन में निमग्न होना ही उचित है । उस प्रकार हार्दिक एकाग्रता से ही भगवान का प्रत्यक्ष दर्शन लाभ सुनिश्चित है ॥ १५ ॥

यदि ईश्वर के भाव में डूबते समय काम-क्रोध आदि भयंकर जल-जन्तुओं का भय हो तो शरीर में वैराग्य रूप हल्दी मलकर डूब दो ॥ १६ ॥

शास्त्र के अर्थ दो प्रकार के हैं—शब्दार्थ और भावार्थ । शब्दार्थ लिखित पत्र के समान और भावार्थ गुरु के मुख से कहने के तुल्य है ॥ १७ ॥

पण्डित लोग केवल ग्रन्थों के अनुसार काशी का वर्णन देते हैं, किन्तु जिन लोगों ने प्रत्यक्ष रूप से काशी का दर्शन किया है उनकी बात ही प्रमाण रूप से ग्रहण करना चाहिए ॥ १८ ॥

जगन्मिथ्येति यैर्ज्ञातं ये च वैराग्यशालिनः।
त एव गुरवः सन्ति नार्थः केवलपण्डितैः ॥१९॥

"वेदाः पुराणशास्त्राणि तन्त्राणि विविधानि च।
यानि तेषां रहस्यं किं" मातरं पृष्टवानहम् ॥२०॥

तयोक्तं "वेदतत्त्वं यद् ब्रह्म सत्यमसज्जगत्।"
तदेव सच्चिदानन्दं ब्रह्म वेदान्तकीर्तितम् ॥२१॥

तन्त्रेषु सच्चिदानन्दः शिव सः इति वर्णितम्।
'सच्चिदानन्दकृष्णोऽयम् पुराणेषु प्रकीर्तितम् ॥२२॥

आत्मेत्युक्तस्तु गीतायां जानीहि ननु पुत्रक!
तस्य तत्त्वस्य लाभेऽन्यज् ज्ञातव्यं नावशिष्यते ॥२३॥

जिन लोगों ने जगत् को मिथ्या रूप से जान लिया है और जो लोग वैराग्यवान हैं वे ही गुरुपद के योग्य हैं। केवल पण्डित से क्या प्रयोजन ? ॥ १९ ॥

किसी समय मैंने जगन्माता से पूछा था—"वेद, पुराण, शास्त्र तथा तन्त्र के अनेक ग्रन्थ हैं, उनका रहस्य क्या है ? ॥ २० ॥

माँ ने कहा—"ब्रह्म सत्य और जगत मिथ्या है" यही वेद का तत्त्व है और वेदान्त में इसी कारण सच्चिदानन्द ब्रह्म का ही प्रतिपादन किया गया है ॥ २१ ॥

तन्त्र ग्रन्थों में शिव सच्चिदानन्द रूप से वर्णित हैं। पुराणों में श्रीकृष्ण ही सच्चिदानन्द रूप से कथित हैं ॥ २२ ॥

हे पुत्र, जान लो गीता में इन्हीं को आत्मा कहा गया है, उनका तत्त्व-ज्ञान होने से अन्य कोई ज्ञातव्य विषय नहीं रहता ॥ २३ ॥

व्याकुलत्वमुपायः स्याद् येन लाभः सुनिश्चितः ।
वेदशास्त्रानेकतन्त्रपुराणानि वृथा तदा ॥२४॥
भक्तो मूर्खः पण्डितो वा सर्वस्मिन् स्नेहवान् प्रभुः ।
यथा सर्वेषु पुत्रेषु तुल्यप्रेमा पितानिशम् ॥२५॥
ज्येष्ठो 'बाबा-'पदं ब्रूते मध्यमो 'बा'-पदं तथा ।
कनिष्ठो 'पा'-पदं चेति पितुराकारणे रतः ॥२६॥
सर्वेष्वपि हि पुत्रेषु तुल्यस्नेहकरः पिता ।
न चिन्तयति तेषां वै ज्येष्ठतां वा कनिष्ठताम् ॥२७॥
वरं यत्नः प्रभोर्लाभे शुष्कशास्त्रविचारतः ।
उपायः परमौत्कंठ्यं विश्वासश्च गुरूक्तिषु ॥२८॥

हृदय की व्याकुलता ही एकमात्र उपाय है, जिससे अवश्य ही सच्चिदानन्द लाभ होता है। उस अवस्था में वेद, शास्त्र, अनेक तन्त्र, विविध पुराण वृथा हैं ? ॥ २४ ॥

जैसे पिता अपने सभी पुत्रों को समान रूप से प्यार करते हैं, उसी प्रकार श्रीभगवान भी पण्डित या मूर्ख सभी भक्तों के प्रति समान भाव से स्नेह वषन करते हैं ॥ २५ ॥

बड़ा पुत्र पिता को 'बाबूजी' कहता है, मध्यम पुत्र केवल 'बा' और छोटा पुत्र पिता को केवल 'पा' कहता है ॥ २६ ॥

किन्तु पिता सभी पुत्रों के प्रति समान रूप से स्नेहशील हैं। कौन बड़ा और कौन छोटा है, इसका विचार वह नहीं करते ॥ २७ ॥

केवल सूखा शास्त्र-विचार न करके केवल प्रभु को प्राप्त करने की चेष्टा करनी चाहिए। किन्तु इसके लिए श्रेष्ठ उपाय है—हृदय की व्याकुलता और गुरु के वाक्य के ऊपर विश्वास ॥ २८ ॥

ईशः स्वयं ज्ञानदाता शास्त्रं किं ते करिष्यति ?
ईश्वरे हार्दिकं प्रेम स्थापनीयं किमागमैः ॥२९॥

हट्टप्रवेश एव स्यात् नैकवस्तूपदर्शनम् ।
केवलं बाह्यतो 'हो'-'हो'-शब्द-श्रवणमन्यथा ॥३०॥

समुद्रे च महान् शब्दः श्रूयते दूरतः परम् ।
तत्समीपे नौतरङ्गपक्षिणां दर्शनं भवेत् ॥३१॥

धनिना सार्धमालापो मुख्योऽन्यद् गौणमुच्यते ।
कियद्धनं गृहं कुत्र कति चोपवनानि च ॥३२॥

जाते तेन सहालापे सेवकीया न यन्त्रणा ।
मार्दवं वचने तेषां सादरं प्रणमन्ति ते ॥३३॥

ज्ञानदाता स्वयं ईश्वर हैं । शास्त्र तुम्हारा क्या करेगा ? भगवान् के साथ हृदय का भक्तिभाव रखो ॥ २९ ॥

बाजार में प्रविष्ट होने पर ही अनेक प्रकार की चीजें दिखाई पड़ती हैं । बाहर रहने पर केवल हल्ला-गुल्ला ही सुनाई पड़ता है ॥ ३० ॥

दूर से समुद्र का भयंकर शब्द सुनाई पड़ता है, किन्तु पास जाने पर वहाँ नाव, लहर, पक्षी आदि विभिन्न पदार्थ दिखाई पड़ते हैं ॥ ३१ ॥

धनी मनुष्य के घर जाकर उनसे वार्तालाप करना ही प्रधान कार्य है । उनके पास कितना धन, घर कहाँ है या कितने बाग-बगीचे हैं इन बातों को जानना अनावश्यक है ॥ ३२ ॥

उनसे बातचीत हो जाने पर उनके कर्मचारी अधिक कष्ट नहीं देते, बल्कि वे मीठी बातें कहते हैं और आदर से प्रणाम भी करते हैं ॥ ३३ ॥

ईशाप्तौ शुष्कपाण्डित्याद् वरं व्याकुलतात्मनः।
नानाविषयकं ज्ञानं पण्डितानां निरर्थकम् ॥ ३४ ॥
शत्रुणा सह युद्धे तु खड्गचर्मादिमान् भवेः।
स्वकीयाय विनाशाय नखकर्तकमप्यलम् ॥३५॥
विहाय विविधं ज्ञानं पाण्डित्याधिगमं तथा।
कल्याणसिद्धये त्वेकं सद्गुरुं शरणं व्रज ॥३६॥
अन्यत्तु दर्शनं साक्षाद् अन्यच्छास्त्रानुशीलनम्।
निर्जने वरमाह्वानं शास्त्रैर्नास्ति प्रयोजनम् ॥३७॥
शर्करागिरिमेत्यैकं कणमत्ति पिपीलिका।
'सर्वमद्रिं हरिष्यामि' व्यर्थमित्थं ब्रवीति चेत् ॥३८॥

सूखे पाण्डित्य के द्वारा भगवान् का लाभ नहीं होता। हार्दिक व्याकुलता के द्वारा ही वे लभ्य होते हैं। पण्डितों के अनेक विषयों का सूखा ज्ञान निरर्थक है ॥ ३४ ॥

शत्रु के साथ युद्ध करना हो तो ढाल, तलवार आदि अस्त्र-शस्त्रों से सज्जित होना पड़ता है, किन्तु अपने को मारने के लिए एक नहरनी ही पर्याप्त है ॥ ३५ ॥

अनेक प्रकार के ज्ञान तथा पाण्डित्य लाभ करने की चेष्टा छोड़कर अपने कल्याण के लिए एकमात्र सद्गुरु की शरण लो ॥ ३६ ॥

ईश्वर का साक्षात् दर्शन एक बात है और केवल शास्त्रानुशीलन अन्य बात है। एकान्त में बैठकर भगवान को पुकारना ही श्रेष्ठ काम है। केवल शास्त्रपाठ का कोई प्रयोजन नहीं है ॥ ३७ ॥

एक चींटे ने चीनी के पहाड़ के पास जाकर चीनी का एक दाना खाया, उसके बाद यदि वह कहे कि मैं समूचे चीनी के पहाड़ को ले जाऊँगा तो वह वाक्य वृथा है ॥ ३८ ॥

अधीत्य किञ्चिद् गीतायाः किञ्चिद् भागवतस्य च ।
किञ्चिद् वेदान्तशास्त्रस्य सर्वज्ञोऽस्मीति मन्यते ॥३९॥
अस्माकमन्तराविद्धं नित्यशः कण्टकैस्त्रिभिः ।
'अहं गुरुरहं कर्ता तथाहं जनको महान्' ॥४०॥
गुरुस्तु सच्चिदानन्दः शिक्षादाता स्वयं प्रभुः ।
वयं तद्बालकाः सर्वे कथं यामो गुरोः पदम् ? ॥४१॥
वाञ्छन्ति गुरुतां सर्वे न कोऽपीच्छति शिष्यताम् ।
साक्षात्कृतेस्तथादेशाद् गुरुत्वं भजते नरः ॥४२॥
आदिष्टाः प्रभुणा साक्षाच् शुकनारदशङ्कराः ।
तदादेशं विना कश्चिन् नोपदेशं शृणोति ते ॥४३॥

इसी प्रकार अल्पज्ञ व्यक्ति गीता, भागवत और वेदान्त का कुछ-कुछ अंश पढ़कर ही अपने को सर्वज्ञ समझता है ॥ ३९ ॥

अन्तर में तीन काँटे बिंध कर हमें सदा ही कष्ट देते हैं । वे तीन ये हैं— 'मैं गुरु हूँ, मैं कर्ता हूँ और मैं सुयोग्य पिता हूँ' ॥ ४० ॥

सच्चिदानन्द भगवान ही श्रेष्ठ गुरु हैं, वे ही हमारे शिक्षा-दाता भी हैं, हम सभी उनकी सन्तानें हैं । गुरु का पद हम कैसे प्राप्त कर सकेंगे ? ॥ ४१ ॥

सभी लोग गुरु होना चाहते हैं, कोई शिष्य होना नहीं चाहता । भगवान का साक्षात्कार होने पर और उनका आदेश मिलने पर ही मनुष्य गुरु हो सकता है ॥ ४२ ॥

शुकदेव, नारदमुनि और शंकराचार्य आदि ने भगवान का प्रत्यक्ष आदेश पाया था । उनका आदेश न पाने तक तुम्हारा उपदेश कोई नहीं सुनेगा ॥ ४३ ॥

विना दर्शनमादेशो नादेशो मनसा क्वचित् ।
बलवान् दर्शनादेशः कम्पयेत् पर्वतानपि ॥४४॥
व्याख्यानं केवलं व्यर्थं न केनापि श्रुतं भवेत् ।
श्रुतमप्येककर्णेन द्वितीयेन बहिर्व्रजेत् ॥४५॥
प्रातर्यान्ति स्म शौचार्थं पुष्करिण्यां क्वचिज्जनाः ।
सज्जनैरितग्मवचनैर्निषिद्धा अपि नित्यशः ॥४६॥
ततः शासनकर्तारः प्रार्थिताः सरसोऽधिपैः ।
आदिष्टः पुरुषः कश्चित्तत्रत्यैरऽधिकारिभिः ॥४७॥
लिखितं तेन "तीरेऽस्मिन् यो नरः शौचमाचरेत् ।
दण्डितः स भवेच्छीघ्रं" त्यक्तं शौचं जनैस्ततः ॥४८॥

उनका दर्शन पाये बिना ऐसा आदेश नहीं मिलता । ईश्वर-दर्शन के बिना केवल मन को कभी उपदेश देने का अधिकार नहीं होता, दर्शन के बाद जो आदेश मिलता है, वह इतना अधिक शक्तिशाली होता है कि वह बड़े-बड़े पहाड़ भी हिला देता है ॥ ४४ ॥

उस प्रकार का आदेश पाये बिना व्याख्यान देना व्यर्थ है । उसे कोई नहीं सुनता । यदि किसी ने सुन भी लिया तो वह एक कान से प्रविष्ट होकर दूसरे कान से निकल जाता है ॥ ४५ ॥

किसी तालाब के किनारे कुछ लोग तड़के जाकर पाखाना करते थे, वहाँ के लोगों के द्वारा मना करने पर भी कोई उसे नहीं सुनता था ॥ ४६ ॥

अन्त में मालिकों की ओर से सरकारी कर्मचारियों के निकट प्रार्थना-पत्र देने से वहाँ से एक राजपुरुष को भेजने का आदेश हुआ ॥ ४७ ॥

उस राजकर्मचारी ने वहाँ जाकर एक राजाज्ञापत्र लटका दिया— "इस तालाब के किनारे जो पाखाना करेगा उसे दण्ड दिया जायगा ।" फलस्वरूप दूसरे दिन से लोगों ने वहाँ शौच जाना बन्द कर दिया ॥ ४८ ॥

लोकशिक्षापरस्यैवमादेशोऽपेक्षितो ध्रुवम् :
अन्यथाऽहंकृतिः स्वान्ते कर्ताहमुपदेशकः ॥४९॥
उपदेशे विनादेशं वक्ता श्रोता च हास्यताम् ।
यातो, दृष्टा नीयमाना अन्धेनान्धाः किमध्वनि ॥५०॥
भगवल्लाभतोऽस्माकमन्तर्दृष्टिः प्रजायते ।
लोकवृत्त्यनुसारं स्याद् उपदेशस्य योग्यता ॥५१॥
'ईशः कर्ताऽहमज्ञोऽस्मि' जीवन्मुक्तवचोऽनिशम् ।
अहन्ताया महत्कष्टमशान्तिश्च प्रजायते ॥५२॥
सद्गुरोर्दर्शनादेव शिष्यस्याहं पलायते ।
अपक्वे तु गुरावेतन्नोभयोरपि यन्त्रणा ॥५३॥

लोकशिक्षा देने के लिए भगवान का आदेश-लाभ विशेष आवश्यक है, नहीं तो लोकशिक्षक के मन में मैं कर्ता हूँ, मैं उपदेशक हूँ, ऐसा अहंकार भाव आ सकता है ॥ ४९ ॥

एक अंधे को दूसरे अंधे के द्वारा रास्ता दिखाकर ले जाने की तरह श्री भगवान का आदेश न पाने तक उपदेश देने से वक्ता और श्रोता दोनों की ही हँसी होती है ॥ ५० ॥

भगवान को प्राप्त करने पर हमारी दृष्टि अन्तर्मुख हो जाती है। श्रोताओं की ग्रहणशक्ति के अनुसार उपदेश देने की योग्यता होनी चाहिए ॥ ५१ ॥

जीवन्मुक्त व्यक्ति कहते हैं कि ईश्वर ही कर्ता हैं, मैं अज्ञ हूँ। अहंकार से अनेक कष्ट और अशान्ति की उत्पत्ति होती है ॥ ५२ ॥

सद्गुरु का दर्शन होने से ही शिष्य का 'अहं' भाग जाता है, किन्तु यदि गुरु तत्त्वदर्शी न हों तो वैसा नहीं हो सकता, बल्कि गुरु और शिष्य दोनों को ही अशेष दुःख भोगना पड़ता है ॥ ५३ ॥

लोकशिक्षाप्रदानार्हा दिव्यादेशयुता नराः ।
ते हि ज्ञानलवेनापि पण्डितानतिशेरते ॥५४॥

शास्त्रान्वितस्याप्यनवाप्तदेवादेशस्य कोऽन्वेतु किलोपदेशम् ।
अज्ञात-शास्त्रप्रसरोऽपि दिव्यसन्देशवान् ज्ञाननिधिर्महात्मा ॥५५॥

विशन्ति दीपं ज्वलितं पतङ्गा अयः स्वयं कर्षति चुम्बकोऽपि ।
जना विनाऽऽमन्त्रणमन्त्रतन्त्रैः प्राप्तेश्वरादेशमभिप्रयान्ति ॥५६॥

इति श्रीरामकृष्णोपदेशसाहस्र्यां "शास्त्रं पाण्डित्यं च"
नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

श्रीभगवान का आदेश-प्राप्त व्यक्ति ही लोकशिक्षा दे सकते हैं, वे अपने ज्ञान का थोड़ा अंश देकर भी बड़े-बड़े विद्वानों को हरा देते हैं ॥ ५४ ॥

कोई मनुष्य शास्त्रज्ञ हो सकता है, किन्तु यदि उसे ईश्वर का आदेश प्राप्त न हो सका हो तो उसका उपदेश कौन सुनेगा ? दूसरी ओर शास्त्रव्याख्या में अनभिज्ञ व्यक्ति भी यदि ईश्वर का आदेश प्राप्त कर सका हो तो वह ज्ञान का पूर्ण भण्डार स्वरूप, यथार्थ महात्मा है ॥ ५५ ॥

फतिंगे जलती हुई दीपशिखा में प्रवेश कर जाते हैं, चुम्बक लोहे को अपनी ओर आकर्षित करता है, उसी प्रकार मन्त्रहीन तथा तन्त्रमन्त्ररहित होने पर भी लोग श्रीभगवान के आदेश को प्राप्त व्यक्ति का अनुसरण करते हैं ॥ ५६ ॥

शास्त्र और पाण्डित्य नामक द्वितीय अध्याय समाप्त हुआ ।

अवतारतत्त्वं नाम तृतीयोऽध्यायः

मङ्गलम्

त्यागेन शन्तिर्भजनेन मुक्तिर्धर्मोपदेशेन नृणां हितं स्यात् ।
इत्येव हेतोर्भुवि योऽवतीर्णः स रामकृष्णस्तनुतां शिवं नः ।।
साकारमाकारविहीनमीशं द्रष्टुं द्विधा तं खलु पारयामः ।
निराकृतेश्चिन्मयरूपमस्य अन्यत् तथा भौतिकदेहयुक्तम् ।।१।।

युगे युगे मानुषरूपधारी स एव लोकेऽवतरेद्धितार्थम् ।
यद्दर्शनं स्यादवतारमूर्तेस्तदेव साक्षात्परमेश्वरस्य ।। २ ।।

मंगलाचरण

त्याग से शान्ति, भक्ति से मुक्ति और धर्मोपदेश से मनुष्य को कल्याण प्राप्त हो—केवल इसी एकमात्र उद्देश्य को लेकर जो धराधाम में अवतीर्ण हुए थे, वही रामकृष्णदेव हमारा मंगल करें ।

अवतारतत्त्व नामक तृतीय अध्याय

हम साकार और निराकार दोनों रूपों में ही भगवान की चिन्ता कर सकते हैं । निराकार रूप चिन्मय है और साकार रूप हमारे जैसे भौतिक शरीरधारी है ।। १ ।।

हर युग में वे ही भगवान लोकहितार्थ मनुष्य रूप धारण करके इस भूमंडल पर अवतीर्ण होते हैं । उस अवतार का दर्शन करना प्रत्यक्ष भगवद्दर्शन के तुल्य है ।। २ ।।

नानारूपो नैकलीलो विश्वलीलो जगत्प्रभुः ।
ईशलीलो देवलीलो नरलीलोऽपि तादृशः ॥ ३ ॥
भक्तिप्रेमप्रचारार्थं नररूपं विधाय सः ।
मुहुराविर्भवत्यस्मिँल्लोके चैतन्यदेववत् ॥ ४ ॥
अनन्तास्तस्य लीलाः स्युर्भक्तिप्रेमावतारतः ।
धेनोरङ्गान्यनेकानि प्राप्यते क्षीरमूधसः ॥ ५ ॥
ऊधोऽवतारतुल्यं तत् सारं तस्मान्नरोऽश्नुते ।
किं गोः शृङ्गेण पुच्छेनावतारः प्रेमभक्तिदः ॥ ६ ॥
नृदेहेनावतीर्णोऽसौ यद्यप्यास्ते स सर्वगः ।
पूर्यते जीवनाकाङ्क्षावतारेणैव तत्त्वतः ॥ ७ ॥

इस संसार के प्रभु श्रीभगवान अनन्त लीलामय हैं। वे कभी ईश्वर रूप में, कभी देवता रूप में और फिर कभी मनुष्य रूप में प्रगट होते हैं ॥३॥

वही भगवान इस संसार में भक्ति और प्रेम का वितरण करने के लिए श्रीचैतन्यदेव की तरह (अवतार रूप से) बार-बार अवतीर्ण होते हैं ॥ ४ ॥

भगवान की लीलाएँ असंख्य हैं, किंतु अवतार से ही भक्ति और प्रेम प्रगट होते हैं। गाय के अनेक अंग-प्रत्यंगों के रहने पर भी दूध केवल उसके स्तन से ही मिलता है ॥ ५ ॥

गाय का थन अवतार के तुल्य है, क्योंकि सार वस्तु (दूध) मनुष्य को उस थन से ही मिलता है, इसी प्रकार अवतार से ही प्रेम और भक्ति का लाभ होता है। गाय के सींग या दुम से क्या होगा ? ॥ ६ ॥

श्रीभगवान सर्वव्यापी होने पर भी मनुष्य का रूप लेकर आते हैं। मनुष्य की सर्वोच्च जीवनाकांक्षा (प्रेम, भक्ति लाभ) अवतार से ही यथार्थ रूप में प्राप्त होता है ॥ ७ ॥

लङ्गूलशृङ्गसास्नादिस्पर्शो गोस्पर्श एव सः ।
ऊधःस्पर्शः परं मुख्यो यतः क्षीरमवाप्यते ॥ ८ ॥
क्वचिद्दशावताराः स्युस्ते चतुर्विंशतिः क्वचित् ।
असंख्याश्चापि ते सन्ति नृहितं तत्प्रयोजनम् ॥ ९ ॥
"त्वं तु साक्षात्परं ब्रह्म सगुणत्वं कुतस्तव" ?
अर्जुनेनैवमुक्तः सन् श्रीकृष्णोऽप्येनमुक्तवान् ॥१०॥
"एहि कौन्तेय रूपं स्वं दर्शयामि यथार्थतः ।"
इत्युक्त्वा नीतवान् पार्थं समीपं कस्यचित्तरोः ॥११॥
पक्वजम्बूफलाकारास्तवका यत्र लम्बिताः ।
उवाच 'नैते स्तवका असंख्या मूर्तयो मम' ॥१२॥

गाय के पूँछ, सींग, गलकंबल आदि अंगों का स्पर्श करने से गाय का ही स्पर्श होता है । किंतु साक्षात् लाभप्रद उसके स्तन का स्पर्श ही होता है, क्योंकि दूध हम उसी से पाते हैं ॥ ८ ॥

कहीं दस अवतारों का और कहीं चौबीस अवतारों का वर्णन मिलता है और कहीं असंख्य अवतारों का उल्लेख मिलता है । मनुष्य का कल्याण ही वैसे अवतारों के आगमन का उद्देश्य होता है ॥ ९ ॥

किसी समय अर्जुन ने भगवान से पूछा "आप तो साक्षात् परमब्रह्म हैं, तो भी आपका यह सगुण रूप कहाँ से उत्पन्न हुआ है ?" इसके उत्तर में श्रीकृष्ण ने उनसे कहा ॥ १० ॥

"अर्जुन आओ, मैं तुम्हें अपना यथार्थ स्वरूप दिखाऊँ ।" इतना कह कर भगवान उन्हें किसी एक जामुन के पेड़ के पास ले गये ॥ ११ ॥

उस वृक्ष में जामुन के पके गुच्छे लटक रहे थे, उसकी ओर इशारा करके भगवान ने कहा—"फलों के ये गुच्छे नहीं हैं, बल्कि मेरी ही असंख्य मूर्तियाँ हैं ॥ १२ ॥

एवं पूर्णब्रह्मवृक्षाद् अवतारा अनेकशः ।
जायन्ते, यं निराकारं ब्रुवते ज्ञानिनः परम् ।।१३।।
अंशतः पूर्णतो वा येऽवतारा ईशकोटिकाः ।
अन्ये साधारणजनाः प्रारब्धाज्जीवकोटिकाः ।।१४।।
करस्थीकृतसत्सप्तच्छद्प्रासादकुञ्चिकाः ।
राजपुत्रा इव स्वेच्छाचारा ईश्वरकोटिकाः ।।१५।।
कर्मचारिसमाः सन्ति ये जना जीवकोटिकाः ।
प्रासादस्य समीपं ते गन्तुमर्हन्ति केवलम् ।।१६।।
जीवा हि साधनाद्वाराऽधिगच्छन्तीशदर्शनम् ।
निर्विकल्प-समाधिस्था नावर्तन्ते पुनर्भुवि ।।१७।।

इसी प्रकार पूर्णब्रह्मरूप वृक्ष से अनेक अवतार उत्पन्न होते हैं। तथापि ज्ञानी लोग उन्हें निराकार ही कहते हैं ।। १३ ।।

अवतार अंश रूप में ही हों या पूर्णरूप में, सभी परमेश्वर हैं और जो साधारण मनुष्य हैं और प्रारब्धवश जन्मग्रहण करते हैं वे जीव होते हैं ।। १४ ।।

सात तल्लोंवाले महल की चाभी जिनके हाथ में हो, ऐसे स्वाधीन राजपुत्र की तरह स्वेच्छावश लीलाविग्रहधारी साक्षात् परमेश्वर के अंशावतार या पूर्णावतार होते हैं ।। १५ ।।

किन्तु जीव-स्तर के मनुष्य भगवान के कर्मचारी के समान हैं। वे लोग महल के निकट जा सकते हैं, भीतर प्रवेश नहीं कर सकते ।। १६ ।।

साधारण मनुष्य साधन करके भगवान का दर्शन कर सकते हैं, किन्तु एक बार निर्विकल्प-समाधि होने पर वे फिर लौटकर इस संसार में नहीं आ सकते ।। १७ ।।

अवतारा नराकाराः स्वयमीश्वरकोटिकाः।
मुक्तिदास्ते हि जीवानां निवर्तन्ते समाधितः ॥१८॥
अहङ्कारो न दोषाय तेषां संसारिणां यथा।
संसारबन्धनान्मुक्तास्ते स्वच्छन्दं भ्रमन्ति वै ॥१९॥
स्थूलः संसार्यहङ्कारश्चतुर्दिक्षिवष्टकावृतिः।
शीर्षोपरिच्छदिर्ब्रह्मक्षेत्राणि शतशो बहिः ॥२०॥
न संसारी क्षमो द्रष्टुं बहिः किञ्चिद्वृतेः परम्।
अवतारकृते द्वाराण्यावृतौ सन्ति सन्ततम् ॥२१॥
अहङ्कारोऽवतारस्य वृतौ द्वारमिवानिशम्।
येनायं पश्यतीशं च करोति च गमागमौ ॥२२॥

किन्तु मनुष्यरूपधारी भगवान अवतार रूप से जीवों को मुक्त करने के लिए निर्विकल्प-समाधि से व्युत्थित होकर जीवकल्याण करते हैं ॥ १८ ॥

वैसे अवतारों का अहंभाव सांसारिक लोगों की तरह दोषावह नहीं है। वे संसारबन्धन से चिरमुक्त हैं। वे संसार में स्वच्छन्द विचरण करते हैं ॥ १९ ॥

सांसारिक मनुष्य स्थूल अहंभाव से आवृत है, मानो विशेष रूप से आच्छन्न होकर चारों ओर ईंटों की दीवालों के आवरण के भीतर विचरण करते हैं और सिर पर भी मानो छत का आवरण है और बाहर भी ब्रह्मरूप सैकड़ों खेत हैं ॥ २० ॥

सांसारिक मनुष्य उस दीवाल के बाहर कुछ भी नहीं देख सकते, किन्तु अवतारों के लिए उस आवरण के भीतर अनेक द्वार हैं ॥ २१ ॥

अवतार का अहंभाव दीवाल के भीतर लगी खिड़कियों की तरह है, जिनके भीतर से वह ईश्वर को भी देख सकते हैं तथा भीतर-बाहर गमनागमन भी कर सकते हैं ॥ २२ ॥

किन्तु संसार्यहङ्कारस्तथा वृत्यावृतोऽनिशम् ।
द्रष्टुमीशमनीशः स्यान्न च तस्यावतारधीः ॥२३॥
लीलापरो भक्तकृते स नित्यो भक्तोऽपि तं मानवरूपसंस्थम् ।
विलोक्य सस्नेहमनाः स्वभावात्ताते सुते भ्रातरि मातरीव ॥२४॥
सन्नेकोऽप्यग्निवन्नूनं द्विधाऽसौ विस्फुलिङ्गवत् ।
भक्तार्थमवतारोऽस्य ज्ञानिनां पूर्ण एव सः ॥२५॥
को हि पूर्णतया ज्ञातुमलं तं विद्यते जनः ।
ईशदर्शनतुल्यं स्याद् अवतारस्य दर्शनम् ॥२६॥
गङ्गायास्तीरमासाद्य कृताम्भःस्पर्शनः क्वचित् ।
ब्रूयात्कश्चिन्मया पुण्यं गङ्गाया दर्शनं कृतम् ॥२७॥

किन्तु सांसारिक मनुष्य का अहंभाव मानो दीवाल के भीतर ही आवद्ध रहता है। वहाँ से वह भगवान को देख नहीं सकता और न अवतार को ही पहचान सकता है ॥ २३ ॥

भगवान भक्तों के लिए अनेक प्रकार की लीलाएँ करते हैं। भक्त भी भगवान को मनुष्य रूप से देखते हैं और पिता-माता-पुत्र-भ्राता आदि के प्रति जिस प्रकार प्यार और भक्ति रखते हैं उसी प्रकार भगवान के प्रति भी अनुरक्त रहते हैं ॥ २४ ॥

एक होने पर भी भगवान अग्नि और उसकी चिनगारी की तरह विभिन्न रूप धारण करते हैं। भक्तों के लिए वे अवतार और ज्ञानियों के लिए पूर्ण ब्रह्म हैं ॥ २५ ॥

ऐसा मनुष्य कौन है जो उन्हें पूर्णरूप से जान सकता हो? अवतारी पुरुष को देखना ईश्वरदर्शन के ही समान मुक्तिप्रद है ॥ २६ ॥

गंगातीर पर आकर कोई मनुष्य जल का स्पर्श करता है और कहता है कि आज मैं गंगा का दर्शन और स्पर्शन करके पवित्र हो गया हूँ ॥ २७ ॥

परं तेन हरिद्वाराद् आगङ्गासागरं पुनः ।
न कृतं दर्शनं, तद्वद् अवतारस्य दर्शनम् ॥२८॥
अन्वेषणीयो मनुजेषु देवो ह्यत्राधिकं तस्य भवेत्प्रकाशः ।
यत्रोत्कटं प्रेम तथोच्चभक्तिर्ज्ञेयः स तत्रैव नरेऽवतीर्णः ॥२९॥
सोऽस्त्येव, पूर्णा तच्छक्तिः कुत्रचित्क्वचिदंशतः ।
यत्र सा पूर्णभावेन सोऽवतार इति ध्रुवम् ॥३०॥
मुक्ताफलान्यवाप्यन्ते समुद्रान्तःस्थ-शुक्तिषु ।
कार्यमन्वेषणं सिन्धावर्थो मुक्ताफलैर्यदि ॥३१॥
ईश्वरान्वेषणं तद्वदवतारान्तरे भवेत् ।
तदर्थं परमस्माकं साधनं समपेक्षितम् ॥३२॥

किन्तु वह मनुष्य हरिद्वार से लेकर गंगासागर तक सम्पूर्ण गंगा का दर्शन नहीं कर सका, उसी प्रकार अवतारी पुरुष का दर्शन करना भी ईश्वर-दर्शन के तुल्य है ॥ २८ ॥

ईश्वर को मनुष्य रूप में ही देखना उचित है, क्योंकि मनुष्य के भीतर ही उनका अधिक प्रकाश है। जिस मनुष्य के भीतर उनके प्रति गम्भीर प्रेम और रागात्मिका भक्ति दिखाई पड़े उनके भीतर ही भगवान का विशेष आविर्भाव हुआ है, ऐसा समझना चाहिए ॥ २९ ॥

ईश्वर अवश्य ही हैं, किन्तु उनकी शक्ति कहीं पूर्ण और कहीं अंशरूप में प्रकाशित है। जहाँ उनकी शक्ति पूर्णरूप से प्रकाशित है, उन्हीं को अवतार समझना उचित है ॥ ३० ॥

समुद्र के गम्भीर स्थान की सीप में मुक्ता रहती है, उस मुक्ता को प्राप्त करने के लिए समुद्र के गम्भीर स्थान में डूब कर उस सीप का पता लगाना होगा ॥ ३१ ॥

उसी प्रकार ईश्वर का अन्वेषण अवतार के भीतर ही करना चाहिए, किन्तु इसके लिए हमें विशेष साधन करना आवश्यक है ॥ ३२ ॥

नवनीतं पयोलभ्यं प्रवालः प्राप्यतेऽर्णवे ।
सर्षपेषु तथा तैलं मन्थमज्जनपेषणैः ॥३३॥
नररूपादितः श्रोतुं शक्नुमस्तत्कथा वयम् ।
भक्तेषु चांशतस्तस्य प्रकाश उपजायते ॥३४॥
शनैः शनैः रसस्यन्दश्चोषणादिक्षुतो यथा ।
यथालेश्च कृते पुष्पाच्छनैर्मधुरसच्युतिः ॥३५॥
अवतारेऽपि दृश्यन्ते रोगशोकक्षुदादयः ।
यथा चिन्तापरो जातः सीताशोकेन राघवः ॥३६॥
हिरण्याक्षवधात् पूर्वं वराहोऽभवदीश्वरः ।
जाते वधेऽपि मायांशान्नैच्छद्गन्तुं स्वधाम सः ॥३७॥

दूध में मक्खन है, समुद्र में प्रवाल है और सरसों में तेल है, किन्तु मक्खन पाने के लिए दूध का मन्थन करना पड़ता है, प्रवाल पाने के लिए समुद्र में डूबना पड़ता है और तेल प्राप्त करने के लिए सरसों को पेरना पड़ता है ॥ ३३ ॥

हम मनुष्य-रूपधारी अवतारों से भगवान की बात सुनते हैं। भक्तों में भी भगवान के अंश का प्रकाश अवश्य रहता है ॥ ३४ ॥

ईख को चबाते रहने से धीरे-धीरे मधुर रस निकलता है। फूल के भीतर से भ्रमर थोड़ा-थोड़ा करके मधु पाता है ॥ ३५ ॥

अवतार के भीतर भी रोग, शोक, भूख, प्यास आदि देहधर्म दिखाई पड़ते हैं। जैसे कि रामचन्द्र भी सीता के शोक से अत्यन्त उद्विग्न हुए थे ॥ ३६ ॥

हिरण्याक्ष दानव का निधन करने के लिए भगवान ने वराह रूप धारण कर लिया था, किन्तु दानव का वध करने के अनन्तर भी लेश अविद्या के प्रभाव से वे अपने धाम लौट जाने के इच्छुक नहीं हुए ॥ ३७ ॥

आश्चर्येणाखिला देवा आगताः शिवसन्निधौ ।
ऊचु"र्नारायणः सक्तो मायायां शिशुसंवृतः" ॥३८॥
शिवेन विभिदे तस्य शरीरं शूलपाणिना ।
ततो वराहरूपोऽसौ स्वधाम गतवान् प्रभुः ॥३९॥
नावतर्तुमलं देवः सम्राट् यश्च विराट् स्वयम् ।
य आस्ते, शक्नुमो वक्तुं किं वयं क्षुद्रबुद्धयः ॥४०॥
दशद्रोणमितं दुग्धं द्रोणपात्रं किमाश्रयेत् ?
साधवो ये महात्मानस्ते तल्लीलाविचारिणः ॥४१॥
नास्ति सत्त्वावताराणामित्यबोधस्य लक्षणम् ।
न सर्वः सर्वदा ज्ञातुमवतारमलं यत ॥४२॥

यह देखकर देवताओं ने आश्चर्यचकित होकर महादेव के पास जाकर कहा—"नारायण तो पुत्र-परिवार लेकर माया में मानो आसक्त हो पड़े हैं" ॥ ३८ ॥

उसे सुनकर शूलपाणि महादेव ने अपने त्रिशूल के आघात से वराहरूप नारायण के शरीर के दो टुकड़े कर दिये, तब वराहरूपधारी भगवान अपना स्वरूप धारण कर अपने धाम में चले गये ॥ ३९ ॥

जो भगवान स्वयं सम्राट् (सर्वशक्तिमान) और विराट हैं वे मनुष्य-रूप में अवतीर्ण नहीं हो सकते, ऐसी बात कहने की शक्ति क्या हम जैसे छोटी बुद्धिवाले मनुष्यों में है ॥ ४० ॥

जिस बर्तन में १ सेर दूध आता है, उसमें १० सेर दूध कैसे आयेगा ? अर्थात् छोटी बुद्धिवाले मनुष्य पूर्ण ब्रह्म सनातन भगवान को कैसे समझेंगे ? साधु महात्मा लोग ही भगवान की लीला समझ सकते हैं ॥ ४१ ॥

इस संसार में भगवान का अवतार नहीं होता, यह बात कहना अज्ञानी का ही लक्षण है। क्योंकि सभी मनुष्य अवतारतत्त्व को पूर्णरूप से नहीं जान सकते ॥ ४२ ॥

अवताररहस्यज्ञाः केवलं पञ्चषा जनाः ।
भारद्वाजादिकाः केचिद् रामो ब्रह्मेत्युपादिशन् ॥४३॥
साधारणजना राममवलोक्य तु मानुषम् ।
पुत्रो दशरथस्यायं नित्यमेवेत्यमूचिरे ॥४४॥
अखण्डं सच्चिदानन्दं राममूचुर्महर्षयः ।
यः स्वमायां समाश्रित्य नररूपेण दृश्यते ॥४५॥
एकदा नारदो रामदर्शनार्थं गतोऽभवत् ।
दृष्ट्वैव तं रघुश्रेष्ठः स्वासनादुत्थितः स्वयम् ॥४६॥
साष्टाङ्गं प्रणिपत्याह वयं संसारिणः प्रभो !
भवद्विधानां साधूनां दर्शनेनैव निर्मलाः ॥४७॥

(रामावतार के समय) अवतार का रहस्य जाननेवाले केवल ५ या ६ ऋषि ही थे; जैसे कि भरद्वाज आदि कुछ व्यक्ति ही रामचन्द्र को साक्षात् ब्रह्म कहते थे और लोगों को वैसा उपदेश देते थे ।। ४३ ।।

उस समय साधारण मनुष्य रामचन्द्र को मनुष्य रूप में ही देख कर सदा कहा करते थे कि ये राजा दशरथ के पुत्र हैं ।। ४४ ।।

किन्तु वे प्राचीन महर्षि लोग रामचन्द्र को अखण्ड सच्चिदानन्द स्वरूप ब्रह्म ही कहते थे, जो अपनी माया का आश्रय लेकर मनुष्य रूप में अवतीर्ण हुए थे ।। ४५ ।।

एक समय नारद मुनि श्रीरामचन्द्र के दर्शन के लिए गये थे । उन्हें देखकर रघुकुलश्रेष्ठ श्रीरामचन्द्र स्वयं अपने सिंहासन से उठ खड़े हुए थे ।। ४६ ।।

नारदजी को साष्टांग प्रणाम करके उन्होंने कहा—"प्रभु ! हम साधारण संसारी जीव आप जैसे महात्माओं का दर्शन कर निर्मल-चित्त हो जाते हैं ।। ४७ ।।

यदा तु घोरं विपिनं प्रयातः पितुर्वचः पालनतत्परोऽयम् ।
पौरास्तदा त्यक्तनिजान्नपाना 'ब्रह्मैव रामो' ननु विस्मरन्तः ॥४८॥

अवतारविचारेषु रामकृष्णादिकान् स्मरेत् ।
नरलीलाविधानार्थमीश एको नृरूपधृक् ॥४९॥

छदेर्जलं यथा वेगात् प्रणालीतः पतत्यधः ।
तथैवावतरत्यत्र भगवान् भक्तिमार्गतः ॥ ५० ॥

कामकाञ्चनयोस्त्यागं विना स्यान्नावतारवित् ।
कथं वृन्ताकविक्रेता मूल्यं वज्रमणेर्वदेत् ॥ ५१ ॥

इहागतानां बालानां नार्थः कोऽप्यन्यसाधनैः ।
'कोऽहं के वा जना अन्ये' ज्ञातव्यं द्वयमेव तैः ॥ ५२ ॥

जब श्रीरामचन्द्र पिता के वाक्य का पालन करने के लिए घोर जंगल को चले गये थे, तब प्रजावर्ग उनके प्रति अत्यधिक प्रेम के कारण आहार-निद्रा छोड़ बैठा था सही, किन्तु राम स्वयं परमब्रह्म हैं, इसे वे प्रजाजन एकदम भूल गये थे ॥ ४८ ॥

अवतार के सम्बन्ध में विचार करते समय राम, कृष्ण आदि का ही स्मरण करना चाहिए। एकमात्र भगवान ही नरलीला करने के लिए मनुष्य रूप धारण करते हैं ॥ ४९ ॥

जिस प्रकार छत पर का जल नाली के रास्ते से नीचे आ गिरता है, उसी प्रकार भक्तिमार्ग के अवलम्बन से भगवान इस संसार में अवतीर्ण होते हैं ॥ ५० ॥

जिस तरह भंटा बेचनेवाला हीरे का मूल्य नहीं जानता, उसी प्रकार कामकाञ्चनासक्त व्यक्ति अवतार को नहीं जान सकता ॥ ५१ ॥

जो बालक भक्त मेरे यहाँ आते हैं, उनके लिए अन्य किसी प्रकार के साधन की आवश्यकता नहीं है। केवल उन्हें दो बातें जान लेनी चाहिए—मैं कौन हूँ और वे कौन हैं ? अर्थात् अपने स्वरूप का ज्ञान ही अपेक्षित है ॥ ५२ ॥

आन्तराः केचिदेतेषु येषां मुक्तिर्न भाविनी।
वायुकोणे मयाऽपि स्यात् कर्तव्यं देहधारणम् ॥ ५३ ॥
धृतदेहे लोकहेतोरीशे भक्तगणा अपि।
द्विविधा बहिरङ्गाश्चान्तरङ्गाश्चानुयान्ति तम् ॥ ५४ ॥
त्यक्तसंसारबन्धा ये सेवकास्तेऽन्तरङ्गिणः।
कुशलं ये प्रपृच्छन्ति बहिरङ्गास्त एव मे ॥ ५५ ॥
गयायां जनकं स्वप्नेऽब्रवीदेवं गदाधरः।
'अवतीर्णो भविष्यामि पुत्ररूपेण तेऽनघ' ॥ ५६ ॥
तातेनोक्तं 'दरिद्रोऽहं सेविष्ये भगवन्! कथम्'।
'सर्वं सम्यग्भवेदित्थं' जनकं विष्णुरब्रवीत् ॥ ५७ ॥

इनमें कुछ लोग मेरे अन्तरंग हैं, जिनकी मुक्ति अभी नहीं होगी। मुझे भी वायुकोण में पुनः देहधारण करना पड़ेगा ॥ ५३ ॥

लोककल्याण के लिए जब भगवान मनुष्य रूप धारण करते हैं, तब अंतरंग और बहिरंग दोनों प्रकार के भक्त उनका अनुगमन करते हैं ॥ ५४ ॥

जो भक्त संसार-बन्धन छोड़कर मेरी सेवा में व्रती होते हैं, वे ही अन्तरंग हैं। अन्य जो लोग केवल कुशल-प्रश्न पूछकर चले जाते हैं, वे मेरे बहिरंग भक्त हैं ॥ ५५ ॥

मेरे पिता जब गया-धाम गये थे, तब स्वप्न में गदाधर विष्णु ने उन्हें दर्शन देकर कहा था—"हे पुण्यात्मा, मैं तुम्हारे पुत्र-रूप में अवतीर्ण हूँगा" ॥ ५६ ॥

पिताजी ने कहा—"हे भगवन्, मैं बहुत गरीब हूँ, कैसे आपकी सेवा करूँगा ?" भगवान विष्णु ने पिताजी से कहा था—"कोई डर नहीं है, सब ठीक हो जायेंगे' ॥ ५७ ॥

कदाचित् सच्चिदानन्दः शरीराद् बहिरागतः ।
ब्रूते पूर्णोऽवतीर्णोऽस्मि लोककल्याणहेतवे ।। ५८ ।।

सकृदेव प्रदत्तं चेत् सर्वं ज्ञानं पुनस्तदा ।
किमर्थमागमिष्यन्ति समीपं मम पार्षदाः ।। ५९ ।।

भक्ताः समायान्त्यवतारपार्श्वं परस्परं भावितबन्धुभावाः ।
आकृष्यमाणाः परितः कुतश्चिद् यथा कलम्बीव्रततीप्रतानाः ।।६०।।

य एव रामोऽस्ति य एव कृष्णोऽधुना स एवाजनि रामकृष्णः ।
वेदान्तदृष्ट्या न खलूक्तमेतच्छिष्यं यथार्थं भगवानुवाच ।।६१।।

इति श्रीरामकृष्णोपदेशसाहस्र्याम् 'अवतार-तत्त्वं'
नाम तृतीयोऽध्यायः ।। १ ।।

किसी समय सच्चिदानन्द भगवान ने शरीर से बाहर आकर कहा था– "मैं पूर्ण होने पर भी लोगों के कल्याण के लिए बार-बार इस भूमंडल पर अवतीर्ण होता हूँ ।। ५८ ।।

यदि मैं पूर्ण ज्ञान एक बार ही दे देता हूँ तो ये पार्षद भक्त मेरे पास बार-बार क्यों आयेंगे ? ।। ५९ ।।

जैसे कलम्बी लता को खींचने से सारी लतायें एक ही साथ आ जाती हैं, उसी प्रकार बन्धुभाव से आकृष्ट होकर अंतरंग भक्त चारों ओर से अवतार के पास आकर समवेत होते हैं ।। ६० ।।

'जो राम और जो कृष्ण थे वही अब रामकृष्ण हुए हैं। किन्तु ऐसी बातें वेदान्त की दृष्टि से नहीं।" यह बात भगवान श्रीरामकृष्णदेव ने अपने शिष्य नरेन्द्र से कही थी ।। ६१ ।।

श्रीरामकृष्णोपदेशसाहस्री का 'अवतारतत्त्व' नामक
तृतीय अध्याय समाप्त हुआ ।। ३ ।।

त्यागो नाम चतुर्थोऽध्यायः

अधःस्थितं वस्त्वधिगन्तुमादौ त्याज्यं किल स्यादुपरिस्थितं यत् ।
अन्तःस्थितेशाधिगमाय भौतबाह्यावृतेस्त्याग उपायभूतः ॥ १ ॥

त्यागं विनेशस्य भवेन्न लाभो वचो मदीयं श्रृणुयात्परं कः ?
विदन्ति ये तत्त्वमिदं जनास्तानहं दिदृक्षुः सुचिरात्स्वतुल्यान् ॥ २ ॥

वर्धन्ते वासना नित्यं यावदेकैकशोऽनिशम् ।
न त्यज्यन्ते तावदाशा का शान्तेर्भक्तिवर्त्मनि ॥ ३ ॥

त्याग नामक चतुर्थ अध्याय

यदि एक वस्तु के ऊपर अन्य वस्तु रहे और उस नीचे वाली वस्तु को लेने की आवश्यकता हो तो ऊपर की वस्तु को हटा देना चाहिए। इसी प्रकार अन्तरस्थित परमात्मा को प्राप्त करने के लिए बाहरी जगत् के आवरण का परित्याग करना ही एकमात्र उपाय है ॥ १ ॥

ऐसा त्याग किये बिना ईश्वर-लाभ नहीं होता, किन्तु मेरी इस बात को ग्रहण करने के योग्य व्यक्ति कौन है ? जो लोग इस प्रकार त्याग की महिमा जानते हैं उन दर्शनार्थी भक्तों को मैं खोज रहा हूँ ॥ २ ॥

वासना निरन्तर बढ़ती ही रहती है। जब तक इन वासनाओं का एक एक करके परित्याग न किया जाय, तब तक भक्ति-मार्ग में शान्ति की आशा कहाँ है ? ॥ ३ ॥

दश वारान् मुखेन त्वं 'गीता' 'गीते'ति चेद् वदेः।
"त्यागी त्यागी"-श्रुतिः श्रोत्रे गीतापाठस्य तत्फलम् ॥४॥
यः संसृतावनासक्तः कामकाञ्चननिस्पृहः।
स एव गीतातत्त्वज्ञः स त्यागी शुद्धभक्तिमान् ॥ ५ ॥
सम्पूर्णगीताग्रन्थस्य तात्पर्यं 'त्यागवान् भवेः'।
अतस्ते त्यागशीलस्य गीतापाठः सहायकः ॥ ६ ॥
अपि भावसमाधिस्थात् सम्यक् त्यागी विशिष्यते।
कियानस्य 'नरेन्द्रस्य' त्यागो, निष्ठा, मनोबलम् ॥ ७ ॥
त्यागी तु पुरुषः कोऽपि कामकाञ्चनवर्जितः।
ईशासक्तमना धन्यो नित्यं दिव्यरसं पिबेत् ॥ ८ ॥

यदि तुम दस बार 'गीता गीता' शब्द का उच्चारण द्रुत करो तो 'त्यागी त्यागी' शब्द सुनाई पड़ेगा। यही गीतापाठ का साक्षात् फल है ॥४॥

जो मनुष्य संसार में आसक्त नहीं है और भोगविलास तथा धन में भी वासनारहित है, वही गीतातत्त्व का जाननेवाला है और उसी को त्यागी तथा शुद्धभक्तिमान कहते हैं ॥ ५ ॥

समस्त गीताग्रन्थ का आशय यह है कि सब लोग त्यागी हो जायँ। अतः त्यागी मनुष्य के लिए गीतापाठ विशेष सहायक है ॥ ६ ॥

ईश्वर-भाव में तन्मय होकर भावसमाधि में लीन व्यक्ति की अपेक्षा त्यागी श्रेष्ठ हैं। देखो, नरेन्द्र का त्याग, निष्ठा और मनोबल कितना अधिक है? ॥ ७ ॥

काम-काञ्चन का त्यागी मनुष्य ही श्रेष्ठ है। उसका चित्त सदा ईश्वर में अनुरक्त रहता है, वह धन्य है क्योंकि वह सदा अलौकिक दिव्य रस का पान करता है ॥ ८ ॥

अन्तरेणेश्वरं नित्यं नासौ किमपि सेवते।
विरजेद्विषयासक्तेरीशवार्तासु तत्परः ॥ ९ ॥
चित्ते न त्यागिनः किञ्चिद् भगवच्चिन्तनात् परम्।
सरघा सुमनःसंस्था मधुवर्जं किमिच्छति ? ॥ १० ॥
असावधानं हि मनो दूराद्विषयगामि यत्।
सावधानमतः कार्यं न भयं त्यागशालिनाम् ॥ ११ ॥
स्थापयेत् पृथगात्मानं त्यागी काञ्चनकामतः।
ईशासक्तमना नित्यं साधने न समन्वितः ॥ १२ ॥
संसारासक्तचित्तस्य क्वचिदेवेश्वरं प्रति।
प्रवृत्तिमन्यनः प्रायो विषयानेव सेवते ॥ १३ ॥

ऐसा त्यागी व्यक्ति ईश्वर के सिवाय अन्य कुछ भी ग्रहण नहीं करता। विषयासक्ति से विरक्त रहकर वह सदा ईश्वर सम्बन्धी वार्तालाप करता रहता है ॥ ९ ॥

त्यागी व्यक्ति के मन में भगवान की चिन्ता के सिवाय अन्य बात नहीं रहती। मधुमक्खी सदा सुगन्धित फूलों के ऊपर ही बैठती है, वह मधु के सिवाय अन्य कोई चीज नहीं चाहती ॥ १० ॥

असावधान चित्त दूर से विषयों के प्रति आकृष्ट होता है। इस कारण सदा चित्त को सावधान और संयत रखना उचित है। त्यागी के लिए कोई भय नहीं है ॥११॥

त्यागी व्यक्ति काम-काञ्चन से अपने को पृथक् रखें, उन्हें अपने मन को सदा भगवान में संलग्न रखना चाहिए तथा उन्हें सदा साधन-भजन करते रहना उचित है ॥१२॥

यदि मन संसार में आसक्त रहे तो ईश्वर की ओर उसकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती। वैसा मन केवल विषयों की ही सेवा करता है ॥१३॥

मक्षिकोपविशेत्क्वापि मिष्टान्नेऽवकरे व्रणे।
तिष्ठेत्परं मधुन्येव केवलं मधुमक्षिका ॥ १४ ॥
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन मनो विषयकर्दमात्।
उद्धृत्येश्वरचिन्तायां कर्तव्यं कालयापनम् ॥ १५ ॥
यद् यद् दृष्टं श्रुतं चैव चिन्तितं वाखिलं जगत्।
अर्थकामस्वरूपत्वान्मायावरणमेव तत् ॥ १६ ॥
मिष्टः स्वादोऽस्तु ताम्बूलं तैलदानं शिरोरुहे।
किमेतत्त्यागतस्त्यागः कामकाञ्चनयोर्महान् ॥ १७ ॥
साधने भजने सक्ता ये गृहस्थाः सुनिर्जने।
तेषां मानसिकस्त्यागो वाह्यत्यागो न विद्यते ॥ १८ ॥

मामूली मक्खी मिठाई, कतवार या सड़ा घाव आदि किसी भी स्थान में बैठ सकती है। किन्तु मधुमक्खी केवल मधुवाले फूलों पर ही बैठती है ॥१४॥

इस कारण विशेष प्रयत्न से मन को विषयरूप कीचड़ से निकाल लेना चाहिए। उसके बाद शान्तचित्त होकर भगवान की आराधना करते हुए समय बिताना कर्तव्य है ॥१५॥

संसार में जो जो पदार्थ दिखाई या सुनाई पड़े अथवा जिनके विषय में चिन्ता की जाय, सभी अर्थ और काम रूप माया के आवरण मात्र हैं ॥१६॥

मिठाई या पान खाना तथा केश में तेल लगाना आदि का त्याग करना यथार्थ त्याग नहीं है, काम-काञ्चन का त्याग ही महान त्याग है ॥१७॥

जो गृहस्थ एकान्त स्थान में जाकर साधन-भजन करते हैं, उनका त्याग केवल मानसिक है, उससे वाहरी त्याग नहीं होता ॥१८॥

अन्तर्बहिश्च संन्यासी भवेत् त्यागसमन्वितः।
मायामयं जगद् दृष्ट्वा मनसापि न चिन्तयेत् ॥ १९ ॥
ज्ञानं सदसतोः सम्यग् विवेक इति विश्रुतः।
सांसारिक - द्रव्य - वृन्देऽरतिर्वैराग्यमुच्यते ॥ २० ॥
परमेतत्कष्टसाध्यं सकृदेव न लभ्यते।
उभयं लभते नित्यमभ्यासेन ध्रुवं नरः ॥ २१ ॥
इच्छाविभवयोस्त्यागो मनसाभ्यासतो भवेत्।
अन्तस्त्यागवशान्नूनं बहिस्त्यागस्य सम्भवः ॥ २२ ॥
केवलं मनसा त्यागो न त्यागः पूर्णतां व्रजेत्।
सप्रारब्धा हि संस्कारा मार्गे बाधां प्रकुर्वते ॥ २३ ॥

अन्तर और बाहर दोनों से त्याग होने पर ही लोग त्यागी और संन्यासी हो सकते हैं। संसार को मायाभय जानकर मन में भी उसकी चिन्ता उचित नहीं है ॥१९॥

सत् और असत् के सम्यक् ज्ञान को ही विवेक कहते हैं। उसी प्रकार अन्य सभी सांसारिक पदार्थों में अनासक्ति का नाम ही वैराग्य है ॥२०॥

किन्तु ऐसा विवेक-वैराग्य लाभ करना अत्यन्त कठिन है, केवल एक बार चेष्टा करने से ही उसे प्राप्त नहीं किया जा सकता। सदा अभ्यास करते रहने से मनुष्य अवश्य ही विवेक और वैराग्य का लाभ कर सकता है ॥२१॥

अभ्यास से ही पुत्रैषणा आदि रूप वासना तथा ऐश्वर्यभोग का त्याग मन में उत्पन्न होना सम्भव है। इसी प्रकार मानसिक त्याग होने से ही बाहरी त्याग होना सम्भव है ॥२२॥

केवल मानसिक त्याग से ही पूर्णत्याग नहीं होता। पूर्व जन्म के संस्कार और प्रारब्ध कर्म भी शुभ मार्ग में बाधा उत्पन्न करते हैं ॥२३॥

"भगवच्चिन्तनासक्तो मत्समीपे स्थितो भवान् ।
भवेन्निरन्तरं शान्त्यै" त्यागी कोऽप्युक्तवान्नृपम् ॥ २४ ॥
"त्वत्समीपे स्थितस्यापि भोगान्मुक्तिरसम्भवा ।
कानने वसतोऽप्यस्य राज्यं मे स्या"न्नृपोऽब्रवीत् ॥ २५ ॥
प्रायो मनुष्याश्चिरशान्तयेऽस्मिँल्लोके चतुर्दिक्ष्वनिशं भ्रमन्तः ।
श्रान्ताः परं भोगधनप्रसक्ता अन्ते विपद्भाजनतां प्रयान्ति ॥२६॥
अनेकभोगानुभवानुतप्तास्त्यागे विरागेऽप्यथ दत्तचित्ताः ।
भवन्ति, भोगेन विना कुतः स्युः स्वयं जनास्त्यागविचारशीलाः ॥२७॥

इति श्रीरामकृष्णोपदेशसाहस्र्यां 'त्यागो' नाम
चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

एक त्यागी व्यक्ति ने एकबार एक राजा से कहा था—"तुम यदि सदा मेरे पास रहकर भगवान का भजन करते रहो तो तुम शान्ति पा सकते हो ॥२४॥

इस बात को सुनकर राजा ने कहा—"आपके पास रहने से भी भोग से मुक्ति पाना मेरे लिए सम्भव नहीं है। आपके साथ वन में रहने पर भी वहीं मेरा राज्य स्थापित हो जायगा" ॥२५॥

साधारणतया मनुष्य चिर शान्ति तथा सुख की खोज में चारों ओर सदा भ्रमण करते रह कर थक जाते हैं। किन्तु यथार्थ शान्ति न पाकर वे पुनः काम-काञ्चन में आसक्त हो जाते हैं और अन्त में विपन्न हो जाते हैं ॥२६॥

अनेक प्रकार के भोग करने के बाद मनुष्य के मन में पश्चात्ताप आ जाता है और वैराग्य तथा त्याग की ओर मन जाता है। साधारणतया यही नियम है कि भोग के बिना त्यागशील तथा विचारशील होना भी सम्भव नहीं है ॥२७॥

श्रीरामकृष्णोपदेशसाहस्री का 'त्याग' नामक
चतुर्थ अध्याय समाप्त हुआ।

संसाराश्रमसाधना नाम पञ्चमोऽध्यायः

अनेकविघ्नैः परिवारितस्य संसारसंस्थस्य सुखं न योगः।
दारिद्रचरोगौ, कलहप्रिया स्त्री गृहेऽतिमूर्खस्तनयोऽविधेयः ॥ १ ॥
तथाप्युपायस्तत्रास्ते निर्जने प्रार्थना क्वचित्।
चेष्टा च तस्य लाभार्थमत्र कार्या पुनः पुनः ॥ २ ॥
येन संसारसम्बन्धः कञ्चित् कालं न ते भवेत्।
सांसारिकप्रसङ्गेषु नालापश्च जनैः सह ॥ ३ ॥
साधुभिः सह संसर्गः साक्षात्कारस्य कारणम्।
गृहेषु विषयासक्ति-वार्तालापस्तु केवलम् ॥ ४ ॥

संसाराश्रमसाधना नाम पंचम अध्याय

संसारसक्त व्यक्ति अनेक प्रकार के विघ्नों से घिरे रहते हैं, ऐसी अवस्था में उसके मन में सुख नहीं रहता। दरिद्रता, रोग, झगड़ालू पत्नी, अबाध्य मूर्ख पुत्र ही ऐसे विघ्न हैं ॥ १ ॥

ऐसी अवस्थाओं के रहते हुए भी शांतिलाभ का उपाय है। एकांत स्थान में बैठ कर भगवान से प्रार्थना तथा उन्हें प्राप्त करने के लिए बार बार चेष्टा करना ही वे उपाय हैं ॥ २ ॥

कुछ समय के लिए गृहस्थी के साथ तुम्हारा सम्बन्ध न रहे और अन्य मनुष्यों के साथ भी गृहस्थी के विषय में बातचीत न हो ॥ ३ ॥

साधुओं के साथ सत्संग करने से भगवान का दर्शन लाभ हो सकता है, किन्तु घर में रहने से केवल विषय सम्बन्धी बातचीत होती रहती है ॥ ४ ॥

भवरोगविनाशार्थं सत्सङ्गोऽपेक्ष्यतेऽनिशम् ।
भिषक्साहाय्यमप्राप्य कुतो रोगनिवारणम् ॥ ५ ॥
अनिशं वैद्यसङ्गत्या नाडीज्ञानं प्रजायते ।
वातपित्तकफादीनां न्यूनाधिक्यमतिस्तथा ॥ ६ ॥
ईश्वरं प्रति सत्सङ्गाद् अनुरागोद्भवो भवेत् ।
क्रमेण तस्य लाभार्थं व्याकुलं जायते मनः ॥ ७ ॥
साधुसङ्गवशादेव सदसद्भेदभावना ।
ब्रह्मैव वस्तु सन्नित्यं तद्भिन्नमसदुच्यते ॥ ८ ॥
भक्षणे परवृक्षस्य प्रसारितकरः करी ।
वार्यो निषादिनां तद्वन्मनोऽसत्पथगं त्वया ॥ ९ ॥

संसार रूप रोग की शान्ति के लिए सदा सत्संग करना आवश्यक है। चिकित्सक की सहायता न मिलने से रोग का निवारण कैसे हो सकता है ॥ ५ ॥

सदा चिकित्सक के साथ रहने से नाड़ीज्ञान और वात-पित्त-कफ का तारतम्य-बोध होता है ॥ ६ ॥

सत्संग करने से ईश्वर के प्रति अनुराग उत्पन्न होता है, उसके अनन्तर क्रमशः उन्हें प्राप्त करने के लिए मन व्याकुल होता है ॥ ७ ॥

साधु-संग करते रहने से सत् और असत् का भेदज्ञान उत्पन्न होता है। केवल ब्रह्म ही सत् वस्तु है, उससे भिन्न अन्य सभी पदार्थ असत् और अनित्य हैं ॥ ८ ॥

जैसे दूसरे के बाग के पेड़ों को खाने के लिए जब हाथी की सूँड़ उधर जाता है तो महावत अपने अंकुश के द्वारा उसे वशीभूत कर लेता है। इसी प्रकार कुमार्ग में जानेवाले मन को तुम सदा विचार के द्वारा संयत रखना ॥ ९ ॥

साधौ दृष्टे साधुभावः फले दृष्टे भुजिस्पृहा ।
युवति-दृष्टितः कामः शान्तये साधुदर्शनम् ॥१०॥

जलं शुष्कं क्रमेण स्याज्जलपात्रे पृथक् स्थिते ।
सरिदन्तर्गतं यत् तन्न शुष्कं जायते जलम् ॥११॥

अयो लोहकृतो गेहे तप्तं रक्तं भवेद् भृशम् ।
दाह शून्यमतः शान्तं तदेव स्थापितं पृथक् ॥१२॥

मानसं स्थितमेकान्ते गच्छेदासक्तिशून्यताम् ।
अशान्तं संसृतौ मग्नं ज्वालामालाभिराकुलम् ॥१३॥

सद्भिः सङ्गो गुरोः सेवा मनसः शान्तिकारणम् ।
न च दोषावहं तत्स्याच्छान्तं सत्संसृतौ स्थितम् ॥१४॥

साधु का दर्शन होने पर मन में साधुभाव ही उत्पन्न होता है । पका फल देखने से मन में उनके खाने की इच्छा होती है । सुन्दरी युवतीं को देखने से मन मैं भोग-वासना उत्पन्न होती है । अतः साधुदर्शन ही शान्ति का कारण है ॥१०॥

किसी बर्तन में जल रखने से वह कुछ समय के बाद सूख जाता है और यदि उस बर्तन को नदी के भीतर रखा जाय तो वह जल कभी सूख नहीं सकता ॥११॥

लोहार की दुकान पर आग में तपाया गया लोहा बहुत गरम और लाल हो जाता है और यदि उस लोहे को अन्य स्थान में रखा जाय तो वह कुछ समय के बाद ठंडा हो जाता है ॥१२॥

एकान्त स्थान में रहने से मन आसक्तिरहित हो जाता है, किन्तु वही मन गृहस्थी में मग्न रहने से विषय-चिन्ता की ज्वाला से व्याकुल हो जाता है ॥१३॥

साधुसंग और गुरु-सेवा मन की शान्ति के कारण हैं । यदि गृहस्थी में रहकर भी मन को शान्त रखा जाय तो वह दोष का कारण नहीं है ॥१४॥

जलेन तुल्यः संसारो मनः क्षीरसमं पुनः ।
जले चेत् स्थापितं क्षीरमेकतां तेन गच्छति ।।१५।।
दध्नः क्षीरविकाराच्चेन्नवनीतं पृथक्कृतम् ।
अम्भसि स्थापितं क्वापि नैति तेन समानताम् ।।१६।।
मानवो निर्विकारः स्यात् शुष्कं पत्रं तरोर्यथा ।
पत्रं तया दिशा धावेत् वाति वायुर्यया दिशा ।।१७।।
क्वचित्पतेत्सुखस्थाने संकरेऽपि क्वचित्पतेत् ।
यत्र त्वं स्थापितस्तेन स्थातव्यं तत्र पत्रवत् ।।१८।।
यदि तत्स्थानतोऽन्यत्र स्थाने संस्थापयेत्प्रभुः ।
तस्मिन्नपि त्वया स्थेय'मीश्वरेच्छा बलीयसी ।।१९।।

यह संसार जल के समान है और मन दूध के तुल्य है । यदि जल में दूध डाल दिया जाय तो दोनों एक हो जाते हैं ।।१५।।

यदि दूध के विकार दही से मक्खन निकालकर जल में रखा जाय तो वह जल के साथ नहीं मिल जाता ।।१६।।

इस संसार में मनुष्य को वृक्ष के सूखे पत्ते के समान निर्विकार अवस्था में रहना चाहिए । जिस ओर हवा चलती है पत्ते भी उसी ओर उड़कर जाते हैं। उसी प्रकार मनुष्य को श्रीभगवान जिस अवस्था में रखें उसी में तृप्त रहना चाहिए ।।१७।।

कभी वह पत्ता निर्मल स्थान पर जा गिरता है और कभी मलिन स्थान पर । भगवान ने तुम्हें जिस स्थान में रखा है, वहीं तुम सूखे पत्ते के समान पड़े रहो ।।१८।।

यदि भगवान तुम्हें उस स्थान से हटाकर अन्य स्थान में रखते हैं तो वहीं तुम्हें रहना चाहिए क्योंकि ईश्वर की इच्छा बलवान है ।।१९।।

धनेन केवलं लोको न महान् भवति क्वचित् ।
हृदि प्रकाशः सर्वत्र लक्षणं महतां मतम् ॥२०॥

निर्धनानां गृहं तैलाभावेन तमसावृतम् ।
किन्तु ज्ञानप्रकाशेन पूर्णं तद्देहमन्दिरम् ॥२१॥

एकप्रकारतः सर्वैरन्ते गन्तव्यमेव हि ।
कर्मभूमौ भवेद् वासः कियन्त्येव दिनानि नः ॥२२॥

कर्तव्यमेव नः कर्म देशे देशे गृहे गृहे ।
समाप्यैवं निजं कार्यं गन्तव्यं स्वपदं भवेत् ॥२३॥

सुवर्णकारः संगृह्य नलिकाव्यजनादिकम् ।
समाधुक्ष्य प्रदीप्याग्निं द्रावयेद्धेम यत्नतः ॥२४॥

इस संसार में केवल धन के द्वारा कोई मनुष्य महान् नहीं हो सकता । हृदय में ज्ञान का प्रकाश ही महान व्यक्ति का लक्षण है ॥२०॥

निर्धन व्यक्ति के घर में तेल न रहने से (दीपक के अभाव से) वहाँ अँधेरा छाया रहता है, किन्तु ज्ञान के प्रकाश से उसका देह-मन्दिर पूर्ण रहता है ॥२१॥

सभी प्राणियों को मृत्यु के समय एक ही मार्ग से जाना पड़ता है । इस कर्मभूमिरूप संसार में (अनन्तकाल की तुलना में) हमें थोड़े ही दिन रहना है ॥२२॥

हमें अपनें देश और गृह में कर्तव्य कर्म करना पड़ता है । काम समाप्त होने पर सभी को अपने-अपने स्थान में जाना पड़ता है ॥२३॥

सोनार आग फूँकने के लिए नल, पंखा आदि जुटा लेता है और उनसे अग्नि को तेज करके वह सोना गला डालता है ॥२४॥

असमापितकर्मासौ श्रमशीकरमण्डितः ।
विरम्य द्विगुणोत्साहः कार्यान्तमधिगच्छति ॥२५॥

बोधप्रतिज्ञे सुदृढेऽपेक्ष्येते साध्यसाधने ।
करुणावशतस्तस्य सफलीभवति श्रमः ॥२६॥

नामबीजे महाशक्तिरविद्यानाशकारणम् ।
बीजाङ्कुरं समुद्याति दृढामुद्भिद्य मृत्तिकाम् ॥२७॥

लोकसङ्गप्रसङ्गेषु दुर्गुणेभ्यः स्वरक्षणे ।
किञ्चित्तमोगुणापेक्षा तदनिष्टधियं विना ॥२८॥

सह्यस्त्वयेशभक्तेनापवादोऽसज्जनैः कृतः ।
असज्जनानां मध्येऽपि शक्यमीश्वरचिन्तनम् ॥२९॥

इस प्रकार काम करते हुए जब उसके चेहरे पर पसीना निकल आता है तो कुछ समय तक विश्राम लेकर अधिक उत्साह से वह पुनः अपना काम पूरा करता है ॥२५॥

साध्य की सिद्धि के लिए विशेष ज्ञान और दृढ़ प्रतिज्ञा आवश्यक है । भगवान की कृपा होने से साधक का श्रम सफल होता है ॥२६॥

भगवान के नाम-बीज में महान शक्ति है और उससे अज्ञान दूर हो जाता है । अङ्कुरित बीज मिट्टी को छेदकर ऊपर आ जाता है ॥२७॥

लोगों के साथ व्यवहार के समय दुष्ट व्यक्तियों से अपने को बचाने के लिए उन्हें हानि न पहुँचाने हेतु कुछ तमोगुण (आलस्य आदि) भी अपेक्षित होता है ॥२८॥

ईश्वर-भक्त को दुष्ट व्यक्तियों की निन्दा सहनी पड़ती है । ऐसे दुष्ट लोगों के संग में रहने पर भी भगवान की चिन्ता सम्भव है ॥२९॥

मुनयो व्याघ्रभल्लूकैर्हिस्रैः पशुभिरावृताः ।
ईशचिन्तापरा ह्यासन् शान्त्या काननवासिनः ॥३०॥
उपेक्षमाणे बुक्वारान् शुनां तदनुसारिणाम् ।
गच्छत्येव गजो, लोकनिन्दोपेक्ष्या त्वया तथा ॥३१॥

आदावीश्वरसंप्राप्तिर्जीवोद्धारादिकं पुनः ।
चित्तशुद्ध्यर्थमेव स्यादीशप्राप्तिसहायकम् ॥३२॥

तावत्कुटुम्बचिन्ता ते यावन्नोद्यमिनः सुताः ।
स्वभक्ष्यार्जनयोग्या हि त्यज्यन्ते शिशवोऽण्डजैः ॥३३॥

उक्तं चैतन्यदेवेन दया जीवेषु कीर्तनम् ।
वैष्णवानां तथा सेवा कार्यं संसारिणामिदम् ।३४॥

बाघ, भालू आदि हिंसक जन्तुओं के साथ मुनि-ऋषि लोग शान्ति से जंगलों में रहते थे और वहीं ईश्वर-चिन्ता में निमग्न रहते थे ॥३०॥

हाथी चला जाता है, कुत्ते उसके पीछे-पीछे भौंकते हुए दौड़ते जाते हैं, किन्तु हाथी उन पर ध्यान न देकर आगे बढ़ता जाता है, इसी प्रकार तुम्हें भी निन्दकों के प्रति उपेक्षा करनी चाहिए ॥३१॥

पहले ईश्वर-लाभ के लिए चेष्टा करनी चाहिए। जीवों के कष्ट-निवारण आदि कार्य चित्तशुद्धि के लिए आवश्यक हैं, और वैसे कार्य ईश्वर-लाभ के लिए सहायक हैं ॥३२॥

जब तक पुत्र आदि उपार्जन-क्षम न हों, तभी तक परिजनों के भरण-पोषण की चिन्ता करनी चाहिए। जैसे पक्षी के शावक उड़कर खाद्य संग्रह करने योग्य हो जायँ, तो बच्चों को वे छोड़ देते हैं ॥३३॥

श्रीचैतन्य देव ने कहा था—जीवों के प्रति दया, भगवान के नाम का संकीर्तन और वैष्णवों की सेवा— ये तीन गृहस्थों के कर्तव्य कर्म हैं ॥३४॥

गणिकाप्याकुलस्वान्ता भवादात्मानमुद्धरेत् ।
'नातः परं' वदन्तीत्थं केवलं हरिनामतः ॥ ३५ ॥

कामा नादृश्यतां यान्ति भगवद्दर्शनं विना ।
ईशे दृष्टे स्पृहाल्पाते प्रारब्धान्नास्ति दोषभाक् ॥ ३६ ॥

क्वचिच्चेत् कुत्सितो भावः समुदेति हृदि क्षणम् ।
हरिं संस्मृत्य निष्कास्यः स वहिर्मलमूत्रवत् ॥ ३७ ॥

आहारशुद्धयाचारेषु यावदावश्यकं चरेत् ।
न ज्ञानं दीर्घसूत्रे स्यात् अति सर्वत्र वर्जयेत् ॥ ३८ ॥

पाप कर्म करनेवाली गणिकायें अपना उद्धार कर सकती हैं यदि वे सङ्कल्प करती हैं कि "अब ऐसा कुकर्म मैं नहीं करूँगी," और वे केवल भगवान का नाम लेती हैं ॥३५॥

भगवान का दर्शन न होने तक कामना-वासना नष्ट नहीं होती। भगवान का दर्शन होने पर भी यदि प्रारब्धकर्मजनित छोटी-छोटी वासनाएँ रह जाती हैं तो उससे कोई हानि नहीं होती ॥३६॥

यदि कभी मन में कुत्सित भाव उत्पन्न होता है तो भगवान का स्मरण कर शरीर के मलमूत्र-त्याग की तरह उस कुभाव को मन से निकाल डालना चाहिए ॥३७॥

भोजन और आचार-विचार में जितनी शुद्धि आवश्यक है, करनी चाहए। दीर्घसूत्री होने से ज्ञान-लाभ नहीं होता, सभी विषयों में 'अति-भाव' का वर्जन करना कर्तव्य है ॥३८॥

हस्ते धृतदृतिं कश्चित् जलदानोद्यतं जनम् ।
तृष्णाऽऽकुलोऽब्रवीत् कश्चित् "पात्रं चर्ममयं तव" ॥ ३९ ॥

तृष्णार्तं दृतिमानाह 'मत्पात्रं पश्य निर्मलम् ।'
अपवित्रं तु ते पात्रं मलमूत्रादिसंङ्कुलम् ॥ ४० ॥

मानसं निर्मलीकर्तुं कार्यमेकादशीव्रतम् ।
याते वयसि संसार-त्यागेनेश्वरचिन्तनम् ॥ ४१ ॥

अपरैः सह संगम्य प्रेमभावं प्रदर्शय ।
एकीभूयेव वर्तेथास्त्यक्त्वा विद्वेषभावनाम् ॥ ४२ ॥

साकारं मन्यतेऽयं ना न निराकारमीश्वरम् ।
अयं पुनर्निराकारं तं, साकारविरोधवान् ॥ ४३ ॥

किसी प्यासे मनुष्य ने मशक हाथ में लेकर जल देने के लिए तैयार भिस्ती से कहा 'तुम्हारा मशक चमड़े का बना है, मैं उससे जल कैसे पिऊँगा ?' ॥३९॥

उस मशकवाले ने प्यासे आदमी से कहा—'मेरा यह पात्र देखो कैसा साफ है, मल-मूत्र से भरा तुम्हारा पात्र (शरीर) ही अपवित्र है' ॥४०॥

मन को पवित्र रखने के लिए एकादशी का उपवास करना चाहिए और उम्र बढ़ने पर गृहस्थी की चिन्ता छोड़कर ईश्वर-चिन्तन में मन लगाना चाहिए ॥४१॥

दूसरे मनुष्यों के साथ मिलकर प्रेमभाव प्रदर्शन करना उचित है। विद्वेष-भाव छोड़कर सब के साथ मिलकर सद्भाव से रहने की चेष्टा करो ॥४२॥

एक मनुष्य ईश्वर को साकार समझता है, वह निराकार पर विश्वास नहीं करता। दूसरा व्यक्ति ईश्वर को निराकार समझता है और साकार भाव का विरोध करता है ॥४३॥

अयं हिन्दुरयं मोहम्मदः ख्रिस्तमतस्त्वयम् ।
घृणाभावेन माद्राक्षीर्नासासङ्कोचपूर्वकम् ॥ ४४ ॥
पृथक्प्रकृतिरेतेषामेकीभावोऽस्तु तैस्तव ।
येनागारगतैः शान्तिरानन्दश्चानुभूयते ॥ ४५ ॥
गोपेन गोचरं नीता गावो नैकीभवन्ति किम् ?
सायं गृहं तु गच्छन्त्यः पुनर्यान्ति पृथक् पृथक् ॥ ४६ ॥
न प्रयान्ति सुखेनाशु-कामक्रोधादयोऽरयः ।
उपायस्तत्र तानन्यैर्मार्गैर्लोकः प्रवाहयेत् ॥ ४७ ॥
ईश्वराप्तौ स्पृहा कार्या भवेत्सच्चित्सुखे रतिः ।
न प्रयाति यदि क्रोधो भक्त्यमर्षं समाश्रय ॥ ४८ ॥

यह हिन्दू है, वह मुसलमान और तीसरा वह ईसाई है—इस प्रकार के घृणाभाव से नाक-भौं सिकोड़ना उचित नहीं है ।।४४।।

विभिन्न धर्मावलम्बियों के स्वभाव विभिन्न प्रकार के होने पर भी उनके साथ मिलकर सद्भाव से रहना संभव है । इस प्रकार मेलजोल के साथ रहने से सभी लोग अपने-अपने घर में शान्ति से रह सकते हैं ।।४५।।

अहीर लोग मैदान में गौओं को चराने के लिए ले जाते हैं । वहाँ दूसरे लोगों की गायों के साथ क्या वे मिल नहीं जातीं ? उसके बाद सन्ध्या-समय वे फिर पृथक् होकर अपने-अपने घर को चली जाती हैं ।।४६।।

काम-क्रोध-लोभ आदि रिपु सहज में नष्ट नहीं होते । इस कारण उन रिपुओं को घुमाकर दूसरे मार्ग में परिचालित करने की चेष्टा करनी चाहिए ।।४७।।

भगवान को प्राप्त करने के लिए कामना करनी चाहिए । इस प्रकार सच्चिदानन्द भगवान के प्रति अनुरक्त होना भी आवश्यक है । यदि क्रोध नहीं जाता, तो उसे भक्ति के क्रोध में रूपान्तरित कर दो ।।४८।।

"आः कथं चण्डिकानाम्ना नोद्धारोऽद्यापि जायते ?
किं मया चरितं पापं किं मे बन्धनकारणम् ?" ॥ ४९ ॥

लोभोऽपीश्वरलाभेऽस्तु मोहोऽस्त्वीशस्वरूपतः ।
'नित्यमीश्वरदासोहमात्मजोऽपि प्रभोरहम् ॥ ५० ॥

"पुण्यवानस्मि तद्भक्त्या धन्योऽहं नास्ति मत्समः" ।
षण्णामेवं रिपुणां त्वमध्वानं परिवर्तय ॥ ५१ ॥

भक्तिमार्गेणापि लभ्यस्तन्नामगुणकीर्तनात् ।
नात्रेन्द्रियजये चिन्ता रिपुनाशः स्वयं भवेत् ॥ ५२ ॥

(वह क्रोध इस प्रकार है) आः यह कैसा हुआ ? दुर्गानाम जप करने पर भी मेरा उद्धार नहीं हुआ ! मैंने क्या पाप किया है ? मेरे बन्धन का कारण क्या हो सकता है ? ॥ ४९ ॥

लोभ भी ईश्वर-प्राप्ति के लिए करना चाहिए। भगवान के अति सुन्दर रूप के प्रति मोह भी होना चाहिए। मैं सदा ईश्वर का दास हूँ और उनका मैं पुत्र हूँ—इस प्रकार की भावना रखनी चाहिए ॥ ५० ॥

उनकी भक्ति करने से मैं पुत्रवान और धन्य हो गया हूँ। मेरे समान और कोई नहीं है, ऐसा मात्सर्यभाव भी रहना अच्छा है। इस प्रकार से काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मात्सर्य, इन छः रिपुओं का गतिपथ घुमा दो ॥ ५१ ॥

भक्तिभाव से उनके नाम-गुणगान करने से भगवान की प्राप्ति हो सकती है। इस उपाय को अपनाने पर इन्द्रियजय की चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि भगवान का नाम लेने से इन्द्रियजय अपने आप हो जाती है ॥ ५२ ॥

अनुरागस्वरूपेण व्याघ्रेणाशु स्वयं हताः।
मुखं व्यादाय भक्ष्यन्ते कामक्रोधादयो मृगाः ॥ ५३ ॥
सरजः प्रेममार्गेऽस्मिन् आन्तरिन्द्रियनिग्रहः।
न रोचते नरायात्र विषयाणां सुखं यतः ॥ ५४ ॥
कुपथे तु प्रवृत्तस्य सन्मार्गे दुष्करं गतम्।
गुरूपदेशः श्रोतव्यः सर्वेषां मुक्तिरिष्यते ॥ ५५ ॥
नेयं मुक्तिः परं सिद्ध्येत् एकस्मिन्नेव जन्मनि।
अनेकजन्मनामन्ते प्राप्यते सा परा गतिः ॥ ५३ ॥
गुर्जर्या तु यथा यान्त्या वहन्त्या सजलां घटीम्।
आलपन्त्या हसन्त्या च दीर्घाभ्यासेन गम्यते ॥ ५७ ॥

भगवान के प्रति अनुरागस्वरूप बाघ—काम, क्रोध आदि हरिणों को मुँह खोलकर खा जाता है ॥ ५३ ॥

इस प्रकार भगवत्प्रेम के मार्ग में अन्तरिन्द्रिय मन का संयम अपने आप हो जाता है क्योंकि ऐसे भक्तों के मन में विषय-सुख आनन्ददान नहीं कर सकता ॥ ५४ ॥

कुपथ पर चलते रहने से सुपथ पर आना कठिन है। गुरु के उपदेश का श्रवण करना उचित है। सभी के लिए मुक्ति का द्वार खुला है ॥ ५५ ॥

किन्तु केवल एक ही जन्म में मुक्तिलाभ नहीं हो सकता। अनेक जन्मों की साधना से मुक्तिलाभ-रूप परमगति प्राप्त की जा सकती है ॥ ५६ ॥

जैसे गुजरात देश की स्त्रियाँ दीर्घ दिनों के अभ्यास से जलपूर्ण घड़ों को सिर पर ढोती हुई हँसती और बातें करती हुई आनन्द से अपने-अपने घर चली जाती हैं उसी प्रकार गृहस्थी के काम-काज करते हुए भी दीर्घकाल के अभ्यास के फलस्वरूप श्रीभगवान के प्रति मन को लगाया रखा जा सकता है ॥ ५७ ॥

जनकः कर्मसक्तोऽभूद् ध्यायन्नपि महेश्वरम् ।
एवमीशपदासक्तो संसारस्थो न लिप्यते ॥ ५८ ॥
'कुर्वन्नेवेह कर्माणि' ज्ञानमाप्नोति मानवः ।
संसृतिः कर्मणो भूमिः कर्म चाकाममाचरेत् ॥ ५९ ॥
किं कार्यं किमकार्यं च ज्ञेयं सद्गुरुशासनात् ।
ध्रुवं मनोमलो नश्येत् कर्माचरणतः शनैः ॥ ६० ॥
भिषग्वरो गदं हन्तुं ददात्यौषधमुत्तमम् ।
यावन्न रोगी नीरोगस्तावद्वैद्यो न तं त्यजेत् ॥ ६१ ॥
मनोदोषात् क्षतिर्यास्ते संसारस्थस्य नित्यशः ।
सा क्षतिः पूर्यते सम्यक् सन्यासाश्रयतः पुनः ॥ ६२ ॥

राजा जनक भगवान का ध्यान करते हुए सांसारिक कार्य में भी संलग्न रहते थे । इसी प्रकार भगवान के चरणकमल में अनुरक्त व्यक्ति गृहस्थी में रहने पर भी आसक्त नहीं होते ॥ ५८ ॥

गृहस्थी का काम करते हुए भी मनुष्य पूर्णज्ञान का अधिकारी हो सकता है, क्योंकि यह संसार कर्मभूमि है, किन्तु वह कर्म निष्काम होना चाहिए ॥ ५९ ॥

सद्गुरु के उपदेश से कर्म और अकर्म का ज्ञान होता है, शुभकर्म करते रहने से क्रमशः मन की मलिनता अवश्य ही दूर हो जाती है ॥ ६० ॥

श्रेष्ठ चिकित्सक रोग से मुक्त होने के लिए उत्तम औषध देते हैं । जब तक रोगी रोग से मुक्त नहीं होता, तब तक चिकित्सक रोगी का परित्याग नहीं करते ॥ ६१ ॥

गृहस्थ मनुष्य की पाप-चिन्ता-रूप मन के दोष से जो हानि होती है, संन्यास आश्रम का अवलम्बन करने से उस हानि की पूर्ति होती है ॥ ६२ ॥

जनकात्प्रथमं जन्म द्वितीयमुपनायनात् ।
संन्यासेन तृतीयं च त्रिविधं जन्म जीवने ।। ६३ ।।

सत्यं निखिलभूतानां हृदयस्थो जनार्दनः ।
तथापि सज्जनैः सङ्गः कर्तव्यो न तु दुर्जनैः ।। ६४ ।।

गजं नारायणं मत्वा कस्तस्यालिङ्गने रतः ।
यो ब्रूतेऽ'तः पलायस्व' तस्मिन्नपि न किं हरिः ।। ६५ ।।

आपो नारायणः सत्यं, पूजायां पात्रमार्जने ।
वाससां क्षालने किन्तु भिन्नं जलमपेक्ष्यते ।। ६६ ।।

मनुष्य के जीवन में तीन प्रकार के जन्म होते हैं—प्रथम जन्म पिता से, दूसरा जन्म उपनयन संस्कार से, और तीसरा जन्म संन्यास आश्रम ग्रहण करने से होता है ।। ६३ ।।

यह बात सत्य है कि सभी प्राणियों के हृदय में भगवान निवास करते हैं । फिर भी हमें केवल साधु मनुष्यों का ही संग करना चाहिए, दुर्जनों का संग नहीं ।। ६४ ।।

हाथी को नारायण समझकर कौन उसका आलिंगन करने जाता है ? मत्त हाथी सामने आने पर महावत लोगों से कहता है—"भाग जाओ, भाग जाओ ।" उसके भीतर भी नारायण ही है, उसकी बात भी माननी चाहिए ।। ६५ ।।

जल नारायण-स्वरूप है, यह बात जानने पर भी एक ही प्रकार का जल सब कामों में नहीं प्रयुक्त होता । पूजा का बर्तन मांजने और कपड़ा धोने के लिए भिन्न-भिन्न जल का व्यवहार किया जाता है ।। ६६ ।।

भक्ताभक्तौ साध्वसाधू उभौ नारायणात्मकौ ।
तथापि साधुभिर्भक्तैरिष्टः सङ्गो न दुर्जनैः ।। ६७ ।।

अभीष्टा सङ्गतिः कैश्चित् वार्तालापश्च कैरपि ।
काचित्सोपीष्यते वर्ज्यो न सर्वैः सर्वदैकता ।। ६८ ।।

आगत्य विषयासक्ताः शंसन्ति स्तुतिपाठकाः ।
भवानेवात्र तु ध्यान-दान-ज्ञानपरायणः ।। ६९ ।।

परं तेषां स्तुतिः शीर्षे दण्डाघातो विभाव्यताम् ।
आयान्ति ते समन्ताद्धि गृध्राद्याः कुणपं यथा ।। ७० ।।

भक्त, अभक्त, साधु, असाधु सभी नारायण-स्वरूप हैं सही, फिरभी साधुओं और भक्तों के साथ ही सम्बन्ध रखना चाहिए, दुर्जन के साथ नहीं ।। ६७ ।।

इस संसार में किसी के साथ मित्रता फलप्रद होती है तो किसी के साथ केवल बातचीत ही । और ऐसे भी मनुष्य हैं जिनके साथ बातचीत करने से भी हानि होती है । अतः सब के साथ एक प्रकार का व्यवहार करना उचित नहीं है ।। ६८ ।।

विषयों में आसक्त मनुष्य तुम्हारे पास आकर तुम्हारी प्रशंसा करते हुए कहते हैं कि इस संसार में केवल आप ही दानी, ज्ञानी और ध्यानी हैं ।। ६९ ।।

किन्तु ऐसे मनुष्यों के ऐसे स्तुति-वाक्यों पर तुम्हें सोचना चाहिए कि तुम्हारे सिर पर डंडे का आघात पड़ा है । गीध आदि पक्षी जिस ढंग से मुर्दे की ओर दौड़ते हैं, उसी तरह वैसे व्यक्ति भी अपने स्वार्थ के लिए चारों ओर से तुम्हारे पास आते हैं ।। ७० ।।

ईशलाभपथे विघ्नं या करोति न सा प्रसूः।
न भवेत्कोऽपि दोषस्तद् वचनाश्रवणे तव ॥ ७१ ॥

नापि दोषो गुरोर्वाक्य-लंघने भगवत्कृते।
लंघितं भरतेनासीद् रामार्थं जननीवचः ॥ ७२ ॥

गोप्यो न मेनिरे वाक्यं पतीनां कृष्णदर्शने।
हरिहेतोर्न शुश्राव प्रह्लादो वचनं पितुः ॥ ७३ ॥

गुरोः शुक्रस्य वचनं वामन-प्रीतये बलिः।
तिरश्चक्रेऽथ रामार्थं भ्रातृवाक्यं विभीषणः ॥ ७४ ॥

जो माता पुत्र को ईश्वर-प्राप्ति के मार्ग में जाने से रोकती है, वह माता नहीं है। ऐसे स्थल में उनकी बात न मानने से तुम्हें कोई हानि नहीं होगी ॥ ७१ ॥

उसी प्रकार भगवान के मार्ग में जाने के लिए गुरुवाक्य का उल्लंघन करने से भी तुम्हें कोई हानि नहीं होगी। श्रीरामचन्द्र के लिए भ्रातृभक्त भरत ने अपनी माता के वाक्य का उल्लंघन किया था ॥ ७२ ॥

श्रीकृष्ण का दर्शन करने के लिए गोपिनियों ने अपने-अपने पति का निषेध नहीं माना था। भक्त प्रह्लाद ने भी भगवान के लिए पिता की बात नहीं मानी थी ॥ ७३ ॥

राजा बलि ने भगवान वामनदेव को प्रसन्न करने के लिए गुरु शुक्राचार्य की बात की उपेक्षा की थी। विभीषण ने भी श्रीरामचन्द्र के लिए बड़े भाई रावण की बात नहीं मानी थी ॥ ७४ ॥

"मा गा ईश्वरमार्गेण" वर्जयित्वा त्विदं वचः ।
श्रोतव्यं सर्वमन्यत्ते प्राप्तिः सर्वोत्तमा हरेः ॥ ७५ ॥
ऋषीणां पितृदेवानामृणैर्मर्त्योऽत्र जायते ।
ऋणद्वयं तथैवान्यत् जननी परिवारयोः ॥ ७६ ॥
परिवारस्य भार्याया उपवासेन मानवः ।
इच्छेदात्महितं यस्तु सोऽधमः प्रोच्यते गृही ॥ ७७ ॥
जीवनं सफलं सूनोः ऋणे मातुरपाकृते ।
त्यक्तसङ्गोऽपि चैतन्यप्रभुरानर्च मातरम् ॥ ७८ ॥
आत्मा वै जायते पुत्रो न भेदः पितृपुत्रयोः ।
पुत्ररूपेण यो भक्तो भोगी स पितृरूपतः ॥ ७९ ॥

'ईश्वर लाभ के मार्ग में मत जाओ' इस बात को छोड़कर गुरुओं की सभी बातें माननी चाहिये क्योंकि भगवान-लाभ करना सभी कर्मों के ऊपर है ॥ ७५ ॥

मनुष्य इस संसार में पितृऋण, ऋषिऋण और देवऋण लेकर जन्मग्रहण करता है इसके अतिरिक्त मातृऋण और परिवारऋण नामक और भी दो ऋण हैं ॥ ७६ ॥

जो मनुष्य अपनी पत्नी तथा परिजनों को उपवासी रखकर अपना कल्याण चाहता है, वह गृही अधम होता है ॥ ७७ ॥

मातृऋण का परिशोध कर सकने से भी पुत्र का जीवन सफल हो सकता है । चैतन्य देव ने सर्वसंग का परित्याग करके भी अपनी माता की पूजा की थी ॥ ७८ ॥

पिता ही पुत्र रूप में जन्मग्रहण करते हैं, इस कारण पिता और पुत्र में कोई भेद नहीं है । पुत्र रूप में आत्मा ही पितृभक्त और पिता-रूप में वही आत्मा विषयभोगी है ॥ ७९ ॥

सच्चरित्रसुतप्राप्तिः पितुः पुण्यस्य लक्षणम् ।
कर्तुः पुण्यफलं यद्वत् शुद्धं पुष्करिणीजलम् ॥ ८० ॥

शिवपूजारता लोकाः पुष्पचन्दनतत्पराः ।
क्रोधहिंसाकुबुद्धिभ्यो मोचयेयुः स्वमानसम् ॥ ८१ ॥

जननी यावदास्तेऽत्र तावत्तत्पोषणादिकम् ।
चिन्तनीयं कुटुम्बस्य भारो हि निहितस्त्वयि ॥ ८२ ॥

ईश्वरो धारयेद्भारं त्वयि वोढुमनीश्वरे ।
भक्तानाममसमर्थानां योगक्षेमौ वहेत्प्रभुः ॥ ८३ ॥

चरित्रवान् पुत्र लाभ करना पिता के पूर्वजन्म के पुण्य के फलस्वरूप ही सम्भव है। यदि किसी तालाब का जल निर्मल होता है तो उसके खोदनेवाले व्यक्ति के पूर्व-जन्म के पुण्य का फल कहा जाता है ॥ ८० ॥

जो मनुष्य शिवपूजा करते हैं, उनका फूल, चन्दन आदि का संग्रह करने में बहुत समय बीत जाता है। फलस्वरूप वे अपने हृदय को क्रोध-हिंसा आदि कुवासनाओं से मुक्त रख सकते हैं ॥ ८१ ॥

जब तक जननी जीवित रहती हैं, तब तक उनके भरण-पोषण की चिन्ता करनी चाहिए। इसके अतिरिक्त अपने परिजनों के पालन-पोषण का भार भी तुम्हारे ऊपर दिया गया है। उनके सम्बन्ध में भी चिन्ता करना कर्तव्य है ॥ ८२ ॥

यदि तुम उस कर्तव्य का भार वहन करने में असमर्थ हो जाओ, तो उसे भगवान् के ऊपर छोड़ देना चाहिए क्योंकि वे सभी भारों का वहन करने में समर्थ हैं। असमर्थ भक्तों के योगक्षेम का भार वे ही वहन करते हैं। (यह बात गीता में बतायी गयी है) ॥ ८३ ॥

पित्रोस्त्यागो न कर्तव्यः सर्वावस्थासु सूनुना ।
अप्रसन्नौ यदि स्यातां तौ, ते धर्मो वृथा भवेत् ॥ ८४ ॥

नश्यद्धनं वाद-कुपुत्र-चोर-वैद्यादिमार्गैः खलु रक्षणीयम् ।
त्यागेन पात्रे पुरुषार्थसिद्ध्यै जलं तड़ागस्य यथा प्रणाल्या ।८५।

पुत्रादिष्वधिका प्रीतिर्नेष्टा गार्हस्थ्यजीवने ।
ईश्वरीयकथा-सङ्गात् शान्तिस्तत्राधिगम्यते ॥ ८६ ॥

प्रथमं नावमारोहेद् अवरोहेत्ततोऽन्ततः ।
द्रष्टव्यं भवता किञ्चित् प्रमादाद् विस्मृतं किमु ? ॥ ८७ ॥

किसी भी अवस्था में अपने माता-पिता का परित्याग करना पुत्र के लिए कर्तव्य नहीं है। यदि वे असन्तुष्ट होते हैं तो तुम्हारे सभी धर्म-कर्म निष्फल हो जायेंगे ॥ ८४ ॥

झगड़ा, कुपुत्र, चोर, चिकित्सक आदि के कारण अनेक प्रकार से धन नष्ट होते हैं। अतः सब प्रकार के प्रयत्नों से धन की रक्षा करनी चाहिए। जैसे तालाब का जल नाली खोदकर अन्न उत्पन्न करने के लिए खेतों में लिया जाता है उसी प्रकार सर्वोच्च पुरुषार्थ लाभ के लिए सत्पात्र को धन-दान करना आवश्यक है ॥ ८५ ॥

गृहस्थ के जीवन में पुत्र आदि के प्रति अधिक स्नेह अच्छा नहीं है। इसी आश्रम में भगवान् की कथा का प्रसंग करने से मन में शान्ति-लाभ होता है ॥ ८६ ॥

नौका आदि किसी यान में सबसे पहले सवार होना और सबसे पीछे उतरना उचित है, क्योंकि देख लेना चाहिए कि तुम्हारी कोई चीज पड़ी रह गयी है या नहीं ॥ ८७ ॥

भवेत्सर्वत्र कुशलं सुकृतिन्यागते गृहम् ।
कुत्सिते परमायाते जायते सर्वतोऽशुभम् ॥ ८८ ॥

असाध्वन्नग्रहः शीर्षशूलदो नानकोऽब्रवीत् ।
असद्व्यापारतः प्राप्तं न यच्छेत्साधवे धनम् ॥ ८९ ॥

गुरुस्तु सच्चिदानन्दो न मन्तव्यः स मानुषः ।
मन्त्रसिद्धिरनेनैव विश्वासः सिद्धिकारणम् ॥ ९० ॥

शिष्यः शूद्रोऽप्येकलव्यो विश्वासेनैव मानसे ।
द्रोणं सम्पूज्य मृण्मूर्तौ धनुर्विद्याचणोऽजनि ॥ ९१ ॥

यदि कोई पुण्यात्मा व्यक्ति घर में पधारते हैं तो सर्वत्र मंगल ही होता है, और यदि कोई दुष्ट घर में घुस जाता है तो सभी ओर अमंगल की शंका होती है ॥ ८८ ॥

साधु नानक ने कहा था कि दुष्ट व्यक्ति का अन्न खाने से सिरदर्द की तरह कष्ट होता है और असद् उपाय से अपार्जित धन साधुओं की सेवा में लगाना भी उचित नहीं है ॥ ८९ ॥

गुरु सच्चिदानन्दस्वरूप हैं, उनको मनुष्य समझना उचित नहीं है, क्योंकि उनकी सहायता से मन्त्रसिद्धि का लाभ होता है, अर्थात् जीवन का उद्देश्य सिद्ध होता है । ईश्वर-बुद्धि से गुरु के ऊपर पूर्ण विश्वास से ही सिद्धिलाभ सम्भव है ॥ ९० ॥

एकलव्य नामक शूद्र शिष्य मन के ऐकान्तिक विश्वास के बल से ही द्रोणाचार्य की मिट्टी की मूर्ति की पूजा करके धनुर्विद्या में पारंगत हो गया था ॥ ९१ ॥

वणिग्भ्यः क्रीतवस्तूनि वीक्ष्य मूल्यं समर्पयेत् ।
प्रतारणा तच्छब्देषु ते सर्वे न हि धार्मिकाः ॥ ९२ ॥
धूमावती षोड़शी च ताराथ भुवनेश्वरी ।
एता गृहेषूग्रकाल्यो न रथ्याः पूजनं विना ॥ ९३ ॥
चिरं यत्र तपोध्यानजपोपास्तिपरा नराः ।
तत्रेश्वरीयभावानां राशिस्तस्यामला च भा ॥ ९४ ॥
पुरा तीर्थेषु सद्भक्ता सिद्धा ईश्वरमीक्षितुम् ।
आगत्य त्यक्तसर्वस्वा दर्शनानन्दमाप्नुवन् ॥ ९५ ॥
इतरस्थानतस्तीर्थान्यूचुर्गुरुतराण्यतः ।
सर्वत्रावस्थितेऽपीशे तत्कान्तिस्तत्र भूयसी ॥ ९६ ॥

बनिए की दूकान से खरीदी हुई वस्तु अच्छी तरह देखकर दाम देना चाहिये क्योंकि उनकी बातों में धोखा रह सकता है और वे सब धार्मिक भी नहीं होते ॥ ९२ ॥

दस महाविद्यायों में धूमावती, षोड़शी, तारा और भुवनेश्वरी—ये चार काली मूर्तियाँ घर में रहें तो उनकी पूजा अवश्य करनी चाहिए। उनकी पूजा न करके रखना उचित नहीं है। ॥ ९३ ॥

जिस स्थान पर बहुत दिनों से लोग तप, ध्यान, जप, उपासना, आदि करते हैं, वहाँ ईश्वरीय भाव प्रगट होता है और वहाँ भगवान् का पवित्र प्रभाव उपलब्ध होता है ॥ ९४ ॥

प्राचीन समय में साधु-महात्मा तथा भक्त भगवान् को प्राप्त करने के लिए विभिन्न तीर्थों में जाते थे, और वे सर्वस्व का त्याग करके ईश्वर-दर्शन का आनन्द पाते थे ॥ ९५ ॥

साधारण स्थान से तीर्थस्थान का माहात्म्य अधिक है। सर्वव्यापी भगवान के सारे स्थानों में रहने पर भी तीर्थस्थानों में उनका प्रकाश अधिक है ॥ ९६ ॥

सर्वत्र भूमिखनने जलं यद्यपि लभ्यते ।
ह्रदपुष्करसान्निध्ये प्राप्यमल्पप्रयत्नतः ॥ ९७ ॥

अत्रैव यदि वासेन भक्तिलाभो भवेत्तव ।
किं काशीयात्रया यत्र भक्तिस्तत्रैव काशिका ॥ ९८ ॥

सद्घासाधिकभक्षणेन परितस्तुष्टं यथा धेनुकम् ।
शान्तं स्थानमथाधिगम्य ससुखं रोमन्थमभ्यस्यति ॥
एवं निर्मलपुण्यतीर्थप्रभृतिस्थानानि वीक्ष्यादराद्
एकान्ते भवभावभावितमनावासं सुखेनाचर ॥ ९९ ॥

मग्नं मनो रूपरसादिवृन्देऽलग्नं चिरं यत्परमेशभावे ।
तीर्थामरस्थानविलोकनेन तद्भक्तिमार्गप्रवणं विधेयम् ॥ १०० ॥

भूमि खोदने पर सभी स्थानों में जल मिलता है सही, किन्तु झील या तालाब के किनारे थोड़ी चेष्टा करने से ही जल मिल जाता है ॥ ९७ ॥

इसी स्थान में रहने से यदि तुम्हें भगवान् में भक्ति-लाभ होता है तो काशी जाने की आवश्यकता क्या है ? जहाँ हृदय में भक्ति हो, वहीं वाराणसी के तुल्य है ॥ ९८ ॥

जैसे गाय भरपेट घास खाकर तृप्त हो जाती है और किसी शान्त स्थान में जाकर आराम से जुगाली करती है ठीक उसी तरह पवित्र पुण्यतीर्थ आदि का दर्शन करके श्रद्धा के साथ ईश्वर में मन को संलग्न करके एकान्त स्थान में आनन्द से निवास करो ॥ ९९ ॥

रूप, रस आदि विषयों में मन लीन होकर रहता है किन्तु परमेश्वर के भाव में कुछ समय भी वह संलग्न नहीं रहना चाहता । इस कारण पुण्य-तीर्थ और देवमन्दिर आदि का दर्शन करके मन को भक्तिमार्ग में संचालित रखना उचित है ॥ १०० ॥

काशीं गतोऽहं मणिकर्णिकायामद्राक्षमेकं पुरुषं महान्तम् ।
शुभ्राकृतिं पीतजटाकलापं शान्तं श्मशानक्रमतत्पराङ्घ्रिम् ।। १०१ ।।
आगत्य स प्रतिचितिं श्रवणे सयत्नमुत्थाप्य देहिनमुपादिशदग्र्यमंत्रम् ।
देवी च पार्श्वमुपगम्य शरीरिजाग्रद्उत्स्वप्नसुप्तिभवबन्धनमोचिकासीत् १०२

प्रायो वदन्ति मनुजाः "स्वयमीश्वरेच्छा
संसार एव परमः पुरुषार्थ" इत्थम् ।
इष्टास्तिमूढ़पशुवद्भुवि केवलं तत्-
कामस्य पूर्तिरिति साधु विचारणीयम् ।। १०३ ।।

मृतेषु बन्धुष्वथवा बुभुक्षाखिन्नेषु किं स्याद्भगवत्सदिच्छा ।
स्त्रीबन्धुपुत्रार्थगृहेषु नित्यं माया वशात्त्वं ममतापरीतः ।।१०४।।

जब मैं काशी गया था तब मैंने मणिकर्णिका में शुक्ल-वर्ण वाले पीली जटाधारी श्मशानचारी एक शान्त ज्योतिर्मय पुरुष को देखा था ।। १०१ ।।

हर एक चिता के पास आकर वे हर एक शरीर को यत्न से उठाकर उसके कान में श्रेष्ठ तारक मन्त्र दे रहे थे और सर्वशक्तिमयी भगवती भी पास आकर हर एक व्यक्ति के जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति-रूप संसार-बन्धन खोलकर उसके लिए निर्वाण का द्वार खोल रही थीं ।। १०२ ।।

लोग प्रायः कहते हैं—'संसार ही परमपुरुषार्थ है, यही ईश्वर की इच्छा है'। किन्तु क्या मूढ़ पशु की तरह केवल कामवासना की पूर्ति के लिए ही मनुष्य का जन्म हुआ है ? यह साधुओं को विचारना चाहिए ।। १०३ ।।

यदि तुम्हारे किसी स्वजन की मृत्यु हो जाय या कोई भूख के मारे व्याकुल हो, तो उस अवस्था को क्या तुम ईश्वर की इच्छा मानोगे ? माया के वश तुम सदा पत्नी, पुत्र, गृह-क्षेत्र आदि के साथ ममत्व-बुद्धि के बन्धन से कष्ट पा रहे हो ।। १०४ ।।

न माययास्ते सदसद्विवेकस्तथैव कर्ताहमिति भ्रमोऽयम् ।।
तत्त्यागवान् स्याः समये तथापि न युज्यते त्यागविधिर्बलेन ।। १०५ ।।

भोगासक्तिविनाशपूर्वमनिशं त्वत्पादपद्मे रतिः ।
स्यादित्थं परमेश्वरस्य पुरतः कार्या त्वयाभ्यर्थना ।।
आकाशे शकुनिश्चरत्यथ धरा-नीड़े मनः स्थापयन् ।
कुर्वंस्तत्स्मरणं विधेहि विधिवत् संसारकार्याण्यपि ।। १०६ ।।

इति श्रीरामकृष्णोपदेशसाहस्र्यां संसाराश्रम-साधना
नाम पञ्चमोऽध्यायः ।

इस माया के कारण ही सत् और असत् का भेदज्ञान नहीं रहता, इसी कारण मैं कर्त्ता, भोक्ता हूँ, ऐसा भ्रम उत्पन्न होता है । अतः समय के रहते ज्ञानप्राप्ति के लिए त्यागी होना आवश्यक है । किन्तु बलपूर्वक त्याग करना उचित नहीं है ।। १०५ ।।

भोगवासना छोड़कर 'हे भगवन् ! अपने चरण-कमलों की भक्ति मुझे दो'—ऐसी प्रार्थना करनी चाहिए । जैसे कोई पक्षी आकाश में उड़ते रहने पर भी नीचे घोंसले के बच्चों के प्रति उसका मन पड़ा रहता है, उसी प्रकार भगवान् के प्रति मन रखकर संसार का कार्य करना चाहिए ।।१०६।।

श्रीरामकृष्णोपदेशसाहस्री का संसाराश्रमसाधना नामक
पञ्चम अध्याय समाप्त हुआ ।



गृहस्थाश्रमोनाम: षष्ठोऽध्यायः

संसारजाले पतिताः पुमांसः स्वात्मानमेवं न विभावयन्तः ।
दूरं प्रयान्तीशकथाप्रसङ्गाद् इयान्नः काल इति ब्रुवन्तः ॥ १ ॥
शोकाकुलाः पुत्रकदम्बकार्थं भवेत्किमेषामिति चिन्तयन्तः ।
कृतेन येनानुभवन्ति दुःखं तदेव कुर्वन्त्यनिशं विमूढाः ॥ २ ॥
क्रमेलकः कण्टकभक्षणेनानिशं स्रवद्रक्तरसाक्तवक्त्रः ।
त्यजेन्न तद्भक्षणलक्षणं सं क्षणं वृथाऽत्यन्तमदान्वितत्वात् ॥ ३ ॥
क्वचिन्नरः पुत्रविनाशखिन्नः क्वचित्सुतोद्वाहविचारमग्नः ।
तथापि पुंत्राल्लँभतेऽनुवर्षं ब्रूते च सर्वोऽयमदृष्टदोषः ॥ ४ ॥

संसार-जाल में आबद्ध व्यक्ति अपना स्वरूप नहीं जान सकते, वे भगवत प्रसङ्ग से भी दूर रहते हैं और कहते हैं कि वैसी बातें सुनने को हमें समय कहाँ है ? ॥ १ ॥

अपने पुत्र-परिवार के लिए वे बहुत ही अधिक चिंतित रहते हैं और सोचते हैं कि मेरे न रहने से इन लोगों की कैसी अवस्था होगी ? जिस काम को करने से दुःख होता है, अज्ञानी व्यक्ति सर्वदा वही काम करते हैं ॥ २ ॥

ऊँट सदा काँटों वाली घास खाता है, जिससे मुख में घाव होते हैं और उनसे खून गिरने लगता है । विशेष रूप से मदमस्त रहने के कारण वह क्षण-भर के लिए भी कण्टक-भक्षण नहीं छोड़ता ॥ ३ ॥

कहीं मनुष्य पुत्र की मृत्यु से शोकार्त और कहीं कन्या के विवाद के लिए चितामग्न रहता है । इतना होते हुए भी उसके घर में हर साल प्रजावृद्धि होती रहती है किन्तु वह कहता है कि ऐसा होना अदृष्ट का दोष है ॥ ४ ॥

तीर्थाटनेऽपीश्वरचिन्तनार्थं संसारिणो नावसरः कदाचित् ।
कुटुम्बभारोद्वहनप्रयत्नैर्यतो गतप्राण इवाल्पबुद्धिः ॥ ५ ॥
कदापि देवालयमेत्य दैवात् स्वापत्यकल्याणकृते विलुठ्य ।
गृह्णन् प्रसादं बहुशोऽभिधत्ते "पुत्रा ममैते सुखिनो भवन्तु" ॥ ६ ॥
स्वदारपुत्रोदरपूर्तिहेतोः सेवाप्रशंसानृतवञ्चनाभिः ।
धनागमेच्छुः खलु बद्धजीवः परेशभक्तान् वदतीह मूढ़ान् ॥ ७ ॥
संसारवार्ता-प्रवणस्य पुंसो बाह्यव्रतस्नानजपादिभिः किम् ?
प्रयाणकाले विषयं स्मरोच्चेदवश्यमस्येह जनिर्नृलोके ॥ ८ ॥
यं यं हि भावं मनुजोऽन्तकाले स्मरन् जहातीह कलेवरं स्वम् ।
तद्बद्धचेताः समुपैति तं तं गीतावचोऽप्यत्र न किं प्रमाणम् ॥९॥

गृहस्थ तीर्थयात्रा करते समय भी कभी ईश्वर-चिन्ता का अवसर नहीं पाते । वैसे अल्पबुद्धिवाले व्यक्तियों के प्राण अपने कुटुम्ब के पोषण का भार ढोते हुए ही निकल जाते हैं ॥ ५ ॥

कभी एकाएक देवमन्दिर में जाकर भी वे पुत्र-पौत्रों की कल्याण-कामना करते हुए लोट-पोट होते हैं । तीर्थ में प्रसाद-ग्रहण के समय वे प्रार्थना करते हैं कि मेरे पुत्र-पौत्र सुखी रहें ॥ ६ ॥

संसार में आबद्ध मनुष्य अपने स्त्री, पुत्र आदि के उदर भरने के लिए तथा धनलाभार्थ दूसरों की सेवा, खुशामद, मिथ्या, वञ्चना आदि उपायों का अवलम्बन करते हैं । किन्तु वे ईश्वरभक्ति-परायण लोगों को मूर्ख कहते हैं ॥ ७ ॥

जो लोग सदा गृहस्थी की बातचीत करते रहते हैं उनके बाहरी व्रत, स्नान, जप आदि किस काम के हैं ? मृत्यु के समय वे लोग जिन विषयों की चिन्ता करते हैं, अगले जन्म में वे उसी को पाते हैं । अतः सदा ही ईश्वर की चिन्ता करनी चाहिए ॥ ८ ॥

मृत्यु के समय मनुष्य जिन विषयों की चिन्ता करते हुए शरीर छोड़ता है, उसी में चित्त आसक्त रहने के कारण परवर्ती जन्म में वह उसी को पाता है । इस विषय में क्या गीतावाक्य (८।६) प्रमाण नहीं है ? ॥ ९ ॥

हृष्टः शुकः किं निजपिञ्जरस्थो रामेति कृष्णेति रटेन्न नित्यम् ।
परं बिड़ालेन धृतो यदायम् करोति 'कें कें' इति भीतभीतः ॥१०॥
प्रियं नितान्तं भरतः क्षितीशो निजान्तकाले हरिणं विचिन्त्य
तमाह्वयन् स्नेहभरादभीक्ष्णं स्वयं स लेभे हरिणस्य जन्म ॥११॥
कामेन बद्धोऽप्यथ काञ्चनेन संसारवाञ्छृंखलिताखिलाङ्गः ।
स्थितः सुखं निर्भयतामुपेत्य वन्धं न जानाति विनाशहेतुम् ॥१२॥
न चास्य योगो हरिचिन्तनेऽस्ति वृथा विलासे समयः प्रयाति ।
तस्यान्तकाले परिवारवर्गो ब्रूते "कृतं किं भवता, कृते नः" ॥१३॥
यत्काकचञ्च्वोल्लिखितं फलं तद् योग्यं कथं देवनिवेदनार्थम् ।
संसारक्तोऽपि नरस्तथैवं कुतो महात्कार्यमुपक्रमेत ? ॥१४॥

अपने पिंजड़े में बैठकर सुग्गा आनन्द से राम-राम कृष्ण-कृष्ण कहता है, किन्तु जब उसे बिल्ली आकर पकड़ती है तब वह सुग्गा भय से टें-टें रव से चिल्लाता रहता है ॥ १० ॥

भरत नामक राजा मृत्यु के समय अपने अत्यन्त प्रिय मृगशावक की चिन्ता करते हुए तथा पुकारते हुए प्राण छोड़ने के फलस्वरूप अगले जन्म में हरिणयोनि प्राप्त हुए थे ॥ ११ ॥

सांसारिक मनुष्य काम-कांचन के जाल में इस ढङ्ग से आबद्ध रहते हैं, मानो उनके हर एक अंग-प्रयंग सांकल से बँधे हैं। वे उस कारागार में ही आनंद से रहते हैं। वे उसमें किसी प्रकार के भय की आशंका नहीं करते और जानते भी नहीं कि उनका यह बन्धन ही उनके विनाश का कारण होगा ॥ १२ ॥

उस प्रकार के संसारी मनुष्य का चित्त कभी भगवच्चिन्ता में संलग्न नहीं होता। उसका सारा समय विषय-चिन्ता में ही नष्ट हो जाता है। उसकी मृत्यु के समय उसके परिवार के लोग कहते हैं कि "आप हमारे लिए क्या प्रबन्ध कर गये ?" ॥ १३ ॥

जैसे कौवे के द्वारा चोंच मारा गया फल देवता का भोग नहीं लगता उसी प्रकार संसारासक्त व्यक्ति कैसे भगवान-लाभ की चेष्टा करेगा ? ॥१४॥

निर्माय कीटः स्वगृहं मृदंशैरिह स्वमावद्धमहो विधत्ते।
नालं ममत्वाद्बहिरेतुमन्त्तं प्रयाति तद्वद्भवबद्धजीवः ॥ १५ ॥

कदापि कुर्यादियमीशचिन्तां संदिग्धमेवास्य मनस्तथापि।
आकृष्यते संसृतिभावबन्धैः पुनः पुनर्विस्मृतदिव्यतेजाः ॥ १६ ॥

करीकृतस्नानविधिर्विधत्ते गात्रं पुनः कर्दमधूलिसङ्गम्।
आलानबद्धस्तदनन्तरं चेत् तिष्ठत्ययं निर्मलकाय एव ॥ १७ ॥

भोगे समासक्तिकृते कथञ्चित् विशुद्धहृन्नावसरं लभेत।
श्रद्धेश्वरे जीवनशुद्धिहेतुः श्रद्धाविहीनस्य हि कर्मभोगः ॥ १८ ॥

दीमक आदि कीट मिट्टी के अंशों से अपना घर बनाता है, और उसी घर में अपने को आवद्ध कर डालता है ! उस घर के प्रति अत्यन्त आसक्ति रहने से वह उससे बाहर नहीं आ सकता और उसी में वह मर कर पड़ा रहता है। बद्ध जीव की अवस्था भी वैसी ही है ॥ १५ ॥

वैसे मनुष्य के मन में यदि कभी ईश्वर-चिन्ता उदित हो भी किंतु उसके मन में सन्देह रह जाता है। बार-बार संसार-बन्धन में उसका मन आकृष्ट होता रहता है और वह अपना उज्ज्वल स्वरूप भूलकर आत्मविस्मृत हो रहता है ॥ १६ ॥

हाथी जल में नहा कर भी फिर से वह अपने शरीर को कीचड़ और धूल से मलिन कर डालता है। स्नान के बाद यदि उस हाथी को खूंटे में बाँध रखा जाय तो उसका शरीर निर्मल रह सकता है ॥ १७ ॥

जिसका मन विशुद्ध हो गया है, उसमें भोग-विलास की आसक्ति का भय नहीं रहता। उसी प्रकार ईश्वर के प्रति चित्तशुद्धि का कारण श्रद्धा होने पर कर्म का भोग होता नहीं। उस श्रद्धा के न रहने पर साधारण मनुष्य का केवल प्रारब्ध-कर्म-भोग ही होता रहता है ॥ १८ ॥

भवेद्गरीयान् खलु कोऽभ्युपायो येनान्तकाले प्रभुचिन्तनाऽऽशा ।
अभ्यासयोगे क्रियतां प्रयत्नस्तेनावशिष्टे समये स्मृतिः स्यात् ॥१९॥

'धीमानहं संसृतिखेलनेऽस्मिन्' ब्रूतेः न चावैतिगतिं परेषाम् ।
तिष्ठेदनासक्तमनाः परं यस्त्यागी तटस्थोऽन्यगतिं स वेत्ति ॥२०॥

कश्चिज्जलार्थं खनने प्रवृत्तो वीक्ष्याश्मनो वा सिकतास्तरं वा ।
निवर्तते; यत्नपरस्तथैव क्वाचित्कबाधो विषयीजनोऽपि ॥२१॥

कीलाहतेः किं फलमश्मभित्तौ खड्गाहतेर्वा मकरस्य पृष्ठे ।
रागान्धजीवेऽत्युपदेशवाक्यसहस्रमेवं परिणामशून्यम् ॥२२॥

क्या ऐसा कोई श्रेष्ठ उपाय है जिससे मृत्यु के समय भगवान की चिन्ता की आशा हो सकती है । हाँ, है । निरन्तर अभ्यास-योग करने की चेष्टा करो, तो मृत्यु के समय भगवान का स्मरण होगा ॥ १९ ॥

मनुष्य कहता है—"सांसारिक खेल में मैं सबसे अधिक बुद्धिमान हूँ ।" किन्तु इस खेल में दूसरे खिलाड़ियों की गतिविधि वह नहीं जानता, और जो संसार में अनासक्त और त्यागी है वह दूर से उनकी गतिविधि और दोषत्रुटि जान जाते हैं ॥ २० ॥

कोई मनुष्य जल के लिए मिट्टी खोदता है किन्तु पत्थर या बालू मिलने से वह खोदना बन्द कर देता है । उसी प्रकार विषयी मनुष्य ईश्वर-प्राप्ति में थोड़ी बाधा पाने से ही उस प्रयत्न को छोड़ देता है ॥ २१ ॥

पत्थर की दीवाल में कील ठोंकने से वह टूट जाती है, घड़ियाल की पीठ पर तलवार का वार करने से उसे कुछ भी हानि नहीं होती बल्कि तलवार की धार कुण्ठित हो जाती है । इसी प्रकार संसारासक्त मनुष्य को हजारों उपदेश देने से भी वे व्यर्थ हो जाते हैं ॥ २२ ॥

साधोश्चतुर्धामकृताधिवासा तुम्बी निजां किं कटुतां जहाति।
आसक्तिमन्तः करणावलम्बां त्यजेन्न तद्वद्विषयीजनोऽपि ॥२३॥

स्थातुं न चालं प्रपतन्नभीक्ष्णं प्रयत्नवान् प्रोत्थितिमेति बालः।
जीवस्तथैवात्महितं विधातुं सश्रद्धयत्नैरनिशं समर्थः ॥२४॥

आसक्तजीवः क्वचिदीशभक्तः क्वचिद्विलासी विलसेद्यथेष्टम्।
व्रणे पुरीषे मधुरे तथान्ने किं मक्षिका नोपविशेत्कृतार्था? ॥२५॥

सुखं परं सिद्ध्यति भोगहानादनर्थबीजं विभवा भवन्ति।
सहोदराः शान्तिपरा वसेयुः सम्पत्तिमूलः कलहस्तु तेषाम् ॥२६॥

किसी साधु का जलपात्र अर्थात् तीती लौकी का तुम्बा उनके साथ जगन्नाथ, रामेश्वर, द्वारिका और बद्रीनारायण ये ४ धाम घूम आने पर भी अपना तीतापन नहीं छोड़ता। इसी प्रकार विषयी मनुष्य साधुसङ्ग लाभ होने पर भी अपने अन्तःकरण की आसक्ति नहीं छोड़ता ॥ २३ ॥

छोटा बच्चा चलना सीखने पर भी एकदम खड़ा नहीं रह सकता, खड़े होने पर बार-बार गिर पड़ता है। उसके बाद चेष्टा करने पर ठीक खड़ा रह पाता है। उसी प्रकार मनुष्य निरन्तर श्रद्धा के साथ प्रयत्न करने पर अपना भगवान के प्रति भक्तिरूप कल्याणसाधन करने में असमर्थ होता है ॥ २४ ॥

मक्खी कभी घाव पर, कभी विष्ठा पर और कभी मिठाई पर बैठती है, उसी प्रकार संसारासक्त मनुष्य कभी ईश्वरभक्तिपरायण और कभी विपुल भोगविलास में निरत रहता है; पूर्णतया ईश्वर के प्रति मन नहीं लगा सकता ॥ २५ ॥

विषयभोग का त्याग करने से मनुष्य परमानन्द लाभ कर सकता है, क्योंकि धन-सम्पत्ति ही अनर्थ का मूल है। एक ही माता के पुत शांति से रह सकते हैं, किन्तु यदि धन-सम्पत्ति रहे तो सारे भाई झगड़ा करके दुःख भोगते हैं। क्योंकि धन ही उनके झगड़े का कारण है ॥ २६ ॥

सुसङ्गताः पश्यत सारमेयाः परस्परं स्नेहवशा लिहन्ति।
परं पुरोऽन्नं समवेक्ष्य सर्वेऽप्यन्योन्यमेते कलहप्रसक्ताः ॥२७॥

गृहीत मीनं किल चिल्लमेकं काकाः सहस्रं गगनेऽनुयाताः।
त्यक्तेऽथ तस्मिन् प्रविहाय चिल्लं धावन्ति ते मत्स्यमनुप्रसन्नाः ॥२८॥

संत्यज्य खाद्यं सुखमाप पक्षी जायोऽवधूतस्य गुरुः स तेन।
'त्यागेन शान्तिः खलु भोगयोगाच्चिन्तेति' दत्तेन यतो गृहीतम् ॥२९॥

लज्जाघृणाजातिभयाभिमानाः शरीरिणां बन्धनपाशतुल्याः।
येषां समेषां च विना विनाशं कुतो भवेत्ते भवमुक्तिलाभः ? ॥३०॥

परिचित कुत्ते प्रेम से एक स्थान में बैठकर एक दूसरे का शरीर चाटते हैं, किन्तु सामने खाद्य वस्तु देखने पर वे प्रेम भूलकर एक दूसरे से झगड़ा करने लगते हैं ॥ २७ ॥

जब कोई चील कोई मछली मुँह में लेकर उड़ती जाती है तो उसके पीछे हजारों कौवे उड़ने लगते हैं, किन्तु जब वह चील उस खाद्य-पदार्थ को फेंक कर भाग जाती है, तब कौए चील को छोड़कर उस मछली की ओर ही दौड़ते हैं, चील की ओर नहीं ॥ २८ ॥

चील उस खाद्य पदार्थ को छोड़कर सुखी होता है, उसे देखकर अवधूत दत्तात्रेय ने उस चील को गुरु बना लिया, क्योंकि उस चील से अवधूत ने यह शिक्षा पायी कि जब तक विषयभोग रहता है तब तक दुःख से मुक्ति नहीं मिलती, केवल त्याग से ही शान्ति प्राप्त होती है ॥ २९ ॥

लज्जा, घृणा, जाति का अभिमान, भय, अहङ्कार आदि मनुष्यों के लिए बन्धन की रस्सी के समान हैं। इनका विनाश हुए विना संसार-बन्धन से तुम्हें मुक्ति कैसे प्राप्त होगी ? ॥ ३० ॥

'भवेः प्रमग्नो हरिपादपद्मेऽखिलं विहाये'त्युपदेशरत्नम् ।
न कोऽप्यलं श्रोतुमिदं विदित्वा गौरः सबन्धुः कृतवानुपायम् ॥३१॥
"सन्मत्स्यसूपं तरुणीजनाङ्कं प्राप्तुं कुरुध्वं हरिनामगानम् ।"
श्रुत्वा तयोर्वाक्यमिदं प्रलोभाद् आरेभिरे ते हरिनामगातुम् ॥३२॥
एते शनैर्नामसुधारसज्ञा गौराङ्गवाचां बुबुधू रहस्यम् ।
सूपो हरिप्रेमजमश्रुतोयं भूलुण्ठनं स्याद् युवतीजनाङ्कः ॥३३॥
येषां कृतेऽस्मद्धृदये ममत्वं के तेन विद्मः किल संसृतौ नः ।
आयान्ति यान्तीह नराः कियन्तः कुर्यादपुत्रो निजपौत्रचिन्ताम् ॥३४॥

सब कुछ छोड़कर भगवान के चरणकमलों के ध्यान में मग्न हो जाओ। यह रत्न के समान उपदेश कोई सुनने में समर्थ नहीं है। इसे जानकर गौरांग देव ने बन्धुओं से परामर्श करके एक उपाय का आविष्कार किया था ॥३१॥

उन्होंने घोषणा कर दी थी—"उत्तम मछली का रसा और युवती पत्नी का आलिंगन यदि चाहते हो तो हरिनाम गान करो।" इस घोषणा को सुन कर अनेक मनुष्य लोभाक्रान्त होकर हरिनाम गान करने लगे ॥ ३२ ॥

वे लोग क्रमशः भगवान के नाम का सुधारस पीकर गौरांग-बन्धुओं की वैसी घोषणा का रहस्य जान गये। उन्हें अनुभव हुआ कि भगवान के नाम-गानजनित प्रेम से उद्‌गत आँसू ही मछली का रसा है और नाम-गान करते हुए आनन्द से भूमि में लोटपोट होना ही युवती का आलिंगन है ॥ ३३ ॥

जिनके लिए हमारे मन में ऐसी ममता है, वे हमारे कौन हैं उसे हम एकदम ही नहीं जानते। संसार में अनेक लोग आते और चले जाते हैं किन्तु आश्चर्य की बात यह है कि पुत्रहीन व्यक्ति भी अपने भविष्य पौत्रों की चिन्ता में व्याकुल रहता है ॥ ३४ ॥

स्वनिर्मिते सद्मनि कीट-मृत्युर्मत्स्या स्वयं बन्धनदुःखपात्रम् ।
विलोक्य संसारमसारमित्थमासक्तिवर्जस्थितिमत्र कुर्याः ।।३५
"विभाव्य मिथ्येति भवस्वभावं वनं समायाहि मया सहत्वम्" ।
शिष्यो गुरोर्वाक्यमिदं निशम्य ब्रूते "कथं स्त्री तनया भवेयुः" ।।३६
'वृथैव ते स्त्री-तनयादि-चिन्ता प्रायोजनाः स्वार्थपरा भवन्ति' ।
ब्रुवन्गुरुर्दर्शयितुं तदस्मै ददौ वटीं कामपि भक्षणार्थम् ।।३७
श्रोतुं समर्थोऽन्यवचः पदन्तु तदन्यदृष्टौ स मृतोऽथ तेन ।
शोकाकुलास्तत्कुलजा अभूवन् 'हा ! हा ! गतोऽयं सकलान् विहाय' ।।३८

अपने बनाए हुए घर में दीमक कीट आबद्ध होकर मर जाता है, मछली जाल में फँस कर दुःख पाती है । ऐसे संसार को असार समझ कर आसक्ति का परित्याग करके संसार में निवास करना अच्छा है ।। ३५ ।।

जब गुरु शिष्य से कहते हैं कि—"संसार मिथ्या है, इस कारण तुम मेरे साथ वन में चलो ।" इस बात को सुनकर शिष्य कहता है—"किन्तु मेरी पत्नी और पुत्रों का क्या होगा ? उनकी देखरेख कौन करेगा ।। ३६ ।।

"तुम अपनी पत्नी, पुत्र तथा पिता आदि के लिए वृथा ही चिन्ता कर रहे हो । प्रायः लोग स्वार्थपर हुआ करते हैं ।" इस विषय को जाँचने के लिए गुरु ने शिष्य को एक औषध की गोली खाने को दी ।। ३७ ।।

उस गोली को खाकर शिष्य मुर्दे के समान अचेत होकर पड़ गया, किंतु दूसरों की बात वह स्पष्ट सुन सकता था । उसके परिवार के लोग उसे उस अवस्था में देखकर शोक से व्याकुल होकर कहने लगे—"हाय, हाय हमें छोड़कर यह अकेला चला गया ।। ३८ ।।

अस्मिन् क्षणे कोऽपि समेत्य साधुः प्रोवाच जीवेदयमाशु जीवः ।
चेत्स्त्री प्रसूर्वास्य कृतेऽसुखार्ता प्राणांस्त्यजेत्प्रेमवशा कृतार्था ।।३९।।

"का प्रास्थितायां मयि शंस साधो ! कुटुम्बभारोद्वहनप्रयत्ना ?
ब्रुतेऽस्य माता "सुखदुःखवार्तां श्रोतुं समर्थास्म्यहमेव तेषाम् ।।४०।।

अथाह पत्नी "किमिदं ! तनूजाः पुत्राश्च मे सन्ति नितान्तमज्ञाः ।
मृतास्मि चेत्तेऽपि मृता स्यु"रित्थं निशम्य शिष्यो गुरुणा सहागात् ।।४१।।

एकं करं केशवपादपद्मे कुरु द्वितीयं भवकार्यजाते ।
विस्मृत्य देवं ममतापरीतः संसारमार्गे सफलः कथं स्याः ।। ४२ ।।

इसी समय उसके गुरु साधु के वेश में आकर कहने लगे—"यदि इसकी पत्नी या माँ इसके प्रति अत्यन्त प्रेम के कारण अपने प्राण छोड़ने को तैयार हो जायँ तो यह जीवित हो सकता है ।। ३९ ।।

उसकी माँ ने कहा—"हे साधु ! यदि मैं इसके लिए प्राण दे दूँ तो सारे परिवार का भार कौन लेगा ? क्योंकि सबके सुख-दुःखों की बात सुनने की शक्ति मुझमें ही है ।। ४० ।।

उसके अनन्तर पत्नी ने कहा—"हाय ! हाय ! यह क्या हुआ ! मेरे छोटे-छोटे नादान बच्चे हैं, यदि मैं मर जाऊँ तो ये भी मरेंगे ।" यह बात सुनकर शिष्य तुरन्त उठ बैठा और गुरुजी के साथ वन में चला गया ।। ४१ ।।

अपना एक हाथ भगवान के चरणकमल में रख कर दूसरे हाथ से संसार के सारे कार्य करते रहो । भगवान को भूल कर ममत्वबुद्धि से गृहस्थी में आसक्त रहने से जीवन का उद्देश्य कैसे सफल होगा ? ।। ४२ ।।

मायावशः संसृतिभोगकृष्टः स्पृष्टो विलासैरधिकं निमग्नः ।
अज्ञानतः सत्यपि मुक्तिमार्गे पलयितुं नेच्छति बुद्धिशून्यः ॥४३॥

त्यागस्त्वया पूर्णतया न कार्यः ससारयात्राकरणे न दोषः ।
परं मुकुन्दस्य पदारविन्दे निवेश्य चित्तं सकलं विधेयम् ॥४४॥

"लाभे प्रभोर्नास्ति किमप्यसारं संसारकार्ये" विदितं तु यस्य ।
जीवो जगच्चापि स एव सर्वं पुत्रादिसेवास्य मुकुन्दसेवा ॥४५॥

जाया पतिश्चापि निवृत्तभोगावुभौ स्थितावीशकथाप्रसङ्गे ।
सद्भक्तसेवोभयचित्तसाम्यं कल्याणमार्गोऽस्त्युभयोः समानः ॥४६॥

माया के वशीभूत होकर मनुष्य सांसारिक भोग में आकृष्ट होता है और बहुत ही अधिक भोग-विलास में निमग्न हो जाता है। मुक्ति का मार्ग खुला रहने पर भी अज्ञान और बुद्धिहीन होने के कारण मनुष्य संसार-त्याग नहीं करना चाहता ॥ ४३ ॥

सम्पूर्ण त्याग करने की तुम्हें कोई आवश्यकता भी नहीं है। सांसारिक कार्य करने में कोई दोष नहीं है, किन्तु असली बात यह है कि अपने मन को भगवान के चरणकमलों में रखकर सारे कार्य सम्पन्न करना उचित है ॥४४॥

ईश्वर का लाभ होने पर सांसारिक कोई भी कार्य असार नहीं है। इस बात को जिसने जान लिया है वह देखता है कि भगवान ही जीव और जगत के रूप में आविर्भूत हुए हैं। अतः अनासक्त भाव से पुत्रादि की सेवा भगवान की ही सेवा है ॥ ४५ ॥

पति और पत्नी दोनों भोग से निवृत्त होकर भगवान की कथा कहते और लीला प्रसंग सुनते हुए अवस्थित रहें। दोनों की मनोवृत्तियाँ समान हों और दोनों मिलकर भक्तों की सेवा करें। यही दोनों के लिए कल्याण का मार्ग है ॥ ४६ ॥

अर्थैस्तवार्थोऽस्ति निवासवासः पानान्नलाभाय, ततः परं किम् ?
अनित्यमन्यत्किल सत्यमीशतत्त्वं परस्तत्त्वविचार एषः ॥४७॥
किमस्थिमज्जामलमूत्रसंघे देहे वृथैवं क्रियते त्वयास्था ।
संत्यज्य सर्वत्रगतिं परेशं प्रेमास्थिरे वस्तुनि नोचितं ते ॥ ४८ ॥
यथाञ्जने सद्मनि कालचिह्नं भवे भवेदेवमशान्तियोगः ।
दुःखं सुखं चापि; सहस्ततालं कार्यं त्वयातः प्रभुनामगानम् ॥ ४९ ॥
भूमिर्ममेयं तव चेयमित्थं वृथा मिथः सोदरयोर्विवादम् ।
विलोक्य लोके हसति प्रकाशं जगत्समुत्पत्तिनिदानमीशः ॥ ५० ॥

जीते जी रहने का स्थान, वस्त्र, अन्न, पानी आदि का प्रबन्ध करने के लिए तुम्हें धन की आवश्यकता है, किन्तु उसके अनन्तर क्या होगा ? ये सभी अनित्य हैं, केवल ईश्वर ही सत्य हैं, इसी को यथार्थ तत्त्व विचार कहते हैं ॥ ४७ ॥

अस्थि, मांस, मज्जा, मल, मूत्र आदि की समष्टि रूप इस शरीर में तुम्हारी आसक्ति निरर्थक है। सर्वव्यापक भगवान को छोड़कर इन सब नाशवान पदार्थों में आसक्ति करना उचित नहीं है ॥ ४८ ॥

काजल के घर में रहने से कुछ न कुछ काजल का दाग शरीर में लग ही जाता है, इसी प्रकार संसार में रहने से अशान्ति, दुःख और सुख का संयोग होता ही रहता है। इस कारण अपने हाथों में ताली देकर भगवान का नाम गान करना उचित है ॥ ४९ ॥

यह जमीन मेरी है और वह तुम्हारी है—इस प्रकार दोनों भाइयों में झगड़ा देखकर सृष्टिकर्ता ईश्वर हँसते हैं। क्योंकि सभी जमीन उन्हीं की है। दूसरे की चीज को अपना कहना अज्ञान है ॥ ५० ॥

पुनर्हसत्येष विनाशहेतुरासन्नमृत्युं तनयं विलोक्य ।
प्रसूं रुदन्तीं भिषगाह यत्तत् सञ्जीवयिष्यामि सुतं तवैनम् ।। ५१ ।।

मायावशाद्बन्धनमेति जीवो 'दया'वशादस्य समेति मुक्तिम् ।
एवं प्रभुर्बन्धनमुक्तिहेतुः सृष्टिस्त्वियं केवलमस्य लीला ।। ५२ ।।

स एव शक्तिर्भवतारिणी या लीलामयी बन्धनहारिणी च ।
इच्छामयी मोदमयी तदीया चिरं चलत्येव हि सृष्टिलीला ।। ५३ ।।

स्थाणुं स्पृशन्तः किल खेलनेऽस्मिन् बाला भवन्ति भ्रमणाद्विमुक्ताः ।
स्थाणुः परं नेच्छति सर्वमुक्तिं क्रीडा चलेद् येन सुदीर्घकालम् ।।५४।।

सृष्टि के विनाशकारी भगवान पुनः हँसते हैं, जबकि वे देखते हैं कि आसन्न मृत्यु पुत्र को देखकर चिकित्सक रोनेवाली माता से कहते हैं कि—"मैं तुम्हारे इस लड़के को बचा दूँगा", जो जन्म और मृत्यु ईश्वर के हाथ में है। मृत्यु-पथ-यात्री को मनुष्य कैसे बचायेगा ? ।। ५१ ।।

जीव माया के वशीभूत होकर संसार में आबद्ध हो जाता है। भगवान की कृपा होने से वह मुक्ति लाभ कर सकता है। अतः प्रभु ईश्वर ही जीवों के बन्धन और मुक्ति के कारण हैं। किन्तु यह सृष्टि केवल उनकी लीला मात्र है ।। ५२ ।।

ईश्वर की शक्ति ही भवतारिणी, लीलामयी, बन्धनकारिणी, इच्छामयी तथा मोहमयी नाम से विख्यात है। उनकी यह सृष्टि रूप लीला अनादि काल से चली आ रही है ।। ५३ ।।

बच्चों के प्रचलित खेल के समान उनके इस खेल में जो बालक खूंटा पकड़ कर बैठा रह सकता है, वह इधर-उधर घूमने से मुक्त हो सकता है। किन्तु खूंटा (शिव) सबकी मुक्ति नहीं चाहते। उनकी इच्छा है कि ऐसा खेल दीर्घकाल तक चलता रहे ।। ५४ ।।

परः सहस्रेषु परं नराणाम् एको विमुच्येत भवस्य पाशात् ।
चेत्तत्प्रसादाद्विषयान्निवृत्तं लग्नं मनस्तच्चरणारविन्दे ॥५५॥

व्यक्तस्तथा गुप्त इति द्विधायं त्यागी, विजानाति जनो न गुप्तम् ।
त्यागो गृहस्थस्य हृदैव योग्यो हठादयं चेत्क्रियते न भव्यः ॥५६॥

संसारतः सिद्धयति धर्मलाभो' वदन्ति केचित्परमेकवारम् ।
लब्धेश्वरानन्दघनो नरश्चेन्न रोचतेऽन्यत्किमपीह तस्मै ॥५७॥

भक्तः सुखं मार्गयतेऽनिशं तद् यस्याग्रतस्तुच्छ इवास्ति भोगः ।
प्राप्ते तु तस्मिन् भवपाशविघ्नः पलायितः स्यादिव भीतभीतः ॥५८॥

हजारों मनुष्यों में कदाचित कोई एक व्यक्ति इस संसार-बन्धन से मुक्त हो सकता है। यदि भगवान की कृपा से किसी का मन विषय से निवृत्त होकर उन्हीं के चरणारविन्द में संलग्न हो जाता है तो वह मुक्त हो सकता है ॥ ५५ ॥

त्यागी दो प्रकार के हैं—व्यक्त और गुप्त। उनमें गुप्त त्यागी को लोग पहिचान नहीं सकते। गृहस्थ के मन में त्याग बुद्धि रहनी चाहिए। यदि त्याग बलपूर्वक किया जाय तो उसका फल अच्छा नहीं होता ॥ ५६ ॥

कोई कहता है—धर्मलाभ गृहस्थी में ही हो सकता है। किन्तु यह बात ठीक नहीं है, क्योंकि कोई मनुष्य यदि एक बार भी भगवान का आनन्द-धन प्राप्त हो जाय तो उसे अन्य कोई वस्तु ही अच्छी नहीं लगती ॥ ५७ ॥

भक्त सदा वही शाश्वत आनन्द पाना चाहता है, इसके निकट भोग-विलास तुच्छ है। यह आनन्द प्राप्त होने पर संसार-बन्धन रूप विघ्न भय-भीत होकर भाग जाता है ॥ ५८ ॥

यथेशितुः सद्मनि कार्यसक्तास्तत्पुत्रकन्यासु ममत्ववत्यः ।
दास्यो भवन्त्यात्मजगेहसक्ता जानन्ति यत्ते न हि केऽपि तासाम् ॥५९॥
तथैव दारात्मजमातृवृन्दे सेवा विचारेण चरन् वसेस्त्वम् ।
निवेशितान्तःकरणः परेशे गृहे परित्यज्य ममत्वबुद्धिम् ॥६०॥
भवेऽन्वितेऽस्मिन् विविधान्तरयैर्वासो जनानामतिदुष्करोऽस्ति ।
तथापि पङ्कस्थितमीनतुल्यो निर्लेपभावैश्चरितुं यतेथाः ॥६१॥
भोगोपभोगप्रियताकुपथ्यैर्भवे भवोन्मादनिवारणं किम् ?
किं तिन्तिणीव्यञ्जनमाठतोयैः शक्यास्त्यपस्मारगदस्य शान्तिः ॥६२॥

जैसे किसी बड़े आदमी के घर की नौकरानियाँ प्रभु के पुत्र-कन्याओं के प्रति बहुत ही अधिक स्नेहशील प्रतीत होती हैं, किन्तु उनका मन अपने घर के प्रति आसक्त रहता है। क्योंकि प्रभु के बच्चों के साथ उनका कोई भी सम्बन्ध नहीं है, यह बात वे अच्छी तरह जानती हैं ॥ ५९ ॥

इसी प्रकार पत्नी, पुत्र, माता आदि के साथ सेवाभाव लेकर ही तुम्हें रहना उचित है और घर में ममत्वबुद्धि छोड़कर भगवान के चरणों में मन को संलग्न रखना कर्तव्य है ॥ ६० ॥

अनेक प्रकार के विघ्नों से पूर्ण इस संसार में शांति से रहना अत्यन्त कठिन है। तो भी जिस प्रकार कीचड़ के भीतर रहने वाली मछलियों के शरीर में कीचड़ नहीं लगता, उसी प्रकार तुम निर्लिप्त भाव से सांसारिक कार्य करते रहो ॥ ६१ ॥

भोगविलास में उन्मत्त रहने से और विषयरूप कुपथ्य का सेवन करने से सांसारिक उन्माद कैसे दूर होगा ? क्या इमली, अचार आदि खट्टी चीज खाने या मिट्टी के घड़े का बहुत ठंढा जल पीने से कभी मिरगी रोग आराम हो सकता है ? ॥ ६२ ॥

चैतन्यलाभात्परमेव सम्यक् संसारकार्ये विहिते न दोषः ।
प्रयत्नलब्धं कनकं हि पात्रे भूमौ जले वा विकृतिं न याति ॥६३॥

तैलाक्तहस्तेन यथा जनेन सुखेन खण्ड्यः पनसस्तथैव ।
मनोऽप्यनासक्तियुतं भवेऽस्मिन् स्थाप्यं न चेत्तन्मलिनं ततः स्यात् ॥६४॥

दुग्धं जले क्षिप्तमथैकरूपं पृथक् परं तन्नवनीतमास्ते ।
मनोऽप्यपक्वं भवसागरेऽस्मिन् भवेद्विलीनं न तथाऽमलं चेत् ॥६५॥

गृहं धनं वा परिवारवर्गो न तेऽस्ति किञ्चित्परमीश्वरस्य ।
तवे प्रभोरन्तिक एव वासस्त्वं व्याकुलश्चेद् भगवत्कृपार्थम् ॥६६॥

चैतन्यस्वरूप ईश्वर का लाभ होने पर सांसारिक कार्य करने से कोई दोष नहीं लगता। अत्यन्त परिश्रम करके सोना मिलने पर उसे सन्दूक, मिट्टी के नीचे या जल के भीतर रखा जाय वह विकृत नहीं होता ॥ ६३ ॥

कटहल तोड़ने के पहले दोनों हाथों में तेल लगा लेना होता है। ताकि हाथ में गोंद न लगे, उसी प्रकार मन को अनासक्त रख कर इस संसार के कामों में लगाना होता है, नहीं तो वह मलिन हो जाता है ॥ ६४ ॥

यदि जल के साथ दूध मिला दिया जाय तो दूध और जल मिल कर एक हो जाता है, किन्तु दूध से मक्खन निकाल कर उसे जल में रखने पर वह पृथक ही रहता है। कच्चा मन ही इस संसार-सागर में लीन हो जाता है, किन्तु निर्मल मन कभी संसार-जल में नहीं मिल जाता, बल्कि वह मक्खन की तरह जल पर तैरता रहता है ॥ ६५ ॥

गृह, धन या परिवार के लोग कोई भी तुम्हारा अपना नहीं है, क्योंकि सभी ईश्वर के हैं। तुम्हारी स्थिति भी भगवान के अति निकट है। यदि तुम सदा व्याकुल रहते हो तो भगवान की कृपा पा सकते हो ॥ ६६ ॥

संसारिलोको हरिनामसक्तः शूरो यथाभूज्जनको विदेहः ।
ज्ञानासिरेकेन करेण तेन धृतो द्वितीयेन च कर्मखड्गः ॥ ६७ ॥
स्वपूर्वजन्मार्जितकर्मपाकैः कश्चिद्धनैश्वर्ययुतोऽपि भक्तः ।
योगात् च्युतः सन् भवने शुचीनां जन्मेति गीतावचनं हि सत्यम् ॥६८॥
आरम्भतो विषयपङ्कजसंकटेऽस्मिन् मग्नं मनः स्वमवितुं भव सावधानः ।
मार्गस्थबालधरणीरुहरक्षणार्थं गोभ्यो नृभिर्न परितः क्रियते वृतिः किम् ॥६९॥
कालान्तरे यदि महान् विटपी प्रवृद्धो
रक्षार्थमस्य वृतिकर्म भवेदपार्थम् ।
तत्स्कन्धदेशमभितो गजबन्धनेऽपि
हानिर्न, पक्वमतयो विजिताक्षवर्गाः ॥ ७० ॥

गृहस्थ यदि हरिनाम में अनुरक्त होता है तो उसे वीर भक्त कहा जा सकता है, जिस प्रकार विदेह राजा जनक थे। वे एक हाथ से ज्ञान की तलवार और दूसरे हाथ से कर्म रूप खड्ग धारण किये रहते थे ॥ ६७ ॥

पूर्व जन्म के अनुष्ठित पुण्यकर्म के फलस्वरूप कोई भक्त धनैश्वर्य पाता है, पूर्व जन्म के योगभ्रष्ट व्यक्ति योग से च्युत होकर पवित्र हृदय वाले साधु के घर में जन्म-ग्रहण करते हैं—ऐसा गीता-वाक्य अत्यन्त सत्य है ॥ ६८ ॥

जैसे रास्ते के किनारे लगाये गये पौधों को गाय, बकरी आदि से बचाने के लिए लोग उसके चारों ओर टट्टर बाँध देते हैं, उसी प्रकार विषय रूप कीचड़ जैसे संकटापन्न स्थान में आबद्ध मन को बचाने के लिए पहले से ही सावधान हो जाओ अर्थात् भगवान के नाम का टट्टर बाँध दो ॥ ६९ ॥

बाद में जब पौधा बड़ा वृक्ष बन जाता है, तब उसकी रक्षा के लिए बेढ़ की आवश्यकता नहीं होती, बल्कि उसके तने के साथ हाथी को बाँध देने से भी कोई हानि नहीं होती। इसी प्रकार जिनकी बुद्धि परिपक्व तथा इन्द्रियाँ विजित हैं, उनके मन में कभी विकार उत्पन्न नहीं होता ॥ ७० ॥

बद्धो भवेत्स्वमनसा मनसैव मुक्तो यत्सङ्गतं भवति तत्सदृश मनोऽपि ।
वासः सितं प्रथमतोऽस्ति विभिन्नवर्णैः सद्रञ्जितं हरितलोहितपीतनीलम् ।।७१।।

आंग्ल्या गिरापरिचितो धृतसूटबूटः शूत्कारगानरतिरांग्लगिरा ब्रवीति ।
चेत्पण्डितः सदसि संस्कृतवाचमुच्चैरुच्चारयन्निजधियं प्रकटीकरोति ।।७२।।

एवं मनो यदि कुसङ्गरतं कृतं तज्जायेत कुत्सितविचारयुतं तथैव ।
भक्तैः सहेश्वरकथासरसं सखित्वं स्याच्छीलसद्गुणगणाचरणैर्नरानाम् ।।७३।।

इति श्रीरामकृष्णोपदेशसाहस्र्यां 'गृहस्थाश्रमो'
नाम षष्ठोऽध्यायः ।। ६ ।।

मनुष्य अपने मन से ही बद्ध और मुक्त होता है। मन जिस पदार्थ के साथ संयुक्त होता है, उसी का स्वरूप प्राप्त करता है। जैसे कपड़ा स्वाभाविक रूप से सफेद ही रहता है, किन्तु रङ्ग लगाने से वह हरा, लाल, पीला, नीला आदि रूप प्राप्त करता है ।। ७१ ।।

यदि इस देश का मनुष्य अंग्रेजी भाषा सीख लेता है, तो सूट-बूट पहन कर मुख से सीटी बजाते हुए अंग्रेजी बात ही बोलता है। यदि कोई संस्कृत पढ़कर पण्डित हो जाता है तो सभा में अपनी बुद्धि को प्रगट करने के लिए उच्च स्वर से संस्कृत ही बोलता है ।। ७२ ।।

इसी प्रकार यदि किसी का मन कुसङ्ग में निरत हो जाता है तो वह कुत्सित भाव से ही पूर्ण हो जाता है। फिर वही मन यदि भक्तों के साथ रहता है तो उसे भगवत्प्रसंग ही अच्छा लगता है। सधर्म और समान आचरण वाले व्यक्तियों के साथ मित्रता होने से भक्तों का यथार्थ कल्याण होता है ।। ७३ ।।

श्रीरामकृष्णोपदेशसाहस्री का "गृहस्थाश्रम" नामक
षष्ठ अध्याय समाप्त हुआ ।

संन्यासाश्रमोनाम सप्तमोऽध्यायः

देहप्राणमनांसि यस्य भगवच्चिन्तापराण्यादरात्
सर्वत्रेश्वरभावपावनमतिर्यो जीवसेवारतः।
नारीं मातृसमां समर्चनपदं यो मन्यते मानवो
धन्यः सोऽर्हति साधु-साधु-पदवीं त्यक्तार्थकामद्विकः ॥ १ ॥

उन्मत्तकल्पः परमेशभावैर्न केवलं विस्मरति प्रपञ्चम्।
देहे स्वकीयेऽपि करोत्यनास्थां न चास्य लोके किमपीह कार्यम् ॥ २ ॥

उत्तमाः साधवो नित्यं लोकेऽजगरवृत्तयः।
न प्रयत्नपरा ह्येते सन्ति स्वोदरपूरणे ॥ ३ ॥

मध्यमा दण्डिनः सन्तस्ते ये वृत्यर्थमुद्यताः।
नमो नारायणायेति वदन्तो भैक्ष्यचारिणः ॥ ४ ॥

जिसके देह, मन, प्राण, श्रद्धा के साथ भगवान की चिन्ता में निरत रहते हैं, भगवान सर्वत्र व्याप्त हैं, इस पवित्र भाव से जिसकी बुद्धि पूर्ण है, जो जीवसेवा में संलग्न है, जो स्त्रीमात्र को माता के समान पूजनीय समझता है और अर्थ-काम का परित्याग कर चुका है, वही साधु और धन्य है ॥ १ ॥

भगवान के भाव में जो पागल है, जो केवल संसार को ही भूल नहीं जाता, यहाँ तक कि अपने शरीर के प्रति भी जिसका ध्यान नहीं रहता, ऐसे व्यक्ति का संसार में कोई भी कर्तव्य कार्य नहीं है ॥ २ ॥

उत्तम साधु संसार में सदा अजगर-वृत्ति का अवलम्बन करते हैं। अपने उदर की पूर्ति के लिए भी वह किसी प्रकार का प्रयत्न नहीं करते ॥ ३ ॥

मध्यम श्रेणी के साधु दण्डी संन्यासी हैं। वे उदर पूर्ण करने के लिए चेष्टा करते हैं और भिक्षा के लिए 'ओं नमो नारायणाय' कहते हुए घर-घर घूमते हैं ॥ ४ ॥

अधमा वृत्यलाभेन विवदन्तः परस्परम् ।
निन्दां कुर्वन्ति दातॄणां यतयः त्रिविधाः मताः ॥ ५ ॥
कश्चिद्बालो ब्रह्मचारी भिक्षां प्राप्य स्त्रियाः क्वचित् ।
वक्षोजौ वीक्ष्य तस्याश्च पृष्टवान् स्फोटकौ किमु ? ॥ ६ ॥
बान्धवावर्णिनः प्रोचुः अन्तर्वत्नीयमीदृशी ।
बालस्य जन्मनः पूर्वं तद्वृत्तिं सृजति प्रभुः ॥ ७ ॥
बालसाधुर्निशम्येदं किम् भैक्षेनेत्यमन्यत ।
ममापि निर्मिता वृत्तिः पूर्वमेव जगत्कृता ॥ ८ ॥
बहिर्वेशोऽन्तरासक्तिर्न साधुत्वस्य लक्षणम् ।
वरं साधारणं वस्त्रं मिथ्यावेशो भयङ्करः ॥ ९ ॥

अधम श्रेणी के साधु भिक्षा न मिलने के कारण आपस में झगड़ा करते हैं और दाताओं की निन्दा भी करते हैं। इसी प्रकार साधु तीन श्रेणी के होते हैं ॥ ५ ॥

कोई बालक ब्रह्मचारी एक स्त्री से भिक्षा लेते समय उसके स्तनों को देखकर पूछ बैठा था—'तुम्हारी छाती में दो फोड़े हुए हैं क्या ?' ॥ ६ ॥

उस स्त्री के घर के लोगों ने ब्रह्मचारी से कहा कि यह स्त्री गर्भवती है। इसके लड़के होने के पहले ही भगवान ने इसके स्तनों में दूध देकर उसके भोजन का प्रबन्ध कर दिया है ॥ ७ ॥

इस बात को सुनकर बालक साधु ने सोचा कि तब तो मुझे भिक्षा करने का कोई प्रयोजन नहीं है। मेरे खाने का प्रबन्ध भी भगवान ने पहले ही कर रखा है ॥ ८ ॥

बाहर साधु का वेश और भीतर विषयों में आसक्ति—यह साधु का लक्षण नहीं है। साधारण वेश में रहना अच्छा है। मिथ्या वेश धारण करना भयंकर है ॥ ९ ॥

ललाटे भस्मतिलको रोगभूतापहारकः ।
आडम्बरयुतो लुब्धोऽविश्वास्यः साधुरीदृशः ॥ १० ॥
स्वकुक्षिभरणे साधुरीशार्पितभरोऽनिशम् ।
पतत्रिणश्च सन्तश्च न सञ्चयपराः क्वचित् ॥ ११ ॥
अंशतः कर्मसु स्वान्तं साधोरीशेऽधिकाधिकम् ।
पुच्छभागे भुजङ्गस्य पूर्वांशादधिका चितिः ॥ १२ ॥
भव साधो ! सावधानो मायारूपार्थकामतः ।
यदनिष्टमितो जातं देवैरपि न वार्यते ॥ १३ ॥
भोगाद्दूरस्थितिर्माया-निर्लेपत्वं दृढ़व्रतम् ।
व्याकुलत्वं बालसाधोः शुद्धेर्यनिकष उच्यते ॥ १४ ॥

ललाट पर भस्म का तिलक, रोग हटाने का दावा करना और भूत भगाना आदि आडम्बर दिखाना और पैसे का लोभ करना आदि लक्षण जिस साधु में दिखाई पड़े उस पर विश्वास नहीं करना चाहिए ॥१०॥

यथार्थ साधु अपनी जीविका का पूरा भार भगवान पर सौंपकर शान्त भाव से रहते हैं ! पक्षी और साधु कहीं कुछ संचय नहीं करते ॥११॥

साधुओं का मन अधिक समय तक ईश्वर की चिन्ता में निमग्न रहता है, कदाचित् कभी क्षणभर के लिए शरीर आदि विषयों में जाता है। जैसे कि सांप के सिर आदि सामने के भाग की अपेक्षा दुम की ओर अधिक चेतना होती है ॥१२॥

हे साधु ! मायारूप अर्थ और काम से सावधान रहना। जो हानि उससे होती है उसे देवता भी रोक नहीं सकते ॥१३॥

भोग-विलास से दूर रहना, मायामोह से निर्लिप्त रहना, अपने व्रत के पालन में दृढ़ता दिखाना तथा भगवान के लिए सदा व्याकुल रहना—ये प्रवर्तक श्रेणी के नवीन साधुओं की चित्तशुद्धि की परीक्षा के लिए कसौटी हैं ॥१४॥

नीचस्थितिरसौ साधुर्जायते भोगगोचरः।
भवति व्रतभङ्गोऽस्य गात्रं लाञ्छनसंवृतम् ॥ १५ ॥

एतदर्थं मया सर्वे निषिद्धा बालसाधकाः।
तेषां परिचयाधिक्यं न स्यान् महिलया सह ॥ १६ ॥

बालानां साधनावस्थाऽतोऽत्र त्यागो विशिष्यते।
पश्येयुस्ते न तन्नारीः क्वचिच्चित्रगता अपि ॥ १७ ॥

अपि भक्ताभिरालापं कुर्युस्तिष्ठन्त एव ते।
नोपविश्य स्वरक्षार्थं लोकशिक्षार्थमेव च ॥ १८ ॥

समीपमागतां नारीं ब्रवीम्यत्र क्षणात्परम्।
'भगवद्दर्शनं कार्यं' प्रयामि स्वयमेव वा ॥ १९ ॥

भोग-विलास में आसक्त होने से साधु का व्रतभंग होता है और उसके शरीर में कलंक की छाप लगती है तथा अन्त में उसका पतन होता है ॥१५॥

इसी कारण मैंने बालक और युवक भक्तों को स्त्रियों के सम्पर्क में जाने का निषेध कर दिया है। स्त्रियों के साथ अधिक घनिष्ठ भाव से मेल-जोल रखना उचित नहीं है ॥१६॥

बालक भक्तों की यह साधनावस्था है। इस अवस्था में त्याग में प्रतिष्ठित रहना अत्यन्त आवश्यक है। कहीं नारी का चित्र भी हो तो उसे भी साधु न देखें ॥१७॥

स्त्री-भक्तों के साथ खड़ा रहकर बातचीत की जा सकती है, किन्तु एकान्त में बैठकर नहीं। आत्मरक्षा तथा लोकशिक्षा के उद्देश्य से ऐसा करना उचित है ॥१८॥

मेरे पास कोई महिला भक्त आ जाय तो क्षणभर के बाद ही मैं कह देता हूँ कि आप अब मन्दिर में जाकर भगवान का दर्शन कीजिए, नहीं तो मैं ही दूसरे स्थान में चला जाऊँ ॥१९॥

लोकानामीश्वरे श्रद्धा भक्तिर्वा स्यात्तदा कथम् ।
साधवश्चेन्नाचरेयु-स्तन्नामगुणकीर्तनम् ॥ २० ॥

साधुः शुद्धोऽपि सिद्धोऽपि स्वाचारं न परित्यजेत् ।
अनिशं मार्जनं नो चेत् कलशी मलिना भवेत् ॥ २१ ॥

स्वस्मिन् स्त्रीभावमारोप्य सखीभावेन संस्थितः ।
धृतस्त्रीवस्त्र-भूषादि-रहमासं जितेन्द्रियः ॥ २२ ॥

दावाग्निः कालसर्पो वा साधोर्भवति कामिनी ।
सैवानन्दमयी माता सिद्धस्येश्वर-दर्शने ॥ २३ ॥

परिहार्यः समीरोऽपि भोगिदेशात्समागतः ।
वस्तव्यं दूरतस्तेभ्यः स्वात्मरक्षण-सिद्धये ॥ २४ ॥

यदि साधु सदाचार-पालन तथा भगवान का नाम, जप, गुण-कीर्तन आदि न करे तो साधारण लोगों में ईश्वर के प्रति श्रद्धा-भक्ति कैसे उत्पन्न होगी ? ॥२०॥

साधु शुद्ध और सिद्ध होने पर भी अपना सदाचार न छोड़ें । पीतल का गगरा रोज न मलने से मलिन हो जाता है ॥२१॥

मैं साधन की अवस्था में अपने ऊपर स्त्रीभाव का आरोप करके भगवान के साथ सखीभाव में रहता था । स्त्रियों की तरह वसन-भूषण पहनकर मैं जीतेन्द्रिय अवस्था में था ॥२२॥

साधक के लिए कामिनी दावानल या काली नागिन की तरह है, किन्तु ईश्वरदर्शन करके सिद्ध होने पर साधु स्त्री को आनन्दमयी माँ के रूप में देखते हैं ॥२३॥

भोगविलास के पदार्थों की ओर से जो हवा आती है, उसे भी साधु को त्याग देना उचित है । दुश्चरित्र व्यक्ति का संग न करें । उनके हाथ से आत्म-रक्षा करनी चाहिए ॥ २४ ॥

दूरतः परिहर्तव्ये साधुभिः कामकाञ्चने ।
तन्मायापङ्कमग्नस्य भग्नैवाशा समुद्धृतेः ॥ २५ ॥

स्त्रीभ्यो यतिर्भवेद्भीतो व्याघ्रीदर्शनतो यथा ।
द्रष्टव्यानि तदङ्गानि मातुरंगैः समं स्वयम् ॥ २६ ॥

स्वसमीपं समागन्तुं नादां कामपि कामिनीम् ।
जननीयमिति स्वान्तं सान्त्वितं बहुशः शनैः ॥ २७ ॥
अवलोक्यानिशं देवीस्वरूपेण प्रयत्नतः ।
तथापि साधुभिर्भक्तैः परित्याज्यैव सा मता ॥ २८ ॥

यतिभिः परिहर्तव्या नित्यं स्त्रीसम्मुखस्थितिः ।
सा मन्ये तिन्तिणीतुल्या यां दृष्ट्वा सजलं मुखम् ॥ २९ ॥

साधु दूर से ही काम-कांचन का परित्याग करें, क्योंकि काम-काञ्चन रूप माया के कीचड़ में निमग्न व्यक्ति के उद्धार की कोई आशा नहीं है ॥ २५ ॥

बाघिन को देखने पर मनुष्य जैसे डर जाता है, वैसे ही स्त्रियों को देखने से संन्यासी को भयभीत होना चाहिए । उनके अंग-प्रत्यगों को अपनी माता के अंगों के समान समझना चाचिए ॥ २६ ॥

पहले मै किसी स्त्री को अपने पास नहीं आने देता था । आने पर भी यह मेरी माता हैं, ऐसे मैं अपने मन को समझाता था ॥ २७ ॥

किसी स्त्री के साथ भेंट होने पर उन्हें यथार्थ देवी रूप से देखना चाहिए। तो भी साधु भक्तों को स्त्रियों का परिहार करना ही कर्तव्य है ॥ २८ ॥

साधक संन्यासियों को स्त्रियों के सामने उपस्थित होना उचित नहीं है। क्योंकि स्त्री मात्र ही इमली की तरह है, जिसे देखते ही मुहँ में जल भर आता है अर्थात् चित्त चंचल होना स्वाभाविक है ॥ २९ ॥

स्त्रीरूपचिन्तनं नेष्टं यतेः स्वप्नेऽथ जागृतौ।
लोकशिक्षा कथं साध्या तस्मिन् सत्यजितेन्द्रिये ॥ ३० ॥

रामावपुषि दुर्गन्धिः सौन्दर्यं व्यर्थतां नयेत्।
तथा भोग-मनोवृत्या निष्फलं जीवनं यतेः ॥ ३१ ॥

साधुवृत्तौ स्वीकृतायां साध्वाचारो भवेन्नरः।
नाटकेऽपि नृपत्वेन सज्जश्चरति राजवत् ॥ ३२ ॥

वहुरूपधरः कश्चित् द्रव्यलाभस्य कांक्षया।
गृहीतसाधुवेषः सन् वनिकस्य गृहं ययौ ॥ ३३ ॥

धनिकोऽपि प्रसन्नोऽस्मै रुप्यकं दातुमुद्यतः।
परं साधुस्तिरस्कृत्य दानं स्वगृहमाययौ ॥ ३४ ॥

जाग्रत या स्वप्न अवस्था में भी संन्यासी के लिए स्त्री-रूप का चिन्तन उचित नहीं है। साधु यदि जीतेन्द्रिय न हों तब उनसे लोग शिक्षा कैसे पायेंगे ? ॥ ३० ॥

यदि सुन्दरी स्त्री के शरीर से दुर्गन्ध निकले तो उसका सौन्दर्य व्यर्थ हो जाता है। उसी तरह भोगविलास की चिन्ता से संन्यासी का जीवन भी व्यर्थ हो जाता है ॥ ३१ ॥

संन्यासी होने से उन्हें सदाचारी होना चाहिए। नाटक में राजा की साज से सज्जित व्यक्ति का व्यवहार भी राजा की तरह ही होना चाहिए ॥ ३२ ॥

कोई वहुरूपी धनलाभ की इच्छा से संन्यासी का रूप वनाकर एक धनिक के घर में गया था ॥ ३३ ॥

उसे देखकर वह धनिक प्रसन्न होकर एक रुपया उसे देने के लिए उद्यत हुए, किन्तु वह साधुवेशधारी वहुरूपी दान ग्रहण न करके घर चला गया ॥ ३४ ॥

प्रक्षाल्याङ्घ्रिकरं तत्र वेषमुत्तार्य चात्मनः ।
प्रोवाच पुनरागत्य "यद्दत्तं तत्प्रदीयताम् ।। ३५ ।।

यावदासं यतेर्वेषे द्रव्यस्पर्शो मयोज्झितः ।
अधुना निजवेशोऽहम् दानं किमपि दीयताम्" ।। ३६ ।।

सत्यं परमहंसोऽपि लिङ्गाच्छून्यबालवत् ।
परं लोकस्य शिक्षार्थं सावधानतया चरेत् ।। ३७ ।।

त्यागश्चैतन्यदेवेन जगच्छिक्षार्थमाहितः ।
मङ्गलार्थं साधवोऽपि तत्यजुः कामकाञ्चने ।। ३८ ।।

निर्लिप्तास्ते परित्यक्त-भोगाः कल्याणसिद्धये ।
न शृण्वन्ति तथाप्यज्ञाः सुवचांसि महात्मनाम् ।। ३९ ।।

वहाँ जाकर अपने हाथ-पैर धोकर साधुवेश छोड़ पुनः उसने धनिक के पास जाकर कहा—'आप मुझे जो देना चाहते थे, उसे अब दीजिए' ।। ३५ ।।

उसने और भी कहा—'जब तक मैं संन्यासी के वेश में था, तब तक रुपये-पैसे छू नहीं सकता था । अब मैं अपने वेश में आया हूँ । अब आप कुछ भी दें मैं लूंगा ।। ३६ ।।

यह बात सत्य है कि परमहंस संन्यासी की अवस्था स्त्री-पुरुष के भेद-ज्ञानरहित बालक के समान होती है । यह बात सत्य होने पर भी लोकशिक्षा के लिए उन्हें सदा सावधान रहना चाहिए ।। ३७ ।।

श्री चैतन्य देव ने संसार की शिक्षा के लिए सर्वस्व का त्याग किया था । साधु लोग संसार के कल्याण के लिए काम-कांचन का परित्याग करें ।। ३८ ।।

यथार्थ संन्यासी भोग-वासना छोड़कर जगत्कल्याण-साधन के लिए संसार में निर्लिप्त भाव से रहते हैं, किन्तु साधारण अज्ञ व्यक्ति महात्माओं के उत्तम उपदेश भी नहीं सुनते ।। ३९ ।।

त्यागी तथा च संसारी द्विविधो भक्त उच्यते ।
तत्र त्यागी विरक्तात्मा समासक्ति-महाभयात् ॥ ४० ॥
सरघा मधुपानार्थं केवलं सुमनःस्थिता ।
मध्वास्वादं परित्यज्य नास्यै किमपि रोचते ॥ ४१ ॥
त्यागी भक्तोऽपीशभावं विना किमपि नेच्छति ।
स्पृहयेन्नार्थकामाभ्यां यशसेऽन्यसुखाय च ॥ ४२ ॥
चातकः स्वातिनक्षत्र-जलमेव यथेच्छति ।
सत्स्वनेकसमुद्रेषु नदीनदशतेषु च ॥ ४३ ॥
माक्षिकोपविशेत्क्वापि मिष्टान्नेऽवकरे व्रणे ।
तथा संसारिभक्तोऽपि विषयेशोभयस्थितः ॥ ४४ ॥

भक्त दो प्रकार के हैं—त्यागी भक्त और संसारी भक्त । उनमें त्यागी भक्त वैराग्यवान हैं, वे आसक्त होने के डर से सदा ही विषयों से दूर रहते हैं ॥ ४० ॥

मधुमक्खियाँ मधु पीने के लिए केवल फूलों के ऊपर ही बैठती हैं । मधु का स्वाद छोड़कर अन्य कुछ भी उन्हें अच्छा नहीं लगता ॥ ४१ ॥

उसी प्रकार त्यागी भक्त भी भगवान की सेवा को छोड़कर अन्य किसी चीज की कामना नहीं करते । धन, कामिनी, कीर्ति या अन्य सुख कुछ भी वे नहीं चाहते ॥४२॥

चातक पक्षी नद-नदी-समुद्र आदि के अनेक जलों के रहते हुए भी केवल स्वाति नक्षत्र का ही जल चाहता है ॥४३॥

मामूली मक्खी मिठाई, कतवार या घाव पर भी बैठती है । उसी प्रकार गृहस्थ-भक्त विषय तथा ईश्वर दोनों में मन लगा सकता है ॥४४॥

दूषितोद्देश्यसंपृक्त-नारीसंसर्गतोऽनिशम् ।
विपत्परम्परा दीर्घा जितेन्द्रिययतावपि ॥ ४५ ॥

रामायां भक्तियुक्तायामपि साधौ जितेन्द्रिये ।
उभयोः पतनं चेत्तत् स्यान्निष्ठीवनभक्षणम् ॥ ४६ ॥

द्रव्यस्पर्शोऽपि साधूनामापदां प्रभवो महान् ।
क्रोधाहङ्कारचिन्तानां धनमेकं हि कारणम् ॥ ४७ ॥

यथार्कदर्शनाकांक्षा नश्येन्मेघावृतेऽम्बरे ।
तथा धनागमाशाभिः साधना विलयं व्रजेत् ॥ ४८ ॥

जितेन्द्रिय होने पर भी असत् उद्देश्य से आगत स्त्री के सम्बन्ध में संन्यासी को विशेष सावधान रहना चाहिए। नहीं तो वे भारी विपत्ति में पड़ सकते हैं ॥४५॥

भक्तिमती स्त्री और जितेन्द्रिय साधु का पतन थूक चाटने की तरह निन्दनीय है ॥४६॥

साधुओं को रुपये-पैसे के सम्पर्क से अनेक विपत्तियों की सम्भावना है। क्योंकि धन ही क्रोध, अहंकार और दुश्चिन्ता का एकमात्र कारण है ॥४७॥

आकाश मेघाच्छन्न होने पर सूर्य देखने की आकांक्षा पूर्ण नहीं होती, उसी प्रकार हृदय में धनाकांक्षा के रहते सारे साधन-भजन निष्फल हो जाते हैं ॥४८॥

यमादियोगतः कष्टमुच्यते साधुजीवनम् ।
किन्तु तत्रात्मकल्याणं लोकसंग्रह एव च ॥ ४९ ॥

निर्लिप्तोऽपि यतिर्नित्यं जितेन्द्रियगणोऽपि सन् ।
लोकादर्शकृते तिष्ठेद्भोगद्रव्य-विवर्जितः ॥ ५० ॥

सतां पूर्णतया त्यागं वीक्ष्य साधारणा जनाः ।
सन्मार्गमवलम्बन्ते साधुकार्यमिदं महत् ॥ ५१ ॥

द्विजस्य विधवा कापि ब्रह्मचर्यव्रते स्थिता ।
हविष्यान्नपरा चेत् स्यात् लोकसंग्रहकारणम् ॥ ५२ ॥

यम, नियम आदि का अभ्यास करने में साधु को जीवन में अनेक कष्ट सहने पड़ते हैं। (अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह—ये पाँच यम हैं और शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान—ये पाँच नियम हैं ! उनके साथ आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि कुल ८ योग के अंग हैं)। किन्तु उनसे आत्मकल्याण और लोकसंग्रह होता है ॥४९॥

संन्यासी निर्लिप्त और जितेन्द्रिय होने पर भी लोगों को आदर्श दिखाने के लिए भोग-विलास का परित्याग करें ॥५०॥

महात्माओं का पूर्ण त्याग देखकर साधारण मनुष्य सन्मार्ग का अवलम्बन करते हैं, यह साधुओं का महान कार्य है ॥ ५१ ॥

यदि किसी ब्राह्मण की विधवा ब्रह्मचर्य-व्रत पालन करने की प्रतिज्ञा करती है और हविष्यान्न खाती है, तो वह समाज के कल्याण का कारण होता है ॥ ५२ ॥

अर्थकामसमाकृष्टो यतिश्चेत् स विनश्यति ।
तस्य काञ्चनसंसर्गो विषभक्षणवद्भवेत् ॥ ५३ ॥

तस्माद्यतिः स्वरक्षार्थं एकान्तस्थानमाश्रयेत् ।
यत्र तच्चित्तसंक्षोभ-सम्भवो न भवेत्क्वचित् ॥ ५४ ॥

सन्न्यासिनां कृते नित्यं विषवत्कामवासना ।
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन स्थेयं दूरं यतः स्पृहा ॥ ५५ ॥

समीपस्थे धने सौख्यलाभेच्छा वर्धते शनैः ।
रजस्तमोभ्यां सत्त्वांशो नश्येद् येनेशविस्मृतिः ॥ ५६ ॥

आचार्यस्त्रिविधः प्रोक्त उत्तमो मध्यमोऽधमः ।
उत्तमः स्थापयेच्छिष्यं बलादपि सतां पथि ॥ ५७ ॥

इसी प्रकार संन्यासी यदि धन, भोग आदि की लालसा में आकृष्ट होते हैं तो वह विनष्ट हो जाते हैं। उनका कांचन का सम्पर्क विष पीने के समान हानिकारक है ॥ ५३ ॥

इस कारण संन्यासी आत्मरक्षा के लिए ऐसे एकांत स्थान का आश्रय लेंगे जहाँ उनके मन में कोई कुभाव उत्पन्न न हो ॥ ५४ ॥

संन्यासियों के लिए सदा ही काम-वासना विष के समान है, अतः संन्यासी के लिए जिससे स्पृहा उत्पन्न हो, ऐसी वस्तु से विशेष रूप से दूर रहना उचित है ॥ ५५ ॥

यदि पास धन रहे तो क्रमशः सुख-भोग की इच्छा बढ़ती है, फलस्वरूप, रजोगुण और तमोगुण प्रबल हो जाते हैं, और वे सत्त्वगुण को विनष्ट कर डालते हैं तब ईश्वर को भी लोग भूल जाते हैं ॥ ५६ ॥

गुरु तीन प्रकार के हैं—उत्तम, मध्यम और अधम । उत्तम गुरु शिष्य को बलपूर्वक शुभ मार्ग में स्थापित करते हैं ॥ ५७ ॥

मध्यमो बोधयेच्छिष्यं येन तस्य शिवं भवेत् ।
अधमे तूपदेशस्य फलं प्रति तटस्थता ।। ५८ ।।

लोके परमहंसा ये ज्ञानिनः प्रेमिणश्च ते ।
यतन्ते ज्ञानिनस्तत्र केवलं स्वात्ममुक्तये ।। ५९ ।।

स्वयं लब्धेश्वरसुखा जगत्कल्याणकांक्षिणः ।
शुकदेवादयः श्रेष्ठाः प्रेमिणोऽन्यनिजार्थिनः ।। ६० ।।

आस्वादय केचिदाम्राणि मुखप्रोञ्छनतत्पराः ।
अपरे तु परेभ्योऽपि यच्छन्ति सुखपूर्वकम् ।। ६१ ।।

कूपं खातुं गतः कश्चित् खनित्रपिटकं वहन् ।
समाप्ते कर्मणि क्षिप्त्वा कूपे सर्वं गृहं ययौ ।। ६२ ।।

मध्यम गुरु शिष्य के कल्याण के लिए सदुपदेश देते हैं किन्तु अधम क्षेणी के गुरु शिष्य के उपदेश के फल के प्रति ध्यान नहीं देते ।। ५८ ।।

संसार में दो प्रकार के परमहंस संन्यासी हैं—ज्ञानी और प्रेमी । उनमें ज्ञानी केवल अपनी मुक्ति के लिए प्रयत्न करते हैं ।। ५९ ।।

शुकदेव आदि श्रेष्ठ प्रेमिक परमहंस अपने साथ परोपकार भी करते थे । वे स्वयं ईश्वर-लाभ के सुख का अनुभव करते हुए जग-कल्याण की इच्छा भी रखते थे ।। ६० ।।

कुछ लोग मीठा आम खाकर मुख को पोंछ डालते हैं, किन्तु ऐसे भी लोग हैं जो आम खाकर आनन्द के साथ दूसरों को भी आम खिलाते हैं ।। ६१ ।।

कुआँ खोदने के लिए कोई कुदाल, डलिया आदि ले गया और कुआँ खोदने का काम समाप्त होने पर उन यन्त्रों को कुएँ में फेंक कर वह घर लौट आया ।। ६२ ।।

अन्यः कश्चित्खनित्रादि परैरप्युपयोक्ष्यते ।
इति मत्वा खातकूप-स्तत्रैव त्यक्तवानिदम् ।। ६३ ।।

शुकदेवादिभिर्दत्तमात्मसिद्धेरनन्तरम् ।
लोकोपकार-सिद्ध्यर्थमुपदेशामृतं वचः ।। ६४ ।।

परेश्वरो लोकशिक्षां यैर्दापयितुमिच्छति ।
अर्थकामसमासक्तिरहितांस्तान् करोति सः ।। ६५ ।।

एतेषामुपदेष्टृणां त्यागः केवलमान्तरः ।
न योग्यः स्याद्बहिरपि, व्यर्था शिक्षान्यथा भवेत् ।। ६६ ।।

लोकोऽन्यथा वदेत्साधु-रयं त्यागोपदेशकृत् ।
परं स्वयं भोगपरः श्राव्यमस्य कथं वचः ? ।। ६७ ।।

फिर ऐसे भी मनुष्य हैं जो कुदाल आदि यन्त्र किसी दूसरे के काम आ सकते हैं यह समझ कर कुआँ खुद जाने के बाद उन्हें वहीं छोड़ देते हैं ।। ६३ ।।

इसी प्रकार शुकदेव आदि महात्मा सिद्धिलाभ करके परोपकार के लिए उपदेश दे गये हैं ।। ६४ ।।

भगवान जिनसे लोकशिक्षा दिलाना चाहते हैं, उन्हें वे काम-काञ्चन की आसक्ति का त्यागी बनाते हैं ।। ६५ ।।

इस प्रकार के आचार्यों को केवल मन में त्याग करके ही सन्तुष्ट रहना उचित नहीं है । उन्हें बाहरी त्याग भी करना चाहिए, नहीं तो उनकी लोक-शिक्षा व्यर्थ हो जायगी ।। ६६ ।।

लोग कहेंगे कि यह साधु केवल दूसरों के लिए ही उपदेश देते हैं, किन्तु स्वयं भोग में आसक्त हैं; तो हम इनकी बात कैसे ग्रहण करेंगे ? ।। ६७ ।।

विनान्तरबहिस्त्यागं लोकशिक्षाप्यसम्भवा ।
"गुड़ माध्वा" वदेदज्ञो गुड़ं रहसि भक्षयन् ।। ६८ ।।
त्यागेन मानसेनापि संन्यासी जायते ध्रुवम् ।
वासनास्वग्निपातेन संन्यासे चरितार्थता ।। ६९ ।।
मायामेघैरावृतिर्यावदन्तर्न स्यात्तावज्ज्ञानसूर्यप्रकाशः ।
दूरीभूते छादनेऽस्मिन्न विद्याध्वान्तं नश्येज्ज्ञानमित्रोदयेन ।।७०।।
गृहाभ्यान्तरे सूर्यकान्तोप्यकान्तिः समर्थो न दग्धुं भवेल्लेखपत्रम् ।
बहिर्मित्रभा-योगतो दग्धुमीशस्तथा भोगबाह्यत्व-सङ्गात्प्रकाशः ।। ७१ ।।

बाहरी और भीतरी दोनों प्रकार के त्याग न करने से आचार्य दूसरों को शिक्षा देने के योग्य नहीं होते । जो दूसरों को गुड़ खाने से मना करता है, किन्तु खुद छिप कर गुड़ खाता है, ऐसे उपदेशक को अज्ञानी समझना चाहिए ।। ६८ ।।

यह बात सत्य है कि मानसिक त्याग से मनुष्य संन्यासी हो सकता है । वासना में अपनी ज्ञानाग्नि लगाकर उसे भस्म कर देने से संन्यास चरितार्थ हो जाता है ।। ६९ ।।

जब तक अन्तःकारण माया रूप मेघ से आच्छन्न रहता है तब तक ज्ञान रूप सूर्य का प्रकाश नहीं हो सकता । उस आवरण के हटा देने पर आत्मज्ञान के उदय से अविद्या रूप अंधकार नष्ट हो जाता है ।। ७० ।।

अंधेरे घर में सूर्यकान्तमणि का तेज नहीं रहता, वैसी स्थिति में वह रूई आदि को भी जला नहीं सकता । किन्तु बाहर सूर्य-किरण के साथ संयोग होने पर वह मणि अन्य चीजों को भी जला सकता है । इसी प्रकार भोग-विलास की कामना-वासना के दूर होने से ही आत्मसूर्य प्रकाशित होता है ।। ७१ ।।

पुनर्मेघसत्त्वे न सूर्यप्रकाशो न चाप्यर्ककान्तोऽत्र दग्धुं समर्थः।
गते मेघबन्धे ज्वलत्येष तद्वत् प्रयाते विलासे मनोमोहनाशः ॥ ७२ ॥

यथा प्रदीप्ते ज्वलने पतङ्गाः पतन्त्यमेयाः स्वयमेव भूयः।
तथा हृदिस्थे भगवत्यनेके ज्ञानार्थमायान्ति जनाः समीपम् ॥ ७३ ॥

शुद्धं मनो भवतु साधकमानवानां भोगार्थसङ्गमयुतं मलिनी भवेत्तत्।
पात्रे विमर्दनवशाल्लशुनस्य गन्धो नश्येच्चिरं न, तदिदं परिरक्षणीयम् ॥७४॥

फिर यदि आकाश में बादल छा जाता है, तब सूर्य की किरणें लुप्त-सी हो जाती हैं, उस समय सूर्यकान्तमणि अन्य चीजों को दग्ध नहीं कर सकता। उस बादल के छट जाने से वह मणि फिर उज्ज्वल हो जाता है और दग्ध करने में समर्थ होता है। इसी प्रकार भोग-विलास की चिन्ता दूर होने से मन का अज्ञान नष्ट हो जाता है, अर्थात् आत्मसूर्य ज्योतिष्मान् हो जाता है ॥ ७२ ॥

जैसे प्रदीप्त अग्नि में अगणित फतिंगे अपने आप आकर गिरते रहते हैं, उसी प्रकार यदि कोई मनुष्य अपने अन्तर में भगवान को प्रतिष्ठित कर सके तो अनेक मनुष्य उनके पास तत्त्वज्ञान लाभ करने के लिए आते हैं ॥ ७३ ॥

साधकों का मन शुद्ध और निर्मल होना आवश्यक है, क्योंकि भोग-विलास और धन की चिंता से मन मलिन हो जाता है। जैसे किसी बर्तन में लहसुन रख देने से उसकी दुर्गन्ध बहुत दिनों तक मलने के बाद नष्ट होती है, वैसे ही भोग-विलास की वासना मन से दूर होती नहीं, अतः उससे मन को बचाना आवश्यक है ॥ ७४ ॥

काकेन चञ्चूल्लिखितं फलं यत् न देवयोग्यं न मनुष्यभोग्यम् ।
स्थाप्यं न दुग्धं दधिपात्रमध्ये शुद्धं मनोऽपि प्रभुवासयोग्यम् ॥ ७५ ॥

इति श्रीरामकृष्णोपदेशसाहस्र्यां "संन्यासाश्रमो"
नाम सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

कौए का चोंच मारा फल देवसेवा में नहीं लगता, यहाँ तक कि मनुष्य के खाने योग्य भी वह नहीं रहता । दही के बर्तन में दूध रखने से वह नष्ट हो जाता है । मन की मैल धो डालने पर वह परिशुद्ध मन ही भगवान के वास के योग्य होता है अर्थात् शुद्ध मन में ही भगवान निवास करते हैं ॥ ७५ ॥

इति श्रीरामकृष्णोपदेशसाहस्री का संन्यासाश्रम नामक
सातवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ७ ॥

ज्ञानावस्थानामोऽष्टमोऽध्यायः ।

ज्ञानस्य सप्त भूमिकाः

अध्वन्यस्मिन्मनुजमनसो भूमयः सप्त लिङ्गे
गुह्ये नाभौ विषयरसिकास्तिस्र आद्या भवन्ति ।
वासे जाते हृदि तु मनसः प्रेक्षमाणः प्रकाशं
दिव्यं, चित्रं स्वयमनुभवेज्ज्योतिरेतत्किमास्ते ।। १ ।।
ऊर्ध्वं भूयः प्रसरति यदा मानसं कण्ठदेशे
तत्र श्रद्धा भवति सततं भूयसीशप्रसंगे ।
भ्रूमध्यस्थे मनसि च भवेत्सच्चिदानन्द तेज-
स्तस्याश्लेषे प्रभवति समीहा परं निष्फला सा ।। २ ।।

ज्ञानावस्था

(ज्ञान की सात भूमिकाएँ)

इस ज्ञानमार्ग में मनुष्य के मन की सात भूमिकाएँ,या अवस्थाएँ हैं । इनमें प्रथम तीन लिंग, गुह्य और नाभि में—विषय-विलास की अवस्थाएँ हैं । किन्तु यदि मन उन स्थानों के ऊपर हृदय-कमल में अवस्थित रहता है तो उस समय ईश्वर की ज्योति का दर्शन होता है, और उस समय साधक आश्चर्यचकित होकर कहता है—अहो ! कैसी अपूर्व ज्योति है ।। १ ।।

हृदय-कमल से यदि मन ऊपर की ओर कंठदेश में अवस्थित रह सके तो उसे सदा ईश्वर-प्रसंग कहने या सुनने की इच्छा होती है । उसके अनन्तर मन के भ्रूमध्य में स्थित होने पर सच्चिदानंद की ज्योति का दर्शन होता है । उस समय उस ज्योति के साथ मिल जाने की इच्छा होती है, किन्तु वहाँ वैसी इच्छा पूर्णतया सफल नहीं हो सकती ।। २ ।।

ज्ञानालोकः प्रसरति परं दर्शनं केवलं सः
'स्पृष्टः' 'स्पृष्टो' मतिरिह भवेत्स्पर्शनं नो तथापि ।
नष्टोऽहं स्यान्मनसि चरमे भूमिभागे समाधौ,
वाचां गम्यं न हि सुखमिदं, वर्णितं 'यद्दूरापम् ।। ३ ।।

ज्ञातुं मूर्तिर्लवणरचिता सिन्धुगाम्भीर्यमानं
काचिद्याता जलधिसलिले सैव जाता विलीना ।
ब्रूयान्मानं क इव परतो मानकर्त्रीह नो
चेन्नानन्दोऽस्मिन् वचनविषयः सप्तमे भूमिभागे ।। ४ ।।

अहमेवाभिमानोऽयं न कल्याणकरो नृणाम् ।
अधःपात क्रमेण स्यात्स्वपरेषां प्रतारणा ।। ५ ।।

इस षष्ठभूमि में ज्ञानालोक परिव्याप्त रहता है, किन्तु वहाँ केवल दर्शन ही होता है। ऐसा लगता है मानो मैंने उस ज्योति का स्पर्श किया है। किन्तु उस समय भी यथार्थ अनुभव नहीं होता। उसके बाद सप्तम भूमि में मन के समाधिस्थ होने पर अहंभाव एकदम नष्ट हो जाता है। उस समय पूर्ण अनुभूति होती है। वाक्य से उस समाधि के आनन्द का वर्णन नहीं किया जा सकता। ऐसा आनन्द अत्यंत दुर्लभ है ।। ३ ।।

नमक का पुतला समुद्र की गहराई नापने के लिए गया, किंतु उस खारे जल में प्रविष्ट होते ही गल गया। ब्रह्मानंद की गंभीरता को नापना यथार्थ में असंभव है। नापनेवाला ही यदि न रह गया तो कौन आकर जल का परिमाण बता देगा ? इसी प्रकार ब्रह्मानंद में प्रविष्ट होकर मन स्वयं ही लीन हो जाता है। इस कारण सप्तम भूमि का आनंद वाक्य से प्रगट नहीं किया जा सकता। इस अवस्था को मन-वाणी के अगोचर कहते हैं ।। ४ ।।

अहं इस प्रकार का अभिमान मनुष्य के लिए कल्याणदायक नहीं है, इससे क्रमशः अधःपतन होता है। इससे केवल दूसरों को धोखा देना ही नहीं होता, बल्कि आत्मवंचना भी होती है ।। ५ ।।

अविद्या, विद्या तथा ब्रह्म

मायातीतं परं ब्रह्म तद्विद्याविद्ययोः परम् ।
विद्याविद्ये तु मायाया रूपे मायामयं जगत् ।। ६ ।।

विद्यायां 'सत्' 'शिवं' 'ज्ञानं' 'भक्ति'श्चेति चतुष्टयम् ।
विपरीतमविद्यायां निर्लिप्तं ब्रह्म केवलम् ।। ७ ।।

निर्मलं ब्रह्म जीवे तु सदसच्चाशिवं शिवम् ।
गीतापाठो वंचना वा निर्दोषो दीपकः पुरः ।। ८ ।।

अशिष्टेष्वथवा शिष्टेष्वालोकं कुरुते रविः ।
स तु निर्लेप एवास्ते विमलं ब्रह्म सर्वगम् ।। ९ ।।

अविद्या, विद्या तथा ब्रह्म

परमब्रह्म माया से परे हैं, विद्या और अविद्या से भी अतीत हैं, किन्तु विद्या और अविद्या माया का ही रूपान्तर है । यहाँ तक कि सारा संसार ही मायामय अर्थात् असत्य है ।। ६ ।।

विद्या रूप माया के भीतर सत्, शिव (कल्याण), ज्ञान और भक्ति ये ४ पदार्थ रहते हैं । इसके विपरीत अविद्या या अज्ञान में असत्, अज्ञान और अकल्याण, अभक्ति रहते हैं, किन्तु ब्रह्म निर्लिप्त भाव से अवस्थित हैं ।। ७ ।।

केवल ब्रह्म ही निर्मल वस्तु है । किन्तु जीवों में सत्, असत्, अमंगल और मंगल देखने में आते हैं । दीपक के सामने गीतापाठ हो या वंचना ही हो तथापि दीपक निर्लिप्त ही रहता है, इसी प्रकार जीव के सत् या असत् कार्यों के द्रष्टा ब्रह्म निर्लिप्त ही रहते हैं ।। ८ ।।

अशिष्ट और शिष्ट सर्वत्र ही सूर्य प्रकाश देता है, किन्तु वह मनुष्य के गुणदोष से निर्लिप्त ही रहता है, इसी प्रकार सर्वव्यापी ब्रह्म शुभाशुभ कर्म या सत्, असत् चिन्ता से निर्मल ही रहते हैं ।। ९ ।।

विषं विषधरस्यास्ये न तद्बाधाकरं भवेत् ।
बाधतेऽन्यं तथेशस्य मायाऽकिञ्चित्करी भवेत् ॥ १० ॥

ब्रह्म वर्णनातीतम्

संसारे सर्वमुच्छिष्टं वेदशास्त्रादिकं पुनः ।
केवलं ब्रह्म नोच्छिष्टं यत्केनापि न वर्णितम् ॥ ११ ॥

शर्करागिरिमाहर्तुं वाञ्छेत्कापि पिपीलिका ।
ब्रह्म ज्ञातुं समर्थोऽस्मि वदेदज्ञस्तथा वृथा ॥ १२ ॥

ब्रह्मानन्तं निराकारमवाङ्मनसगोचरम् ।
प्राज्ञंमन्योऽप्यरूपं तत् को जानाति यथार्थतः ॥ १३ ॥

साँप के मुँह में विष रहता है, उससे उसका कोई अनिष्ट नहीं होता। किन्तु वह विष दूसरे की मृत्यु का कारण होता है। इसी प्रकार ईश्वर की माया उनको किसी प्रकार हानि नहीं पहुँचा सकती, क्योंकि वह मायाधीश हैं ॥१०॥

ब्रह्म वर्णनातीत हैं।

इस संसार में वेद आदि सारे शास्त्र उच्छिष्ट हो गये हैं, क्योंकि लोगों ने मुख से उनका उच्चारण किया गया है। केवल ब्रह्म ही उच्छिष्ट नहीं हैं, क्योंकि आज तक कोई भी वाक्य से उनका वर्णन नहीं कर सका है, क्योंकि वह वाक्य और मन के अगोचर हैं ॥ ११ ॥

यदि कोई चिउटा चीनी के पहाड़ को उठा ले जाना चाहता है, तो वह संभव नहीं हो सकता। इसी प्रकार 'मैं ब्रह्म को जानने में समर्थ हूँ' ऐसे अज्ञानी की बात निरर्थक है ॥ १२ ॥

ब्रह्म अनंत, निराकार तथा मन-वाणी से अगोचर हैं। स्वयं पंडितम्मन्य होने पर भी ऐसे ब्रह्म को यथार्थ रूप से कौन जान सकता है ? ॥ १३ ॥

अपारस्य कथं पारज्ञानं भवति तत्त्वतः।
उच्चैरप्युत्पतन् पक्षी खं पश्यत्युपरि स्थितम् ॥ १४ ॥

ब्रह्मज्ञानं तु कल्पेत निर्विकल्पसमाधये।
ज्ञानसूर्य-प्रभापातादज्ञानहिम-विद्रुतिः ॥ १५ ॥

विषयासक्तं मनो यावत् तावन्नित्यं न लभ्यते।
जगदासक्तितो मुक्तं न स्याद्वैषयिकं मनः ॥ १६ ॥

शब्दस्पर्शादयोऽक्षाणां विषया दुस्त्यजा ननु।
विषयादिपरित्यागात् ब्रह्मज्ञानस्य सम्भवः ॥ १७ ॥

आत्मात्मनैव संवेद्यो नाशूद्धमनसा पुनः।
'शुद्धं मनो' विशुद्धा धीरात्मा शुद्धः समं वचः। १८ ॥

जो अनंत और असीम है, उसका अंत यथार्थ रूप से कैसे जाना जायगा? पक्षी आकाश में कितना ही अधिक ऊपर क्यों न उठ जाय, वह अपने सिर के ऊपर केवल आकाश ही देखता है, अपार, असीम, अनंत आकाश की सीमा देखना उसके लिए संभव नहीं है ॥ १४ ॥

ब्रह्मज्ञान निर्विकल्प समाधि का कारण हो सकता है, जैसे साकार बर्फ सूर्य की प्रभा से गल जाता है, उसी प्रकार अज्ञानान्धकार ज्ञानसूर्य की प्रभा से दूरीभूत हो जाता है ॥ १५ ॥

जब तक मन विषयासक्त रहता है, तब तक नित्य वस्तु का लाभ नहीं हो सकता, क्योंकि मन विषयों की आसक्ति से मुक्त नहीं है ॥ १६ ॥

शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध ज्ञानेंद्रियों के इन विषयों का परित्याग करना कठिन है। किन्तु इन विषयों का पूर्णतया परित्याग होने से ही ब्रह्मज्ञान का लाभ संभव है ॥ १७ ॥

विषयासक्त अशुद्ध मन से आत्मा को जानना संभव नहीं है, बल्कि शुद्ध मन के द्वारा ही आत्मा को जानना संभव है। शुद्ध मन, विशुद्ध बुद्धि और शुद्ध आत्मा ये शब्द एकार्थ में पर्यवसित हैं ॥ १८ ॥

चक्षुरालोकमनसामपेक्षा वस्तुचाक्षुषे ।
तेष्वेकस्याप्यभावेन तच्चाक्षुषमसम्भवम् ॥ १९ ॥

अहं नास्मि जगन्नास्ति विचारोऽयं न सम्भवः ।
यावन्मनोऽथ तस्यान्तेऽन्तः सङ्कल्पविकल्पयोः ॥ २० ॥

पयःपूर्णो यथा कुम्भः सर्वतः प्लाविते जले ।
तिष्ठेत्ताथर्हमस्माकमीशसत्ता-महार्णवे ॥ २१ ॥

संसारः चिरपाकसदृशः

अधःस्तात्सच्चिदानन्दो वह्निः प्रज्वलितः स्थितः ।
उपरिष्टाद्देहपात्रं स्थापितं पाकसिद्धये ॥ २२ ॥

किसी पदार्थ को देखने के लिए नेत्र, प्रकाश और मन इन तीनों की आवश्यकता है। इनमें से किसी एक का अभाव होने पर किसी वस्तु का प्रत्यक्ष संभव नहीं हो सकता ॥ १९ ॥

जब तक मन है तब तक 'मैं नहीं हूँ' 'जगत् नहीं हैं,' ऐसी बात नहीं कही जा सकती। मन का विलय होने से ही संकल्प-विकल्प-रूप विचार समाप्त हो जाता है ॥ २० ॥

जलपूर्ण कलसी को यदि जलप्लावित स्थान में रखा जाय तो उसका पृथक् अस्तित्व नहीं दिखाई पड़ता। इसी प्रकार ईश्वर-सत्तारूप महासमुद्र में हमारे 'अहं ज्ञान' का पृथक् अस्तित्व नहीं रहता ॥ २१ ॥

संसार चिरपाक के तुल्य है।

सच्चिदानंद-रूप अग्नि नीचे जलायी गयी है। पाककार्य के लिए उसके ऊपर पांचभौतिक शरीर-रूप पात्र रक्षित हैं ॥ २२ ॥

जलं मनोऽक्षविषयाः कन्दद्विदलतण्डुलाः ।
'अहं' खदखदाशब्दः पाकोऽयं जायते चिरात् ॥ २३ ॥

ईशलाभो मुख्यः

आदौ भवत्वीशलाभो जगच्छास्त्रादिकं ततः ।
आदाविभ्येन संभाषा ततो गृहधनादिवित् ॥ २४ ॥

वाल्मीकिरूपदिष्टोऽभून् नित्यं वक्तुं 'मरा' 'मरा' ।
'म'-इतीश्वरनामास्ति 'रा' जगत्तदनन्तरम् ॥ २५ ॥

उस पात्र में मन-रूप जल तथा शब्द, स्पर्श आदि इंद्रिय-विषय-रूप आलू, दाल, चावल आदि रंधन के पदार्थ हैं। उन वस्तुओं के सीझते समय 'खद-खद' शब्द उत्पन्न होता है, वही 'अहं-भाव' का आस्फालन है। इसी प्रकार अनादि काल से पाक-क्रिया चल रही है ॥ २३ ॥

ईश्वर-लाभ ही प्रधान है।

पहले ईश्वर-प्राप्ति ही प्रधान लक्ष्य होना चाहिए। जगत् का विचार तथा शास्त्राध्ययन उसके बाद होने चाहिए। पहले महाजन का दर्शन आवश्यक है, उसके बाद उनके घर, धन आदि का विषय जाना जा सकता है ॥ २४ ॥

वाल्मीकि पहले इतने अधिक पापी थे कि राम नाम का उच्चारण नहीं कर सकते थे, इस कारण उन्हें उपदेश दिया गया था कि तुम सदा 'मरा-मरा' कहते रहो। उसमें 'म' अक्षर का अर्थ है ईश्वर अर्थात् पहले भगवान का नाम लेना होता है। उसके बाद 'रा' अक्षर के अर्थ जगत् के संबंध में विचार करना उचित है। (मरा-मरा में राम बार-बार जल्दी-जल्दी कहते रहने से राम-राम का उच्चारण होने लगता है) ॥ २५ ॥

वाल्मीकिवज्जगत्यागो निर्जने व्याकुलं मनः।
हेतुः परेशलाभेऽस्तु तदन्यद्गौणमुच्यते ॥ २६ ॥

आत्मस्वरूपम्

आत्मा शुद्धोऽस्ति निर्लिप्तो न दृष्टेर्गोचरो भवेत्।
पृथग् रूपं न दृश्येत लवणं मिलितं जले ॥ २७ ॥

स्थूलः सूक्ष्मः कारणं स महाकारणमेव च।
स्थूलो भूतानि, सूक्ष्मस्तु बुद्ध्यहन्तामनस्त्रिकम् ॥ २८ ॥

प्रकृतिर्या शक्तिराद्या सर्वकारणमुच्यते।
शुद्ध आत्माथवा ब्रह्म कारणानां च कारणम् ॥ २९ ॥

वाल्मीकि की तरह जगत् का परित्याग करके और निर्जन स्थान में जाकर मन की व्याकुलता लेकर प्रार्थना करना—ये दोनों भगवान-लाभ के प्रधान उपाय हैं। अन्य सभी गौण कहे जाते हैं ॥ २६ ॥

आत्मा का स्वरूप

आत्मा शुद्ध और निर्लिप्त है और वह बाह्यदृष्टि के विषय नहीं है। जैसे नमक जल में मिल जाय तो उसका पृथक रूप नहीं दिखाई पड़ता, जीव के आत्म-दर्शन कर सकने से वह आत्मा के साथ एक हो जाता है, फिर उसका पृथक अस्तित्व नहीं रह सकता ॥ २७ ॥

वे स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर हैं। महान कारण भी वही हैं। इसमें पाँच भौतिक शरीर स्थूल हैं और बुद्धि, अहंकार तथा मन ये तीन सूक्ष्म हैं ॥ २८ ॥

जो प्रकृति आद्या शक्ति है, उसे सृष्टि का कारण कहा जा सकता है। शुद्ध आत्मा या ब्रह्म कारणों के भी कारण हैं ॥ २९ ॥

शुद्ध आत्मा स्वरूपं नस्तब्दोधो 'ज्ञान'संज्ञितः ।
खाद्याखाद्यविचारोऽपि ब्रह्मज्ञाने समाप्यते ॥ ३० ॥

ब्रह्म शक्तिश्च

आद्या शक्तिः स्मृता काली कालो ब्रह्मैकता तयोः ।
कालेन रमते काली चित्सुखानन्तरूपतः ॥ ३१ ॥

शक्तिराकार्यते सैव मातरित्थं क्रिया परा ।
सृष्टिस्थित्यन्तहेतुर्या प्रोच्यते ब्रह्म निष्क्रियम् ॥ ३२ ॥

पारावारस्थितं नीरं नानावीचिभिरावृतम् ।
एवमेवाद्यया शक्त्या शान्तं ब्रह्म समावृतम् ॥ ३३ ॥

शुद्ध आत्मा ही हमारा स्वरूप है, इस प्रकार की अनुभूति को ही ज्ञान कहते हैं। इस आत्मज्ञान के उत्पन्न होने से खाद्य और अखाद्य का विचार भी समाप्त हो जाता है ॥ ३० ॥

ब्रह्म और शक्ति

आद्या शक्ति को काली कहते हैं और ब्रह्म ही काल हैं, दोनों की एकता स्वतः सिद्ध है। काली सदा काल के साथ सच्चिदानन्द रूप से विहार करती हैं ॥ ३१ ॥

ब्रह्म और शक्ति अभिन्न है, वही आद्या शक्ति जब सृष्टि, स्थिति, लय रूप कार्य में निरत रहती हैं, तब उन्हें 'माता' इस नाम से पुकारा जाता है। किन्तु ब्रह्म सदा निष्क्रिय हैं ॥ ३२ ॥

समुद्र का जल छोटी, बड़ी अनेक लहरों से आवृत रहता है, इसी प्रकार आद्या शक्ति महामाया के द्वारा शान्त ब्रह्म मानो आवृत हैं ॥ ३३ ॥

शुद्धं ब्रह्मावशिष्येत मायावृतिनिवारणे ।
त्वमेवाहमहं च त्वम् इति जायेत भावना ॥ ३४ ॥

पूज्य-पूजक-सम्बन्धः

यावद्द्वैतमति-"मातः ! पुत्रोऽहं तव किंकरः" ।
पूज्यपूजकभावोऽस्तु सेव्यसेवकताऽथवा ॥ ३५ ॥

दासं समीपमागन्तुं स्वामी स्नेहाद्वदेदपि ।
नावयोर्भेदभावोऽस्ति समीपे मेऽनिशं वस ॥ ३६ ॥

सेव्यः प्रधानतां याति गौणत्वं सेवकः पुनः ।
तरङ्गवान्समुद्रोऽस्ति न तरङ्गः समुद्रवान् ॥ ३७ ॥

मायारूप आवरण के हट जाने से शुद्ध ब्रह्म ही अवशिष्ट रहते हैं । उस आवरण के हटते समय 'तुम ही मैं हूँ' और 'मैं ही तुम हो' ऐसा विचार उत्पन्न होता है ॥ ३४ ॥

पूज्य और पूजक का सम्बन्ध

जब तक मन में द्वैत भाव (भक्त और ईश्वर) है तब तक—'हे माता ! मैं तुम्हारा पुत्र हूँ, तुम्हारा दास हूँ', इस प्रकार पूज्य और पूजक का भाव या सेव्य और सेवक का भाव रहना अच्छा है ॥ ३५ ॥

यदि प्रभु का स्नेह सेवक के ऊपर रहता है, तो वे उसे पुकार कर अपने पास बिठा लेते हैं और कहते हैं तुम हर समय मेरे पास रहो, तुममें और मुझमें कोई भेद नहीं है ॥ ३६ ॥

सेव्य प्रभु ही प्रधान हैं और सेवक गौण । समुद्र की ही लहरें हैं, किन्तु लहरें कभी समुद्र नहीं हो सकतीं ॥ ३७ ॥

ज्ञानी दीपावृत्तिं वस्त्रमिव मायां परित्यजेत् ।
तामेव शक्तिरूपेण भक्तो ज्ञानाय पूजयेत् ॥ ३८ ॥

आद्या शक्तिस्तथा ब्रह्म द्वे रूपे एकवस्तुनः ।
भेदस्तु नामरूपाभ्यां वाटरपानीतिशब्दवत् ॥ ३९ ॥

एक एवेश्वरो ब्रह्म 'गाड्' 'अल्ले'त्युच्यते जनैः ।
भाषाभेदोऽस्तु सर्वत्र वस्तुभेदो न विद्यते ॥ ४० ॥

शक्तिराद्या गुणी ब्रह्म सृष्टिस्थित्यन्तकारणम् ।
गुणातीतं निर्गुणं तत् मनोवाचोऽतिवर्तते ॥ ४१ ॥

विषयेच्छां त्यजेज्ज्ञानी नेतिनेतीति भावयन् ।
समाधिं लभते जानन् "ब्रह्मैवास्ते चराचरम्" ॥ ४२ ॥

दीपक के आवरण-वस्त्र की तरह ज्ञानी व्यक्ति माया का परित्याग करके ब्रह्ममय हो जाते हैं । किन्तु भक्त शक्ति-रूप से माया की ही उपासना करते हैं और ज्ञान-लाभ के लिए प्रार्थना भी करते हैं ॥ ३८ ॥

आद्या शक्ति तथा परमब्रह्म एक ही वस्तु के दो रूप हैं । भेद केवल नाम और रूप में है । जैसे एक ही वस्तु के जल, पानी, वाटर आदि नाम हैं ॥ ३९ ॥

लोग एक ही ईश्वर को ब्रह्म, गाड, अल्ला आदि अनेक नामों से पुकारते हैं । ऐसे स्थल में सर्वत्र भाषा का ही भेद है । यथार्थ में वस्तु के भीतर कोई भेद नहीं है ॥ ४० ॥

आद्या शक्ति निर्गुण ब्रह्म का सगुण स्वरूप है, इसी कारण वह आद्या शक्ति ही संसार की सृष्टि, स्थिति और लय के कारण हैं । ब्रह्म गुणातीत अर्थात् निर्गुण और वाणी-मन के अगोचर हैं ॥ ४१ ॥

ज्ञानी व्यक्ति नेति-नेति विचार करके विषय-भोग की आकांक्षा छोड़ दें । यह सभी चराचर विश्व ब्रह्मस्वरूप है—ऐसा ज्ञान प्राप्त होने से समाधि-लाभ होता है ॥ ४२ ॥

प्रासादतलमारोढुं सोपानालिः प्रयुज्यते ।
उभयोरप्युपादानमेकमेवेष्टकादिकम् ॥ ४३ ॥

भक्तिज्ञानयोरभेदः

भक्तिज्ञाने विभिन्नेऽपि लक्ष्यमेकं तयोर्भवेत् ।
ज्ञानमार्गे स्वयं नश्येद् भावनाप्युच्चनीचयोः ॥ ४४ ॥

'अहं'-सत्ता यावदास्ते तावत्ते जगदादिकम् ।
ज्ञानिभिस्त्वतिवर्त्यन्ते जाग्रत्स्वप्न-सुषुप्तयः ॥ ४५ ॥

ज्ञानिनामविद्याश्रयणम्

ज्ञानवन्तोऽपि विद्यन्ते विद्या-मायासमाश्रिताः ।
प्रथमं लोकशिक्षार्थं रसास्वादकृते ततः ॥ ४६ ॥

महल के ऊपर चढ़ने के लिए सीढ़ी की सहायता लेनी पड़ती है। किन्तु सीढ़ी और महल का उपादान ईंट, पत्थर आदि एक ही है ॥ ४३ ॥

भक्ति और ज्ञान अभिन्न है ।

भक्ति और ज्ञान विभिन्न होने पर भी ज्ञानी और भक्त का एक ही लक्ष्य—ईश्वर-प्राप्ति है। ज्ञानमार्ग में उच्च और नीच की भावना अपने आप नष्ट हो जाती है ॥ ४४ ॥

जब तक अहंकार-भाव विद्यमान रहता है तब तक सांसारिक पदार्थों का अस्तित्व भी रहता है। ज्ञानी जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओं का अतिक्रमण करते हैं ॥ ४५ ॥

ज्ञानियों का अविद्या आश्रय

किन्तु कभी-कभी ज्ञानी व्यक्ति भी विद्या और माया का आश्रय लेकर संसार में रहते हैं। लोगों को शिक्षा देना ही उनका प्रधान उद्देश्य है। उसके अनन्तर ब्रह्मानन्द रस का स्वाद लेना भी उनका एक दूसरा उद्देश्य है ॥ ४६ ॥

भक्तिमन्तो दयावन्तो ते भवन्ति विरागिण ।
लोकशिक्षा कथं शक्या यदि ते मौनमाश्रिताः ॥ ४७ ॥

अतः श्रीशङ्कराचार्यैर्विद्याऽहन्तात्मसात्कृता ।
भक्तष्वपाश्वरानन्द-प्राप्तयेऽहं न दोषभाक् ॥ ४८ ॥

बालस्वभावसदृशो मुकुरे प्रतिबिम्बवत् ।
शुद्धोऽहं नास्ति दोषाय सोऽशुद्धो दूषितः श्रुतः ॥ ४९ ॥

विद्यामायाश्रये नाम गानं ध्यानं सुसंगतिः ।
तथा विवेकवैराग्ये सर्वं 'विज्ञानसिद्धये' ॥ ५० ॥

'अहं' ज्ञानाग्निना दग्धो नानिष्टं कुरुते क्वचित् ।
सर्पाकारा दग्धरज्जुः फूत्कारेणापि नश्यति ॥ ५१ ॥

इस प्रकार ज्ञानी व्यक्ति भक्तिमान, दयालु और विरागी होते हैं। यदि वे मौनव्रत धारण कर शान्त रहते हैं तो लोकशिक्षा कैसे होगी ? ॥ ४७ ॥

इसी उद्देश्य से आदि शंकराचार्य ने विद्या की अहंता को रखा था। इसी प्रकार भक्तों में भगवान का आनन्द प्राप्त करने के लिए मैं भक्त हूँ, ऐसा भाव रखने से दोष नहीं लगता ॥ ४८ ॥

उनका वह शुद्ध अहंभाव बालक के अहंभाव की तरह निर्दोष है अर्थात् दर्पण में प्रतिबिम्ब की तरह निर्लिप्त है। किन्तु यदि उसमें सांसारिक अहंभाव रह जाय तो उसे दोषयुक्त कहा जा सकता है ॥ ४९ ॥

विद्या माया का आश्रय लेने से भगवान के नाम-गान, ध्यान, साधुसंग, विवेक, वैराग्य आदि उत्तम गुण साधक में उत्पन्न होते हैं। ये सब विज्ञान-लाभ के कारण हैं ॥ ५० ॥

ज्ञानाग्नि से दग्ध अहंकार कुछ अनिष्ट नहीं कर सकता। यदि साँप के आकार की रस्सी को जला दी जाय तो उससे सांप का भय तो रहता ही नहीं, बल्कि फूंक देने से वह उड़कर नष्ट हो जाती है ॥ ५१ ॥

लीलायां रमते ज्ञानी नित्यप्राप्तेरनन्तरम् ।
उपरिष्टादधो याति लोकसंग्रहहेतवे ॥ ५२ ॥

पुनरागमनं लोके विद्यामायावलम्बिनाम् ।
जन्मनै वासनाल्पापि वासनान्तस्तु मुक्तिदः ॥ ५३ ॥

सिद्धानां न स्पृहा मोक्षे, नापि चिन्ता कुटुम्बिनाम् ।
कुर्वन्ति लोक-कल्याणं यान्ति तेऽवतरन्ति च ॥ ५४ ॥

जगत्क्षणस्थायि

जना जगति जायन्ते किञ्चित्कालं वसन्ति च ।
अन्ते पञ्चत्वमायान्ति जीवितं त्वतिभंगुरम् ॥ ५५ ॥

ज्ञानी नित्य सत्यस्वरूप ईश्वर को प्राप्त करने के अनन्तर संसार-लीला में संलग्न हो सकते हैं। उससे कोई दोष नहीं लगता। लोक-संग्रह के लिए वे नित्य से लीला में उतर आते हैं ॥ ५२ ॥

जो लोग विद्या-रूप माया का आश्रय लेते हैं, उनका इस संसार में पुनरागमन हो सकता है। थोड़ी वासना रहने पर भी पुनर्जन्म होता है। वासना की समाप्ति ही मुक्ति-दायक है ॥ ५३ ॥

विद्यामायाश्रित यथार्थ सिद्धों के मन में मुक्तिलाभ की इच्छा नहीं रहती। परिवार-पोषण की चिन्ता भी नहीं। वे केवल लोककल्याण-साधन के लिए इस संसार में बार-बार आते-जाते रहते हैं ॥ ५४ ॥

जगत् क्षणस्थायी है।

लोग इस संसार में उत्पन्न होते हैं और कुछ समय तक यहाँ रहते भी हैं ; अन्त में मर जाते हैं। अतः जीवन अत्यन्त क्षणस्थायी है ॥ ५५ ॥

द्वित्राण्येवात्र वस्तूनि नश्वराण्यवलोकयन् ।
निश्चिनोति समस्तस्य संसारस्याप्यनित्यताम् ॥ ५६ ॥

पशवस्तरवोऽप्येते सन्त्येवात्राल्पजीविनः ।
तथैव सूर्यचन्द्रादि नामरूपात्मकं जगत् ॥ ५७ ॥

भक्तस्य पच्यमानस्य सिद्धता वाप्यसिद्धता ।
द्वित्रितन्डुलसंसिद्धिपरीक्षान्तेऽवगम्यते ॥ ५८ ॥

जगतोऽनित्यतामेवं ज्ञात्वाऽसत्यत्वमेव च ।
आसक्तिरहितं तत्र मनस्त्यागोन्मुखं भवेत् ॥ ५९ ॥

उदिते तु जगत्त्यागे विश्वकारणमीश्वरम् ।
अलं ज्ञातुमयं जीवो याति सर्वज्ञतां ततः ॥ ६० ॥

विचारशील मनुष्य संसार की कुछ नाशवान वस्तुओं को देखकर ही इसकी अनित्यता के सम्बन्ध में निश्चय कर लेते हैं ॥ ५६ ॥

इस संसार में पशु, वृक्ष आदि सभी जीव अल्पकाल-स्थायी हैं, इसी से अनुमान किया जा सकता है कि सूर्य, चन्द्र आदि नाम-रूपात्मक जगत् भी नाशवान है ॥ ५७ ॥

चूल्हे पर चावल पकाते समय वह सीझा है या नहीं, उसे केवल २।३ चावल दबाकर परीक्षा करने से ही जाना जाता है ॥ ५८ ॥

इसी प्रकार संसार की अनित्यता और असत्यता जानकर मन आसक्ति-रहित और त्यागपरायण हो जाता है ॥ ५९ ॥

जगत् का परित्याग करने की इच्छा जगने पर मनुष्य विश्व के कारण ईश्वर को जान सकता है, फलस्वरूप वह सर्वज्ञ हो सकता है ॥ ६० ॥

ज्ञाने सतीश्वरो दृश्यः सामीप्येन न दूरतः ।
न सोऽस्तीति तु धीर्दूरात् हृदिस्थोऽयं जनार्दनः ॥ ६१ ॥

ज्ञानोन्मादे न कर्तव्यं कदाचित् श्वोऽथ किं भवेत् ।
स एव ज्ञानिनामीशो योगक्षेमभरं वहेत् ॥ ६२ ॥

गुणानां स्वभावः

सत्त्वस्य पालनं कृत्यं रजसः सृष्टिरेव च ।
तमोगुणात्तु संहारो निर्गुणं ब्रह्म केवलम् ॥ ६३ ॥

संसारोऽरण्यतुल्योऽयं यत्र ज्ञानहरा गुणाः ।
विनाशकं तमस्तत्र रजो बध्नाति मानवम् ॥ ६४ ॥

ज्ञानलाभ होने पर ईश्वर अत्यन्त निकट प्रतीत होते हैं, वे दूर नहीं हैं। वे नहीं हैं, ऐसी बुद्धि दूर भाग जाती है, क्योंकि जनार्दन हृदय में निवास करके सबको आकृष्ट करते हैं ॥ ६१ ॥

ज्ञान की उन्माद-अवस्था उत्पन्न होने पर 'कल क्या होगा' ऐसी चिंता कभी मन में नहीं उठती, क्योंकि परमेश्वर ज्ञानियों के योग और क्षेम (आवश्यक वस्तु की प्राप्ति और उसकी रक्षा) के भार का वहन करते हैं ॥ ६२ ॥

गुणत्रय का स्वभाव

सत्त्व, रज और मन ये ३ गुण हैं, इनमें सत्त्वगुण का कार्य पालन है, रजगुण का कार्य सृष्टि और तमोगुण का कार्य संहार है। केवल ब्रह्म ही निर्गुण है ॥ ६३ ॥

यह संसार अरण्य के तुल्य है, जहाँ वे तीन गुण मनुष्य का ज्ञान हर लेते हैं। यहाँ तमोगुण विनाशकारी है और रजोगुण मनुष्य को संसार में आबद्ध कर डालता है ॥ ६४ ॥

सत्त्वं रक्षेदुभाभ्यां नः कामक्रोधौ निहन्ति च।
ब्रह्मज्ञानस्य दाने तु नालं सत्त्वगुणः परम् ॥ ६५ ॥
तत्त्वज्ञानस्य पन्थानं सत्त्वं दर्शयति ध्रुवम्।
तथापि दूरं तिष्ठेत्तत् तत्त्वज्ञानाग्रभूमितः ॥ ६६ ॥
गुणातिक्रमणे नालम् ईशलाभं विना जनः।
मायाराज्ये वसन् जीवो न हरिं द्रष्टुमर्हति ॥ ६७ ॥
ज्ञानी भवेच्छिवांशेन विष्णोरंशेन भक्तिमान्।
सदसद्बोधवानाद्यः प्रेमार्द्रहृदयोऽपरः ॥ ६८ ॥
दृढ़ाभक्तिर्ननाशार्हा वेदान्तस्य विचारतः।
किञ्चिच्चेत्क्षीणतां याति पुनर्बलवती भवेत् ॥ ६९ ॥

रज और तम इन गुणों के क्लेश से सत्त्वगुण हमें बचा लेता है, तथा काम और क्रोध का विनाश करता है, किन्तु सत्त्वगुण भी ब्रह्मज्ञान नहीं दे सकता। ब्रह्मज्ञानलाभ करने के लिए गुणातीत होना आवश्यक है ॥ ६५ ॥

सत्त्वगुण तत्त्वज्ञान का मार्ग अवश्य ही दिखा देता है। तो भी वह सत्त्वगुण अन्तिम सीमा से दूर ही रहता है ॥ ६६ ॥

ईश्वरप्राप्ति न होने से मनुष्य गुणातीत नहीं हो सकता। माया के राज्य में रहकर मनुष्य श्री भगवान को देख नहीं सकता ॥ ६७ ॥

शिवजी के अंश से जन्म होने पर मनुष्य ज्ञानी हो सकता है। विष्णु के अंश से जन्म होने पर मनुष्य भक्तिमान होता है। पहला प्रत्यक्षज्ञान देता है, दूसरा हृदय को प्रेमार्द्र कर देता है ॥ ६८ ॥

वेदांत-विचार के द्वारा यथार्थ भक्त की भक्ति का नाश कभी नहीं हो सकता। यदि वह भक्ति किसी कारण कुछ क्षीण हो भी जाती है तो भी वह फिर बलवती हो जाती है। भक्ति का बीज कभी नष्ट नहीं होता ॥ ६९ ॥

'ज्ञानं' 'ज्ञान' मयं घोषो केवलं निष्प्रयोजनः ।
ईश्वरे त्वचलं प्रेम प्रथमं ज्ञानिलक्षणम् ॥ ७० ॥

शुद्धज्ञानविचारस्य नानुरागं विना फलम् ।
कुण्डलिन्याः समुत्थानं द्वितीयं ज्ञानि लक्षणम् ॥ ७१ ॥

यावत्कुण्डलिनीसुप्ता तावज्ज्ञानमसम्भवम् ।
ग्रन्थपाठो विचारोवा व्यर्थो व्याकुलतां विना ॥ ७२ ॥

मांसासृगस्थिनाडीनां 'संघोऽहं' किं ? विचार्यताम् ।
अहन्तानयति त्वन्तां नाहमस्ति स केवलम् ॥ ७३ ॥

मनःशुद्धिस्वरूपात्र दिव्यदृष्टिरपेक्ष्यते ।
'नारी साक्षाद्भगवती' धीरियं शुद्धिलक्षणम् ॥ ७४ ॥

केवल 'ज्ञान ज्ञान' ऐसा शब्द उच्चारण करने से ही ज्ञानलाभ नहीं होता ईश्वर के प्रति अचल प्रेम ही ज्ञानी का प्रथम लक्षण है ।। ७० ।।

ईश्वर के प्रति अनुराग के बिना केवल ज्ञानविचार से कुछ भी लाभ नहीं होता । कुण्डलिनी शक्ति का जागरण ज्ञानी का द्वितीय लक्षण है ॥ ७१ ॥

जब तक कुंडलिनी निद्रित रहती है, तब तक ज्ञान होना संभव नहीं है । जब तक हृदय में ईश्वर लाभ के लि, व्याकुलता नहीं आती, तब तक केवल ग्रन्थ-पाठ या सूखा विचार निरर्थक है ।। ७२ ।।

क्या मैं खून, मांस, हड्डी, नाड़ी का समूह मात्र हूँ ? इस बात का बिचार करते रहो—'अहं' क्या है—उसे खोजते रहने पर ईश्वर भाव आ जाता है । यथार्थ में मैं नहीं हूँ, केवल वे ही हैं ।। ७३ ।।

ऐसे क्षेत्र में मन की शुद्धि प्राप्त करने के लिए दिव्य दृष्टि आवश्यक है । नारी साक्षात् भगवती हैं, ऐसी बुद्धि चित्त शुद्धि का लक्षण है ॥ ७४ ॥

'अहं' ममेत्थमज्ञानं ज्ञानमात्माखिलं किल ।
उपाधिरहितोऽसित्वं नास्थिमज्जादिसंहतिः ।। ७५ ।।

हेमेदं रजतं त्वेतद् इत्यज्ञानस्य लक्षणम् ।
विपरीतं भवेज्ज्ञानं सुवर्णमाखिलं तथा ।। ७६ ।।

ईशज्ञाने विचारान्तस्तदानन्दोऽस्ति केवलम् ।
क्रन्दनाद्विरमन्तीह स्तनपाने यथार्भकाः ।। ७७ ।।

सक्रदनं व्याकुलत्वं सवैराग्या विवेकिता ।
सर्वत्यागरतथा यान्ति साक्षात्कारस्य हेतुताम् ।। ७८ ।।

दीपालोकेन सदृशं संसारि-ज्ञानमल्पशः ।
त्यागिनोऽर्कप्रभातुल्यमन्तर्बहिरवस्थितम् ।। ७९ ।।

मैं, मेरा—ऐसे विचार को अज्ञान कहते हैं। सभी संसार ही आत्मस्वरूप है, ऐसे विचार का नाम ज्ञान है। तुम अज्ञान-रूप उपाधि से रहित हो, अस्थि-मज्जा आदि का समूह भी नहीं हो ।। ७५ ।।

यह सोना है, यह चाँदी है, ऐसा विचार अज्ञान का लक्षण है, इससे विपरीत सभी संसार ही सुवर्णमय अर्थात् ब्रह्ममय है, ऐसे विचार को ज्ञान कहते हैं ।। ७६ ।।

ईश्वर का ज्ञान प्राप्त होने पर विचार समाप्त हो जाता है, उस समय केवल आनंद ही रहता है जैसे छोटा बच्चा माता का स्तन-पान करने से रोना बन्द करता है ।। ७७ ।।

ईश्वर का साक्षात्कार प्राप्त करने के लिए व्याकुलता के साथ रोना, वैराग्य के साथ विवेक तथा सर्वस्व त्याग आवश्यक है ।। ७८ ।।

विषयी मनुष्य का ज्ञान दीपक के प्रकाश की तरह अल्प है, किंतु त्यागियों का ज्ञान सूर्य-प्रकाश की तरह भीतर-बाहर सर्वत्र विराजमान है ।। ७९ ।।

मायामेघावृते जीवे ज्ञानसूर्यप्रभाकुतः ।
आवृतावपनीतायां नश्येद्ध्वान्तं क्षणादिव ॥ ८० ॥

"न बद्धो नित्यमुक्तोऽहं सन्तानोऽह परात्मनः ।
राजाधिराजपुत्रोऽहं" जितस्वान्तो विभावय ॥ ८१ ॥

विचारेणैव बोद्धव्यं सदीशोऽन्यदसत्तथा ।
असत्सेवावशाद्देहसुख मान-धनं न सः ॥ ८२ ॥

देहबुद्धिर्न नश्येत यावद्विषयवासना ।
देहात्मभेदसंवित्तु विलासेच्छा निवर्तने ॥ ८३ ॥

कुतौ ज्ञानविचारान्ते ममाहमिति भावना ?
अह महानपक्वत्वं दासोऽहं पक्वतात्मनः ॥ ८४ ॥

साधारण मनुष्य मायारूप मेघ से आवृत रहता है, इस कारण वहाँ ज्ञानसूर्य का प्रकाश कैसे होगा ? आवरण के हट जाने से क्षणभर में अज्ञानान्धकार नष्ट हो जाता है ॥ ८० ॥

तुम अपने अंतःकरण के ऊपर विजय-लाभ करके ऐसी चिंता करो कि— 'मैं बद्ध नहीं हूँ, नित्य-मुक्त हूँ, मैं राज राजेश्वर परमात्मा का पुत्र हूँ' ॥८१॥

विचार करके जानना चाहिए कि ईश्वर ही एकमात्र सत्य हैं, उनसे भिन्न सभी असत् हैं । विषयासक्ति से देह सुख, मान और धन मिलते हैं, किन्तु उससे ईश्वर-लाभ नहीं होता ॥ ८२ ॥

जितने दिनों तक विषय-वासना रहती है, उतने दिनों तक देह-बुद्धि नष्ट नहीं होती । देह और आत्मा को भिन्न समझने के लिए भोग-विलास की इच्छा छोड़नी होगी ॥ ८३ ॥

ज्ञान विचार के अनन्तर में, मेरा ऐसी चिंता कैसे रहेगी ? मैं महान हूँ, यह बात अपक्वता का लक्षण है और मैं भगवान का दास हूँ, ऐसा विचार ही पक्वता का चिह्न है ॥ ८४ ॥

वयं पुत्तलिकाः सर्वे सूत्रधारः स्वयं प्रभुः।
अग्निनैव क्रियापाके कर्ताकारयितेश्वरः॥ ८५॥

तमोगुणाज्ञानवशा–'दहं कृती' रुणद्धिनोदर्शनतः परात्मनः।
शरीरमर्थाः सकलं दिनद्वयं किमर्थमेषोऽहमिमं परित्यजेः॥८६॥

स्थूलादिदेहाः

स्थूलेऽन्नकोशेऽस्ति बहिर्मुखोऽयं सूक्ष्मे तु विज्ञानमनोमयत्वम्।
यत्कारणाख्यं सुखमर्धबाह्यं जीवो महाकारणगश्चिदात्मा॥८७॥

हम सब पुतले के समान हैं, स्वयं प्रभु हमें नचानेवाले सूत्रधार हैं। जब तक अग्नि रहती है, तब तक रसोई की जा सकती है। यथार्थ में कर्त्ता और कारयिता दोनों ही ईश्वर हैं॥ ८५॥

तमोगुण-रूप अज्ञान से ही मैं बड़ा हूँ, मैं माननीय हूँ—ऐसा मनोभाव उत्पन्न होता है, जो परमात्मा के दर्शन में बाधा-स्वरूप है। शरीर, धन, सम्पत्ति सभी दो दिनों के लिए हैं। अतः 'मैं-मैं' कहने से क्या लाभ ? ऐसी अहं-भावना का परित्याग करो॥ ८६॥

स्थूल, सूक्ष्म, कारण शरीरों का वर्णन

जितने दिनों तक जीवात्मा स्थूल अन्नमय कोश में रहता है, उतने दिनों तक वह बहिर्मुख है। सूक्ष्म शरीर में वही आत्मा विज्ञानमय और मनोमय कोषों में रहता है। सुषुप्ति के समय वह कारण-शरीर-रूप आनंद-मय कोष में अर्धबाह्यदशा में रहता है किंतु जब जीवात्मा महान् कारण में प्रविष्ट होता है, तब वह ब्रह्ममय हो जाता है॥ ८७॥

१—अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय जीवात्मा के ये पाँच कोश हैं। २—जीवात्मा जब अन्नमय कोश में रहता है तब सांसारिक सारे विषयों तथा सुख-दुःखादि की अनुभूति होती है। ३—स्वप्नावस्था में जीवात्मा लिंग-शरीर अर्थात् प्राणमय, मनोमय और

स्थूलोदेहो पञ्चभूतात्मको यो लिंगं चेतो बुद्ध्यहन्ताङ्कितं स्यात् ।
ईशानन्दं कारणे याति जीवो नित्यं गम्यं नास्तिवाचां तुरीयम् ॥८८॥
धर्मज्ञानाद्बुध्यतेऽधर्मकार्यं पुण्यात्पापं ज्ञानतोऽज्ञानबोधः ।
एकस्माच्चानेकता नेतिबुद्धिः भद्रादास्तेधीस्तथाभद्रतायाः ॥८९॥

विज्ञानमय कोशों में रहता है। उस अवस्था में सांसारिक विषयों की स्थूल अनुभूति नहीं होती। ४—सुषुप्ति अवस्था में जीवात्मा की केवल सूक्ष्म अनुभूति होती है। इस अवस्था में ब्रह्मानन्द की जो अनुभूति होती है उस विषय में वह पूर्ण तथा सचेत नहीं होता। ५—जीवात्मा महाकारण में परमात्मा के साथ एक होकर आनन्दस्वरूपता प्राप्त होता है तथा अपरोक्षानुभूति के फलस्वरूप जन्म-मृत्यु-प्रवाह से मुक्त होकर ब्रह्मलीन हो जाता है।

(क) स्थूल पांचभौतिक देह को अन्नमय कोश कहते हैं (यह जाग्रत अवस्था है)। (ख) सूक्ष्म शरीर या लिंग शरीर मन, बुद्धि, अहंकार अर्थात् मनोमय, विज्ञानमय और प्राणमय कोश (यह स्वप्नावस्था है)। (ग) कारण शरीर को आनन्दमय कोष कहते हैं। सुषुप्ति अवस्था में जीवात्मा परमात्मा के साथ इस आनन्दमय कोश में अभिन्न भाव से रहता है, परन्तु वह अनुभूत नहीं होता। (घ) चतुर्थ अवस्था में महाकारण शरीर में जीवात्मा परमात्मा के साथ एक हो जाता है।

स्थूल देह पंचभूतात्मक है। लिंग या सूक्ष्म शरीर मन, बुद्धि, अहंकार तथा इद्रियों की समष्टि है। जीव कारण शरीर में ईश्वर का आनंद प्राप्त करता है। तुरीय या चतुर्थ अवस्था में जो नित्य आनन्द मिलता है उसका वर्णन वाक्य नहीं कर सकता ॥ ८८ ॥

धर्म का ज्ञान होने पर अधर्म कार्य क्या है, वह जाना जा सकता है। पुण्य का ज्ञान होने पर पाप का और ज्ञान होने पर अज्ञान का बोध होता है। एक का ज्ञान होने पर अनेकता नहीं है ऐसा ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। इसी प्रकार कल्याण के ज्ञान से अकल्याण का ज्ञान होता है ॥ ८९ ॥

ब्रह्मज्ञानानन्तरं त्वीश्वरस्य लीलास्वादः सम्भवेद्दोषशून्यः।
ज्ञानं सिद्ध्येद् दुष्कर सप्रयत्नैर्यस्मिन् कालेऽज्ञानमन्तं प्रयाति ॥९०॥

इति श्रीरामकृष्णोपदेशसाहस्र्यां ज्ञानावस्थानाम
अष्टमोऽध्यायः ॥ १० ॥

ब्रह्मज्ञान का लाभ होने पर भगवान की निर्दोष लीला का स्वाद-ग्रहण करना सम्भव होता है। अत्यंत प्रयत्न करने पर भी ज्ञान-लाभ करना सहज नहीं है। किन्तु ज्ञानलाभ होने पर अज्ञान का पूर्णतया नाश हो जाता है ॥ ९० ॥

ज्ञानावस्था नामक अष्टम अध्याय समाप्त हुआ।



ज्ञानयोगोनाम नवमोऽध्यायः

ईशः कर्ता, वयमपि करे तस्य यन्त्राणि सर्वे,
कर्तृत्वं नः कथमिह वयं केऽपि न ज्ञानमेतत्।
"मातर्यन्ता त्वमसि गृहिणी, चास्मि गन्त्री गृहं ते",
ब्रूयां "कुर्यां यदभिलषसि, त्वन्नियुक्तश्चरेयम्" ॥ १ ॥

कर्ता कारयितापीशः सन्, ततोऽन्यत्तु नैव सत्।
तस्यै वेदमिदं ज्ञानं, तथाऽज्ञान'महं' 'मम' ॥ २ ॥

एक ब्रह्मेति तन्नाम, कालेतीत्यपरं स्मृतम्।
विस्तारकारकं ब्रह्म, कालः संहारकारकः ॥ ३ ॥

"केवल ईश्वर ही एकमात्र कर्त्ता हैं। हम उनके हाथ के यन्त्रस्वरूप हैं। हममें किसी प्रकार का कर्तृत्व नहीं रह सकता। यथार्थ में—'हम' कुछ भी नहीं है।"–इसी प्रकार के विचार का नाम ही ज्ञान है। ईश्वर की शक्ति-रूप जगजननी से मैं प्रार्थना करता हूँ—"हे माता! तुम सारथि हो और मैं रथ हूँ। इसी प्रकार तुम गृहिणी हो और मैं गृह हूँ। तुम जो चाहती हो, मैं उसी को करूँगा। तुम्हारे द्वारा नियुक्त होकर मैं संसार में विचरण करता हूँ ॥ १ ॥

ईश्वर ही कर्त्ता और करानेवाले हैं। उनसे भिन्न कुछ भी सत् नहीं है। यह सारा ब्रह्माण्ड उन्हीं का है। ऐसा विचार ही ज्ञान है। 'मैं' 'मेरा' आदि कहना अज्ञान है ॥ २ ॥

उन ईश्वर का एक नाम ब्रह्म और दूसरा नाम काल है। ईश्वर का कार्य है सृष्टि का विस्तार और महाकाल का कार्य है संहार ॥ ३ ॥

परात्मनो वाचकं 'तत्', 'त्वं' तु जीवात्मवाचकम् ।
उभयोरेकताज्ञानं, तत्त्वज्ञानं प्रकीर्तितम् ॥ ४ ॥

बहुत्वज्ञानमज्ञानम् एकत्वं ज्ञानमुच्यते ।
बहुत्वं तत्परित्यज्य ब्रह्मैकत्वं समाश्रयेः ॥ ५ ॥

कश्चित्पुत्रस्य लाभार्थं ज्ञानार्थं क्रन्दने परः ।
प्राप्तये परमीशस्य न कोऽपि क्रन्दते जनः ॥ ६ ॥

अंशतोऽपि स्थिते कामे तत्त्वज्ञान न सम्भवि ।
'तत्रु सिद्धयति सत्सङ्गात्' गिरिजा गिरिमब्रवीत् ॥ ७ ॥

तत्, त्वम् असि (वह ब्रह्म ही तुम हो) इस महावाक्य के तत् शब्द ब्रह्म का ज्ञापक है और त्वम् शब्द जीवात्मा का वाचक है । ब्रह्म और जीव दोनों का एकत्वज्ञान ही यथार्थ तत्त्वज्ञान है ॥ ४ ॥

बहुत्व का ज्ञान अज्ञान है और एकत्व का ज्ञान ही यथार्थ ज्ञान है। अतः उस बहुत्व का परित्याग करके ब्रह्म के एकत्व को अपनाओ ॥ ५ ॥

कोई पुत्र के लिए प्रार्थना करता है, फिर कोई धनलाभ के लिए व्याकुल होता है। किन्तु कोई भी मनुष्य परमेश्वर की प्राप्ति के लिए नहीं रोता ॥ ६ ॥

अल्पमात्र भी कामना-वासना के रहते तत्त्वज्ञान लाभ सम्भव नहीं। सत्संग का लाभ होने पर तत्त्वज्ञान उत्पन्न हो सकता है। यह बात पार्वती ने अपने पिता गिरिराज से कही थी ॥ ७ ॥

आत्मदृष्टि रसत्त्यागः, कोविदैर्ज्ञानमुच्यते ।
नेति नेति विचारेण समाधावात्मदर्शनम् ॥ ८ ॥

न जीवो न जगद्ब्रह्म, न तन्नेद विचारतः ।
लये शान्तस्य मनसः समाधौ ज्ञानसम्भवः ॥ ९ ॥

ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या, स्वाप्नवद्रूपनामनी ।
न वर्ण्यं वचसा ब्रह्म, वक्तुं ब्रह्माप्यल न यत् ॥ १० ॥

साधकः सन्त्यजेत्सर्वं नेति नेतीति चिन्तयन् ।
तल्लाभात्परतो ज्ञानं 'स एवास्तीति सम्भवेत् ॥ ११ ॥

आत्मस्वरूप के प्रति दृष्टि और असत् वस्तुओं के परित्याग को पण्डित लोग विवेक-ज्ञान कहते हैं। नेति नेति अर्थात् यह ब्रह्म नहीं है, वह ब्रह्म नहीं है—इस प्रकार विचार के द्वारा सभी असत् वस्तुओं का परित्याग होने पर (शुद्ध) मन समाधि-योग से आत्मदर्शन कर सकता है वह आत्माकार हो सकता है ॥ ८ ॥

ब्रह्म जीव नहीं है, जगत भी नहीं है। दूर की वह वस्तु और निकट की यह वस्तु भी नहीं है। नाम भी नहीं है और रूप भी नहीं है, इस प्रकार विचार के द्वारा समाधि में मन के लयप्राप्त होने पर ज्ञान-स्वरूपता मिलना सम्भव है ॥ ९ ॥

केवल ब्रह्म ही सत्य वस्तु है और दृश्यमान जगत् एकदम मिथ्या है। नामरूपात्मक जो जीव और जगत् दिखाई पड़ते हैं स्वप्न के समान उनका कुछ भी यथार्थ अस्तित्व नहीं है। वाक्य से ब्रह्म को व्यक्त नहीं किया जा सकता। सृष्टिकर्त्ता ब्रह्मा भी ब्रह्म का स्वरूप बता नहीं सकते ॥ १० ॥

ब्रह्म यह नहीं है, वह नहीं है, ऐसा विचार करके साधक सभी सांसारिक पदार्थों में ममत्व और सत्यत्व बुद्धि छोड़ दे। ईश्वर-लाभ होने पर 'सभी वे हैं', ऐसी अनुभूति होना सम्भव है ॥ ११ ॥

संसारे न दोषः

तीव्रवैराग्यसम्पन्नं संसारं त्यक्तुमुद्यतम् ।
रामं दाशरथिं रोद्धुं वसिष्ठो वाक्यमब्रवीत् ॥ १२ ॥

संसारस्य परित्यागाल्लाभः कस्तव राघव ।
ईश्वरो नास्ति संसारे चेत्वमेतं परित्यजेः ॥ १३ ॥

अन्योऽन्यं ब्रह्मजगतोः स्थित्या मूकोऽजनि प्रभुः ।
गोरसे नवनीतं हि, नवनीते च गोरसः ॥ १४ ॥

नवनीतं साररूपं, प्राप्यते सृष्टिगोरसात् ।
नवनीतं गोरसस्य केवलं रूपमन्यतः ॥ १५ ॥

संसार में दोष नहीं है

जब राजा दशरथ के पुत्र तीव्र वैराग्यवान होकर गृहस्थी का त्याग करने के लिये उद्यत हुए, तब वसिष्ठ मुनि ने दाशरथी राम को रोकने के लिए कहा— ॥ १२ ॥

"हे रामचन्द्र ! गृहस्थी का परित्याग करने से तुम्हें क्या लाभ होगा ? यदि यह संसार ईश्वर-रहित हों तो तुम इसे छोड़ सकते हो ॥ १३ ॥

ब्रह्म और जगत् की परस्पर स्थिति के विषय में विचार करके रामचन्द्र मौन हो गये । जैसे दूध के भीतर मक्खन और मक्खन के भीतर दूध ओतप्रोत रहता है ठीक उसी प्रकार ब्रह्म और जगत् की स्थिति अभिन्न है ॥ १४ ॥

संसार रूप दूध (दही) से ज्ञानरूप सार मक्खन मिल जाता है, मक्खन दूध का ही रूपान्तर मात्र है अर्थात् दूध से ही मक्खन मिलता है ॥ १५ ॥

सर्वव्यापि स्वप्रकाशं ज्ञातं ब्रह्म परं यदि।
चतुर्विंशतितत्त्वाङ्कं, तत्र जीवजगन्न किम् ? ॥ १६ ॥

समाधावपरोक्षत्वं ब्रह्मणो वृत्तिशून्यता।
मूकीभूय पुमांस्तिष्ठेद्ब्रह्म वाचामगोचरम् ॥ १७ ॥

आपत्स्वप्यापतन्तीषु निर्विकारत्वमात्मनः।
कामक्रोधजयोल्लासि पौरुषं ज्ञानिलक्षणम् ॥ १८ ॥

निर्विकारमयोभूयो मुद्गरेण विताड़ितम्।
छिन्नोऽप्यन्तर्गताङ्गः सन् विकृतिं नैति कच्छपः ॥ १९ ॥

ब्रह्म सर्वव्यापी और स्वयंप्रकाश हैं—यदि ऐसा ज्ञान हो जाय, तो प्रकृति, महत्तत्त्व, अहंकार, पञ्चतन्मात्र (शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध), एकादश इन्द्रियाँ (पञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ, पञ्च कर्मेन्द्रियाँ और अन्तरिन्द्रिय मन तथा पञ्चभूत—ये २४ तत्त्व-युक्त जीवजगत उस ब्रह्म के भीतर नहीं है क्या ? ॥ १६ ॥

समाधि की अवस्था में ब्रह्म की अपरोक्ष अनुभूति होती है। उस अवस्था में मैं ब्रह्म हूँ ऐसी मनोवृत्ति लुप्त हो जाती है और समाधियुक्त व्यक्ति मौन होकर अवस्थित रहते हैं, क्योंकि ब्रह्म वाक्य के अगोचर हैं ॥ १७ ॥

अपने ऊपर विपत्ति आने पर भी मन को निर्विकार रखना तथा काम, क्रोध आदि भीतरी शत्रुओं पर विजय प्राप्त करना पुरुषकार ज्ञानी का लक्षण है ॥ १८ ॥

हथौड़ी के आघात से लोहे की निहाई निर्विकार रहती है, कछुआ अपने अंगों को खोली के भीतर समेट रखने पर उस पर तलवार का प्रहार करने पर भी वह अविकृत रहता है ॥ १९ ॥

बालवज्जडवच्चैवोन्मादिवच्च पिशाचवत् ।
आचरन्तश्चरन्तीहाऽसक्ता ब्रह्मविदो जनाः ॥ २० ॥

मुक्तात्मानो लेपशून्याः प्रकृतेः पारगामिनः ।
अस्पृष्टाः क्षुत्पिपासाभ्यां मेरुवच्चाजरामराः ॥ २१ ॥

आत्मा देहाद्भिन्नः

जीवन्मुक्ता विजानन्ति, 'देही देहात्पृथक्स्थितिः' ।
दृष्टेश्वराणामेतेषां कुतो देहात्मभावना ? ॥ २२ ॥
आत्माऽज्ञानवशान्नूनं देहेनैकत्वमातः ।
अपक्वपूगबातामफलं नावस्णात्पृथक् ॥ २३ ॥

अनासक्त ब्रह्मज्ञानी संसार में निर्विकार बालक की तरह, निर्जीव वस्तु के समान या पागल की तरह विचरण करते हैं ॥ २० ॥

मुक्त पुरुष संसार में निर्लिप्त अवस्था में विराजमान रहते हैं । वे प्रकृति से परे पहुँच जाते हैं । वह भूख, प्यास आदि शारीरिक धर्मों से पृथक् आत्म-स्वरूप में (मेरुपर्वत के समान) अजर और अमर होकर विराजमान रहते हैं ॥ २१ ॥

आत्मा देह से भिन्न है

जीवन्मुक्त पुरुष सदा जानते हैं कि आत्मा शरीर से भिन्न है । जो लोग ईश्वर का साक्षात् दर्शन कर सके हैं, उनमें शरीर में आत्मबुद्धि कैसे रह सकती है ? ॥ २२ ॥

यथार्थ आत्मा का ज्ञान न रहने के कारण मनुष्य शरीर को ही आत्मा समझता है । जैसे अपक्व सुपारी या बादाम आवरण से पृथक नहीं है उसी प्रकार अज्ञानी शरीर और आत्मा को एक समझता है ॥ २३ ॥

नारिकेलजलं शुष्कं घनं कोशात्पृथक् यथा ।
विषयस्य रसे शुष्के, देही देहात्पृथक् तथा ॥ २४ ॥
तन्मयाभ्यन्तरं सर्वे स्थापितास्मो निरन्तरम् ।
तद्दर्शनं, हृतायान्तु स्यात्तस्य कृपयावृतौ ॥ २५ ॥
जलपर्णी सरःपृष्ठे जलमावृत्य तिष्ठति ।
सरितायां जलं तस्याम् मायाभावे तथा प्रभुः ॥ २६ ॥
देहबुद्धिर्यावदास्ते, सुखदुःखे भवाभवौ ।
रोगशोकौ तावदेवं, सर्व देहस्य, नात्मनः ॥ २७ ॥
ज्ञानी भवतु सन्न्यासी, गृहस्थो वा न भिन्नता ।
ज्ञानिनो ज्ञानमेवैकं, परमज्ञानिनो भयम् ॥ २८ ॥

नारियल का जल सूख जाने पर जिस प्रकार गरी खोली से अलग हो जाती है, उसी प्रकार विषयासक्ति रूप रस सूख जाने पर आत्मा देह से पृथक हो जाता है ॥ २४ ॥

हम सदा ईश्वरीय माया के भीतर रहते हैं । ईश्वर की कृपा से उनकी माया हट जाय तो उनका दर्शन सम्भव होगा ॥ २५ ॥

तालाब के ऊपर सिवार जल को आवृत रखता है । हाथ से उन्हें हटाने पर जल दिखाई पड़ता है । उसी प्रकार मायारूप अज्ञान को हटा देने पर ईश्वर का दर्शन मिलता है ॥ २६ ।

जब तक शरीर में आत्मबुद्धि रहती है, तब तक सुख-दुःख, जन्म-मृत्यु, रोग-शोक आदि देह-धर्म विद्यमान रहते हैं । किन्तु ये शरीर के ही धर्म हैं, आत्मा के नहीं ॥ २७ ॥

ज्ञानी चाहे संन्यासी हों या घर में रहें, उनकी अवस्था एक ही तरह है । ज्ञानी में ज्ञान समान भाव से ही विद्यमान रहता है, किन्तु विषयकार्य में व्याप्त रहने के कारण अज्ञानी में विषयासक्ति का भय रहता है । अतः ज्ञान प्राप्त कर गृहस्थी में रहने से हानि नहीं है ॥ २८ ॥

कामकाञ्चनयोर्मध्ये स्थित्वानासक्तिता कुतः ?
कज्जलागारसंस्थस्य विदुषोऽप्यास्ति लांछनम् ।। २९ ।।

शुद्धभाजनसंस्थं यत् गोरस स्यात् सुरक्षितम् ।
परं समलपात्रस्थं न तथा निर्मलं भवेत् ।। ३० ।।

भ्राष्ट्रभर्जितलाजासु याः काश्चन बहिर्गताः ।
तिष्ठन्ति निष्कलङ्कास्ता मल्लिकाकुसुमैः समाः ।। ३१ ।।

परं भ्राष्ट्रस्थिता लाजा न तथा भान्ति निर्मलाः ।
तासां कुत्रापि गात्रेषु किञ्चिल्लक्ष्म विलोक्यते ।। ३२ ।।

सन्न्यासिज्ञानिनो गात्रं मल्लिकासुमनःसमम् ।
निर्मलं, सकलङ्का तु गृहस्थज्ञानिनस्तनुः ।। ३३ ।।

काम और कांचन के भोगविलास के भीतर रहने पर अनासक्त कैसे रहा जा सकता है ? काजल के घर में रहने से बहुत सावधान व्यक्ति के शरीर में भी कुछ स्याही लग ही जाती है ।। २९ ।।

विशुद्ध पात्र में रखा रहने से दूध विकृत नहीं होता, किन्तु मैले पात्र में रखने से वह उस प्रकार निर्मल नहीं रह सकता अर्थात् वह नष्ट हो जाता है ।। ३० ।।

चूल्हे के ऊपर लावा भूनते समय कुछ लावे कड़ाही से छिटक कर बाहर आ गिरते हैं । वे मालती फूल की तरह निर्मल रहते हैं ।। ३१ ।।

किन्तु जो लावे कड़ाही में ही रह जाते हैं, वे वैसे निर्मल नहीं रहते । उन पर कुछ न कुछ काले दाग रह जाते हैं ।। ३२ ।।

ज्ञानी संन्यासी का शरीर मालती फूल की तरह निर्मल है, किन्तु जो ज्ञानी व्यक्ति गृहस्थाश्रम में रहते हैं, उनके शरीर में कुछ न कुछ कलंक लग ही जाता है ।। ३३ ।।

तथापि तच्छरीरस्थो नाङ्को दोषाय कल्पते।
अलं प्रकाशदानाय सकलङ्कोऽपि चन्द्रमाः ॥ ३४ ॥

ज्ञानात् शान्तिः

आसमाधि 'जगज्जीव'-'त्वमहं वृत्तयः स्थिताः।
समाधौ तु पुनर्ज्ञान-विचारोऽपि समाप्यते ॥ ३५ ॥

भोजनादौ महाञ्छब्दो दीयतां गृह्यतामिति ।
भोजनान्ते परं शान्तिर्निद्रा वाचां विमीलनम् ॥ ३६ ॥

सम्यग्ज्ञानामृतास्वादे जगत्कोलाहलः कुतः ?
समाधेरसमानन्दः त्रैलङ्गस्वामिनो यथा ॥ ३७ ॥

तथापि गृहस्थ ज्ञानी के शरीर में वह कलंक हानिकारक नहीं है, जैसे चन्द्र कलंकयुक्त रहने पर भी उज्ज्वल प्रकाश देता है ॥ ३४ ॥

ज्ञान से ही शांति

समाधि अवस्था प्राप्त होने के पूर्व तक जगत्, जीव, तुम, मैं आदि मनोवृत्तियाँ विद्यमान रहती हैं। किन्तु समाधि अवस्था में अद्वैत की अपरोक्ष अनुभूति होने पर ज्ञानविचार भी समाप्त हो जाता है ॥ ३५ ॥

पङ्गत में भोजन करना आरम्भ करते समय 'लीजिए', 'दीजिए, ऐसे शब्द सुनाई पड़ते हैं, किन्तु भोजन समाप्त होने पर परम शान्ति हो जाती है, मुख में शब्द नहीं रहते, बल्कि निद्रा आ जाती है ॥ ३६ ॥

यथार्थ ज्ञानामृत का स्वाद मिलने पर सांसारिक कोलाहल कैसे रह सकता है ? जैसे काशी के त्रैलंग-स्वामी उसी प्रकार के समाधि-रस का स्वाद पा गये थे ॥ ३७ ॥

विकाररहिता-जीवन्मुक्तस्यास्तेऽनिशं तनुः ।
ज्ञानाग्निर्भस्मसात्कुर्यात् कामक्रोधादिकान् रिपून् ॥ ३८ ॥
अर्थकामार्थमुत्साहः संसारासक्तिरेव च ।
ज्ञानलाभे लयं यातः सर्वं शान्तिमयं जगत् ॥ ३९ ॥
आर्द्रकाष्ठे दह्यमाने भूयात्पटपटाध्वनिः ।
इन्धने भस्मशेषे तु न शब्दः श्रूयते क्वचित् ॥ ४० ॥
यथा-यथेशलाभः स्यात् समासक्तिलयः पुनः ।
तथा तथाधिका शान्तिः शान्तेः शान्तिर्निरन्तरा ॥ ४१ ॥
गङ्गायास्तीरमासाद्य शरीरं शीतलं भवेत् ।
तज्जले स्नानतः स्वान्तेऽधिका शान्तिः प्रजायते ॥ ४२ ॥

जीवन्मुक्त का शरीर सदा विकाररहित रहता है। ज्ञानरूप अग्नि काम, क्रोध आदि शरीरस्थ शत्रुओं को भस्मीभूत कर डालती है ॥ ३८ ॥

ज्ञानलाभ होने पर धन और भोगविलास का उत्साह तथा गृहस्थी में आसक्ति आदि लय-प्राप्त हो जाते हैं। फलस्वरूप सभी संसार शान्तिमय रूप में प्रतीयमान होता है ॥ ३९ ॥

जब लकड़ियाँ आग में जलती रहती हैं तब उनसे पट-पट शब्द निकलते हैं, किन्तु उन लकड़ियों के भस्म होने से कहीं कुछ शब्द नहीं सुनाई पड़ता ॥ ४० ॥

भक्त जैसे-जैसे भगवान के निकट पहुँचते हैं वैसे ही उनकी विषयासक्ति का विलय हो जाता है। उसके बाद उन्हें अधिक से अधिक शान्ति प्राप्त होती है। तब उनके मन में शांति ही विराजमान रहती है ॥ ४१ ॥

गंगा के तट पर आते ही शरीर ठंडा हो जाता है। उसके जल में स्नान करने से और भी अधिक शान्ति मिलती है ॥ ४२ ॥

ब्रह्मैव वस्त्ववस्त्वन्यत् सृष्टिस्थितिलया, जगत्
माया, स्वप्न-समाशक्तिरिति वेदान्तिनां वचः ॥ ४३ ॥
आसमाधि परं शक्तेः साम्राज्यं विद्यते ध्रुवम् ।
'अहं ध्याता' 'चिन्तकोऽहं' शक्तिराज्यस्थितिं वदेत् ॥ ४४ ॥
ब्रह्मशक्त्योरभेदः स्याद् एकं नास्त्यपरं विना ।
अग्निना न विना दाहो विना दाहेन नानलः ॥ ४५ ॥

ब्रह्म तथा शक्तिः

विनांशुभिर्भवेन्नार्को, विनार्केण न चांशवः ।
दुग्धं विना न धावल्यं, न धावल्यं विना पयः ॥ ४६ ॥

केवल ब्रह्म ही एकमात्र सत्य वस्तु है, अन्य सभी असत् हैं । सृष्टि, स्थिति, लय तथा जगत् मायामय हैं, शक्ति भी स्वप्न के समान है, यह वेदान्तवादियों का वाक्य है ॥ ४३ ॥

किन्तु समाधि अवस्था प्राप्त होने के पहले एक स्वप्नतुल्य शक्ति का साम्राज्य अवश्य ही रहता है । 'मैं ध्यान करने वाला हूँ' 'मैं चिन्ता करता हूँ'—ऐसा विचार शक्तिराज्य में अवस्थिति की बात प्रगट करता है ॥ ४४ ॥

ब्रह्म और शक्ति अभिन्न हैं, एक दूसरे को छोड़कर रह नहीं सकता । जिस प्रकार अग्नि को छोड़कर दाहिका शक्ति रह नहीं सकती और दाहिका शक्ति के बिना भी अग्नि का अस्तित्व नहीं दिखाई पड़ता ॥ ४५ ॥

ब्रह्म और शक्ति

जैसे सूर्य किरणों के बिना नहीं रह सकता और उसकी किरणें भी सूर्य को छोड़कर नहीं रह सकतीं । शुक्ल वर्ण दूध के बिना नहीं रह सकता और दूध भी शुक्ल वर्ण को छोड़कर नहीं रह सकता ॥ ४६ ॥

न नित्येन विना लीला, नित्यं वा लीलया विना ।
शक्ति विना कुतो ब्रह्म, शक्तिर्वा ब्रह्मणा विना ॥ ४७ ॥

वेदोक्तं सच्चिदानन्दं, नाद्वैतं द्वैतमेव वा ।
अस्ति वा नास्ति वा नैतत् तयोरन्तर्गतं हि तत् ॥ ४८ ॥

नाहं देहमनस्तत्त्वान्यतीतोऽहं सुखादितः ।
रोगशोकजरामृत्यु-धर्मा देहस्य नात्मनः ॥ ४९ ॥

ब्रह्मैव सत्ततो नान्यदित्थं भाने मनोलयः ।
कलावन्नगताः प्राणाः कथं बोधो भविष्यति ॥ ५० ॥

नित्य और लीला अभिन्न है । जहाँ नित्य वहीं लीला है, जहाँ लीला वहीं नित्य है । इसी प्रकार शक्ति के विना ब्रह्म का अस्तित्व कहाँ है और ब्रह्म के सिवाय शक्ति भी कहाँ है ? ॥ ४७ ॥

वेद में कथित सच्चिदानन्द में अद्वैत नहीं है और द्वैत भी नहीं । उसे अस्ति या नास्ति कुछ भी कहा नहीं जा सकता । वह अद्वैत, द्वैत या अस्ति, नास्ति उभयात्मक है ॥ ४८ ॥

ज्ञानी समझते हैं— मैं देह, मन, बुद्धि, अहंकार आदि नहीं हूँ । मैं सुख, दुःख आदि विरुद्ध भावों से परे हूँ । रोग, शोक, जरा, मृत्यु आदि देह के ही धर्म हैं, आत्मा के नहीं ॥ ४९ ॥

ब्रह्म ही सत्य वस्तु है, उनसे भिन्न अन्य सभी असत् हैं । ऐसा ज्ञान होने पर मन का लय हो जाता है । किन्तु इस कलियुग में मनुष्य के प्राण अन्नगत हैं, अतः ऐसा ज्ञान कैसे होगा ? ॥ ५० ॥

देहात्मभावना यावत् तावद्बोधो न सम्भवः ।
भावनेयं विचारेऽपि बलात्कर्षति मानसम् ॥ ५१ ॥
'छिन्नोऽश्वत्थः समूलोऽपि, नष्टो' मन्यामहे वयम् ।
परं परदिने तत्रैवाङ्कुरोद्भेदसम्भवः ॥ ५२ ॥
जगन्मिथ्येत्युच्यमाने मिथ्यात्वं, यो ब्रवीति च ।
सोऽपि मिथ्या स्वप्नतुल्यं, तद्वचो दूरगा कथा ॥ ५३ ॥
कर्पूरो दह्यतेऽशेषं, दग्धं काष्ठं तु शिष्यते ।
युष्मदस्मज्जगद्भावो, समाधौ विलयं व्रजेत् ॥ ५४ ॥
ज्ञानं वर्त्म विचारस्य न स्यात् सगुणता परम् ।
भक्तिमार्गे त्वीशचिन्तां, विना किञ्चिन्न विद्यते ॥ ५५ ॥

जब तक शरीर में आत्मबुद्धि रहती है, तब तक ज्ञान उत्पन्न नहीं हो सकता। विशेष विचार करने पर भी यह देहात्मभावना मनुष्य के मन को बलपूर्वक आकर्षित करती है ॥ ५१ ॥

जड़ समेत पीपल के पेड़ को काट डालने से हम समझते हैं कि वह पेड़ एकदम नष्ट हो गया है, किन्तु दूसरे ही दिन दिखाई पड़ेगा कि वहाँ अंकुर उग आया है ॥ ५२ ॥

यह संसार मिथ्या है—ऐसा कहने से तुम भी मिथ्या हो जाते हो और जो ऐसा कहता है, वह भी स्वप्न के समान मिथ्या है। यह तत्त्व बहुत ही गम्भीर है ॥ ५३ ॥

कपूर को जला डालने से कुछ भी बाकी नहीं रहता, किन्तु लकड़ी को जलाने से राख रह जाती है। इसी प्रकार तुम, मैं और संसार समाधि अवस्था में कपूर की तरह विलुप्त हो जाते हैं ॥ ५४ ॥

ज्ञानमार्ग विचार का पथ है, किन्तु उस विचार से कभी-कभी सगुण ईश्वर में विश्वास नहीं रहता। किन्तु भक्तिमार्ग में भगवान की चिंता के बिना और कुछ नहीं रह जाता ॥ ५५ ॥

यस्य पित्रा पितुः पित्रा कृषिकार्यं कृतं भवेत् ।
स स्वकार्यरतो दृष्टो वैफल्येऽपि कृषेर्ध्रुवम् ॥ ५६ ॥

ज्ञानिस्वरूपम्

ज्ञानिने रोचते नान्यत् केवलं भगवत्कथा ।
अविद्यावागुराबद्धस्त्वक्षार्थानेव चिन्तयेत् ॥ ५७ ॥

भूमिका ज्ञानिनः सप्त तत्र पञ्चमभूमिगाः ।
ज्ञानोपदेशदातारः नित्यं चेशकथापराः ॥ ५८ ॥

नेश्वरस्य कथाः कुर्याज्ज्ञानी जिज्ञासया विना ।
जिज्ञासा प्रथमं पश्चात् कुशलं भवतामिति ॥ ५९ ॥

जिसके पिता और पितामह कृषिकार्य करते आये हैं, वह अपने कृषिकार्य में ही निरत दिखाई पड़ता है। किसी समय अच्छी उपज न होने पर भी वह उसे नहीं छोड़ता, वैसे ही भक्त कभी भक्ति नहीं छोड़ते, भगवान के दर्शन के लिए चेष्टा करते हैं ॥ ५६ ॥

ज्ञानी का स्वरूप

ज्ञानी व्यक्ति को भगवान की बात छोड़कर अन्य कुछ भी अच्छा नहीं लगता। वैसे ही अविद्या के बन्धन से बँधा मनुष्य सदा ही विषय की चिंता करता है ॥ ५७ ॥

ज्ञानियों की सात भूमिकायें या अवस्थायें होती हैं। पञ्चम भूमि में पहुँचने पर वे ज्ञान के उपदेश ही देते रहते हैं। इस अवस्था में वे केवल ईश्वर की बात ही कहते हैं ॥ ५८ ॥

ज्ञानी व्यक्ति बिना पूछे ईश्वर की बात नहीं कहते। अतः जिज्ञासा ही प्रधान है। इसके बाद आप अच्छे हैं न ?—ऐसी बात होती है ॥ ५९ ॥

विज्ञानी सरलो बालः पश्येदीशं निरन्तरम् ।
लीलामेति क्वचिन्नित्याल्लीलातो नित्यमप्ययम् ॥ ६० ॥

शृणोति केवलं दुग्धं कश्चित्, पश्यति कोऽपि तत् ।
अपरोऽनुभवेत्स्वादं त्रिविधं ज्ञानमुच्यते ॥ ६१ ॥

केवलं श्रोतुरज्ञानं, पश्यतो ज्ञानमुच्यते ।
विज्ञानं स्वादयुक्तस्य विशेषज्ञानमेव तत् ॥ ६२ ॥

प्रत्यक्षदर्शनं तेन, सार्धमालाप एव च ।
विज्ञानिलक्षणं प्रोक्तं, परमात्मीयता च सा ॥ ६३ ॥

विशिष्ट ज्ञानी शिशुओं की तरह पवित्र हैं, उनकी किसी में आसक्ति नहीं है। वह सदा ईश्वर का दर्शन करते हैं। वह कभी नित्य से संसार-लीला की ओर और कभी लीला से नित्य की ओर आया-जाया करते हैं ॥ ६० ॥

किसी ने केवल दूध का नाम सुना है, किसी ने उसे देखा भी है और अन्य किसी ने दूध का स्वाद भी लिया है—इसी प्रकार ज्ञान की भी तीन अवस्थाएँ हैं ॥ ६१ ॥

इसी प्रकार किसी ने केवल ब्रह्म का नाम सुना है, वह पूर्ण ज्ञानी नहीं हुआ है। किसी ने ब्रह्म को अपरोक्ष रूप से दर्शन किया है, ऐसे अनुभव का नाम ज्ञान है और जो सच्चिदानन्द ब्रह्म के आनन्द स्वरूप की अपरोक्ष रूप से उपलब्धि कर सके हैं उनके उस ज्ञान को विज्ञान कहते हैं ॥ ६२ ॥

ईश्वर का प्रत्यक्ष दर्शन करना और उनसे वार्तालाप करना, ये दोनों विज्ञानी के लक्षण हैं। इसे परमात्मा की स्वरूप-प्राप्ति भी कहते हैं ॥ ६३ ॥

आत्मस्वरूपम्

मनोबुद्धयहङ्कारतत्त्वानि नासौ न वा पञ्चभूतानि नायं प्रपञ्चः।
परब्रह्मरूपस्तथापि स्वयं यो भवेत्सर्वरूपस्ततो नेति नेति ॥६४॥

सोपानैः क्रमशो गच्छेद् गृहोपरितलं नरः।
उपादानस्य चैक्येऽपि सोपान-तलयोर्भिदा ॥ ६५ ॥

कठिना भूर्ब्रह्मकार्य-मस्थिकोमलशुक्रजम्।
कठिनः सिन्धुफेनश्च सर्वमीश्वर-शक्तिजम् ॥ ६६ ॥

संसारी तथा ज्ञानी

जीवो जगत्स एवास्ते न पृथक् संसृतिस्ततः।
शुभं संसारकार्यं स्यात् तत्सेवाभावतः कृतम् ॥ ६७ ॥

आत्मस्वरूप

यह आत्मा मन, बुद्धि, अहंकार आदि नौ तत्व नहीं है; पञ्चभूत और दृश्य प्रपंच भी नहीं है। परमब्रह्म-स्वरूप होकर भी यह आत्मा बाहरी जगत के रूप में प्रकाशित होती है। वेद नेति नेति कहकर उसके स्वरूप का वर्णन करते हैं ॥ ६४ ॥

मनुष्य क्रमशः एक-एक सीढ़ी लांघकर छत पर पहुँचता है। सीढ़ी और छत एक ही उपादान से गठित होने पर भी दोनों ही नाम और रूप के भेद से भिन्न वस्तुयें हैं ॥ ६५ ॥

निराकार ब्रह्म से उत्पन्न पृथ्वी कठिन है, कोमल शुक्र से उत्पन्न अस्थि भी दृढ़ है, समुद्र का झाग भी कभी कठोर हो जाता है। ये सभी ईश्वर की शक्ति से उत्पन्न हैं ॥ ६६ ॥

विषयी और ज्ञानी

जीव और जगत् सभी ईश्वर हैं, यह संसार भगवान से पृथक नहीं है, इस कारण विषयी मनुष्य यदि संसार के सारे कार्य भगवान की सेवा समझ-कर करता है तो उससे उसका कल्याण होगा ॥ ६७ ॥

अश्रद्धोऽज्ञानि संसारी मन्दाभे मृद्गृहे वसन् ।
केवलं गृहगं पश्येद्बहिरालोकवर्जितः ॥ ६८ ॥

ज्ञानवान् यस्तु संसारी वसन् काचगृहान्तरे ।
अन्तर्बहिः स्थितालोकः सर्वं स्पष्टतयेक्षते ॥ ६९ ॥

ज्ञानसूर्यप्रभा तस्य गृहे प्रसरति स्वयम् ।
वेत्ति नित्यमनित्यं च येनायं सदसत्तथा ॥ ७० ॥

विज्ञानी मन्यते ब्रह्म मेरुवद् ध्रुवमक्रियम् ।
संसारः सृज्यते तस्य रजःसत्त्वतमोगुणैः ॥ ७१ ॥

ईश्वर में श्रद्धारहित, नास्तिक, विषयी व्यक्ति मानो मिट्टी के घर में निवास करता है । थोड़े प्रकाश में वह उस घर के पदार्थों को ही देख सकता है । उसके लिए घर के बाहर सभी अन्धकारमय है । अर्थात् घर के बाहर की किसी वस्तु को वह नहीं देख सकता ॥ ६८ ॥

किन्तु श्रद्धावान ज्ञानी गृहस्थ मानो काँच के घर में रहते हैं । भीतर और बाहर सर्वत्र प्रकाश रहने से सभी वस्तुओं को वह स्पष्ट देख सकते हैं ॥ ६९ ॥

इसी प्रकार ज्ञानी के घर में ज्ञान-रूप सूर्य-प्रकाश स्वयं ही व्याप्त रहता है । उस विवेक-रूप प्रकाश की सहायता से वे नित्य, अनित्य, सत् और असत् को जान सकते हैं ॥ ७० ॥

विज्ञानी व्यक्ति ब्रह्म को मेरु-पर्वत के समान अटल और क्रियाशून्य समझते हैं । उस ब्रह्म के सत्त्व, रज और तम—इन तीन गुणों से संसार-प्रपंच सृष्ट होता है ॥ ७१ ॥

तथापि स गुणातीतो निर्लेपो भगवान् स्वयम् ।
जगज्जीव - मनोज्ञान - वैराग्यैश्वर्यसंयुतः ॥ ७२ ॥

भक्ति तथा ज्ञान

भक्तेर्ज्ञानस्य चाध्वानावुभावीश्वरगामिनौ ।
तत्रावक्रो भक्तिमार्गो दूषितोऽहं यदि त्यजेः ॥ ७३ ॥

भक्तस्य ते प्रयत्नेन नापगच्छति चेदहम् ।
दासोऽहं तस्य भक्तोऽहं पुत्रोऽहमिति भावय ॥ ७४ ॥

स एव सर्वभूतस्थो विभुरैश्वर्यसंयुतः ।
एको दशजयी कोऽपि तदपीश्वरशक्तितः ॥ ७५ ॥

तो भी ब्रह्मस्वरूप भगवान स्वयं गुणातीत और निर्लिप्त हैं। उनमें जगत, जीव, मन, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य विद्यमान रहते हैं ॥ ७२ ॥

भक्ति और ज्ञान

भक्ति-मार्ग और ज्ञान-मार्ग दोनों ही ईश्वर के पास पहुँचते हैं। यदि तुम अपना दूषित अहं अभिमान छोड़ सको तो तुम्हारे लिए भक्तिमार्ग ही सरल पथ है ॥ ७३ ॥

भक्त का अहंकार यदि चेष्टा करने पर भी नहीं जाता तो अपने को उनका दास, भक्त या पुत्र रूप से सोचना चाहिए ॥ ७४ ॥

वे सभी प्राणियों में अवस्थित हैं, वे सर्वव्यापी तथा षड़ैश्वर्यवान हैं, संसार में कोई एक बलवान व्यक्ति अन्य दुर्बल १० व्यक्तियों पर विजय प्राप्त कर सकता है। तो भी वह ईश्वर की शक्ति से ही सम्भव है ॥ ७५ ॥

आनन्दहेतुर्विज्ञानिकृते ब्रह्ममयं जगत् ।
साधकानां तु भवेन्नित्यं तत्प्रतारणकारणम् ॥ ७६ ॥

तदाधारतया सर्वं निर्मूल्यं तं विनाखिलम् ।
एकस्य पृष्ठे शून्यानां मूल्यं नापरतः परम् ॥ ७७ ॥

नित्यतो गम्यते लीला, लीलातो नित्यमेव च ।
साकारं सगुणरूपं सच्चित्सुखमनाकृति ॥ ७८ ॥

आनन्दस्त्रिविधः

आनन्दो 'विषयानन्दो' 'भजनानन्द' एव च ।
ब्रह्मानन्दस्त्रिधा प्रोक्तः कामार्थोत्थस्तदादिमः ॥ ७९ ॥

विज्ञानी के लिए ब्रह्म ही सब कुछ बने हैं, ऐसा ज्ञान रहने से यह संसार आनन्द का स्थान है, किन्तु साधक के लिए यह संसार दुःख या बन्धन का कारण होता है ॥ ७६ ॥

वे सभी के आधार-स्वरूप हैं, इस कारण उन्हें छोड़ देने से सभी संसार ही मूल्यहीन तथा असत् हो जाता है। गणित में १ के आगे शून्य देने से उसका मूल्य बढ़ता है, किन्तु उस अंक के पीछे कितने ही शून्य दिये जायँ, उससे मूल्य कुछ भी नहीं बढ़ता ॥ ७७ ॥

ज्ञानी ब्रह्मरूप नित्य वस्तु से संसारलीला की ओर और संसारलीला से नित्य वस्तु सच्चिदानन्द ब्रह्म की ओर भी जा सकते हैं, क्योंकि नित्य वस्तु अर्थात् ब्रह्म और उनकी लीला अभिन्न है। उनका सगुण रूप साकार और सच्चिदानन्द रूप निराकार है ॥ ७८ ॥

आनन्द तीन प्रकार के हैं।

आनन्द तीन प्रकार के हैं—विषयानन्द, भजनानन्द, और ब्रह्मानन्द। उनमें प्रथम विषयानन्द कामना और अर्थ से उत्पन्न होता है ॥ ७९ ॥

द्वितीयो 'भजनानन्द'स्तन्नामगुणकीर्तनम् ।
भगवद्दर्शनानन्दो 'ब्रह्मानन्द' इतीरितः ॥ ८० ॥

ब्रह्मान्दात्परं सर्वावस्थासु मुनयोऽभवन् ।
यथा चैतन्यदेवेऽभूद् अन्तर्बाह्यार्धबाह्यता ॥ ८१ ॥

भगवद्दर्शनावस्थाऽन्तर्दशा जड़साम्यभाक् ।
ईषद्बहिःस्थितिश्चार्धबाह्या, बाह्येशकीर्तनम् ॥ ८२ ॥

ज्ञानिनो जड़समाधिरुच्यते, नास्त्यहं त्विह भवेन्मनोलयः।
भक्तिमान्न तु निजं त्यजेदहं तस्य चेतनसमाधिरीरितः ॥ ८३ ॥

द्वितीय भजनानन्द भगवान के नाम और गुण के कीर्तन से उत्पन्न होता है। भगवान के साक्षात् दर्शन अर्थात् अपरोक्षानुभूति से उत्पन्न आनन्द को ब्रह्मानन्द कहते हैं ॥ ८० ॥

ब्रह्मानन्द लाभ होने पर मुनि लोग सभी अवस्थाओं में समान आनन्द में अवस्थित रह सकते हैं। जैसे कि चैतन्य महाप्रभु में कभी अन्तर्दशा, कभी बाह्यदशा और कभी अर्धबाह्यदशा होती थी ॥ ८१ ॥

भगवान के साक्षात् दर्शन की अवस्था को अन्तर्दशा कहते हैं, इस अवस्था को जड़ावस्था भी कहते हैं। कुछ बाहरी चेतना रहने से उसे अर्धबाह्यदशा कहते हैं और जिस अवस्था में ईश्वर के गुणों का कीर्तन होता है उसे बाह्य-दशा कहते हैं ॥ ८२ ॥

ज्ञानियों की समाधि को जड़-समाधि कहते हैं। उसमें अहं भाव का पूर्णतया नाश नहीं होता। इस अवस्था में मन का सम्पूर्ण लय होता है किन्तु भक्त साधक अपना अहंभाव नहीं छोड़ते [बल्कि भगवान के दास या भक्त बने रहते हैं।] उनमें चैतन्य-समाधि होती है ॥ ८३ ॥

ईश्वर-भक्तयोः सम्बन्धः

भक्तिमान् रसिक ईश्वरो रसः सेवकस्य तव सेव्य ईश्वरः ।
भोगभाक् त्वमसि भोज्यतेश्वरे भक्तिवर्त्मनि भवेदियं द्विता ॥ ८४ ॥

ब्रह्मज्ञानात्परमपि यदि ज्ञानिनः शिष्यतेऽहं,
कल्याणार्थं परमयमतो नास्त्यविद्याकलङ्कः ।
भक्तस्तस्माद्द्रवति परितोऽनन्तलीलारसज्ञोऽ
प्येवं न स्यादहमुभयगः क्वापि बन्धस्य हेतुः ॥ ८५ ॥

यदिन्द्रजालं वयमैन्द्रजालिकं विलोकयन्तोऽद्भुतभावमानसाः ।
विभाव्यतेऽस्माभिरसत्तदादिमं तथा परस्मिन्ननिशं यथार्थता ॥८६॥

ईश्वर और भक्त का सम्बन्ध

यदि भक्त रसिक हो तो ईश्वर रसस्वरूप हैं और यदि भक्त सेवक होता है तो भगवान सेव्य होते हैं, और यदि भक्त भोजन करनेवाला होता है, तो ईश्वर भोज्य हैं । भक्तिमार्ग में ऐसी द्वैत भावना रहती है ॥ ८४ ॥

ब्रह्मज्ञान लाभ होने के बाद ज्ञानी के अन्तर में अहम्भाव का लेशमात्र शेष रह जाता है, तो वह केवल लोक-कल्याण के लिए है, उसमें अविद्या का कलंक नहीं रहता । किन्तु इसी अहंभाव की सहायता से भक्त भगवान के अनन्त लीलारस का स्वाद पाता है । अतः ज्ञानी या भक्त की यह लेश-अविद्या बन्धन का कारण नहीं होती ॥ ८५ ॥

हमलोग इन्द्रजाल और ऐन्द्रजालिक को देखकर आश्चर्यचकित होते हैं । उनमें हम प्रथम इन्द्रजाल को असत् और ऐन्द्रजालिक को सत् समझते हैं ॥ ८६ ॥

जीवात्मनां प्रभुरयं तदधीनता नः
सोऽस्मान्नियोजयति साधुतया चरामः।
ज्ञानं ददाति खलु तस्य च शक्तिराद्या,
तेनालमत्र वयमोक्षितुमिन्द्रजालम् ॥ ८७॥

इति श्रीरामकृष्णोपदेशसाहस्र्यां ज्ञानयोगो नाम
नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

ईश्वर सभी जीवों के प्रभु हैं और जीव उनके अधीन हैं। वे जैसा कराते हैं, हम वैसा ही करते हैं। उन्हीं की आद्याशक्ति महामाया हमें ज्ञान देती हैं। पूर्णज्ञान होने के अनन्तर हम इस संसार को इन्द्रजाल के खेल की तरह अनित्य रूप से देखने में समर्थ होते हैं ॥ ८७ ॥

इति श्रीरामकृष्णोपदेशसाहस्री का ज्ञानयोग नामक
नवम अध्याय समाप्त ॥ ९ ॥

कर्मयोगोनाम दशमोऽध्यायः

कर्मयोगः

उद्देश्यं खलु जीवनस्य भगवल्लाभस्तदर्थं पुन-
निष्कामं कुरु कर्म, यच्छति बरं चेत्तुभ्यमीशः स्वयम्।
"स्थाप्याः क्वाप्यगदालया ममकृते" न प्रार्थनीयः परं
"शुद्धा भक्तिरुदेतु पादकमले, नित्यं च ते दर्शनम्।। १।।

तीर्थाटनं पूजन-जीव-सेवे, गुरूपदेशेन तु 'कर्मयोगः'।
यथा विदेहः; श्रवणादिकं चेद् भवेन्मनोयोग इति प्रतीतः।। २।।

कर्मयोग

मनुष्यजीवन का प्रधान उद्देश्य है ईश्वर-लाभ। उसके लिए तुम निष्काम कर्म करो। सोचो कि ईश्वर प्रसन्न होकर तुम्हें दर्शन देने के लिए आये। क्या उस समय तुम उनसे 'मेरे लिए एक औषधालय बना दीजिए'— ऐसी प्रार्थना करोगे? उनसे ऐसी प्रार्थना करनी चाहिए कि 'हे भगवान, आपका निरन्तर दर्शन-लाभ हो और आपके चरणकमलों के प्रति मेरे हृदय में शुद्ध भक्ति उत्पन्न हो'।। १।।

गुरु के उपदेश से निष्काम भाव से तीर्थ-भ्रमण, ईश्वर-पूजन तथा जीवों की सेवा करना ही कर्मयोग है। विदेह जनक इसके उदाहरण हैं। इसी प्रकार श्रवण-मनन-निदिध्यासन करने का नाम मनोयोग है।। २।।

"ईशोऽस्ति" वाक्येन न हीष्टसिद्धिर्नोचेद्रहो व्याकुलतार्थनं वा।
रक्तो यथा भोगविलासलाभे तथेश्वरप्राप्तिकृते भवेत्कः ॥ ३ ॥

यत्सात्त्विकं कर्म तदेव कृत्यं विवेक-वैराग्य-दयानुरूपम्।
रजो दिशेद्दम्भमितस्तमोऽदच्च स्पृहा फले सात्त्विक-कर्ममार्गः ॥ ४ ॥

न लोकमान्यो भवितुं स्वकार्यं, कार्यं न पुण्यार्जनहेतवे वा।
नालं वयं चेत्परिहर्तुमेतत् त्यागी स एवास्ति फलं त्यजेद्यः ॥ ५ ॥

केवल 'ईश्वर हैं', 'ईश्वर हैं' यह बात बार-बार कहने से ईश्वर-लाभ नहीं होता। यदि एकान्त स्थान में बैठकर व्याकुल भाव से उन्हें पुकारा न जाय तो अन्य सभी काम निरर्थक हैं। विषयभोगविलास के प्रति जैसी आसक्ति होती है, उसी प्रकार ईश्वर की प्राप्ति के लिए कौन व्याकुल होता है? ॥ ३ ॥

सात्त्विक कर्म ही तुम्हें करना उचित है। विवेक, वैराग्य, दया आदि इसी गुण के लक्षण हैं तथा क्षमा, उदारता, त्याग, भगवद्-भजन आदि भी हैं। रजोगुण मनुष्य के मन को अहंकार की ओर खींच लेता है और उससे तमोगुण और उसके कार्य की ओर भी प्रवृत्ति हो जाती है। कर्मफल की आकांक्षा का परित्याग अर्थात् निष्काम भाव से कर्म करना ही सात्त्विक कर्म-मार्ग है ॥ ४ ॥

केवल सम्मानप्राप्ति या पुण्यार्जन के लिए ही काम करना तुम्हें उचित नहीं है। यदि हम सभी कार्य छोड़ने में समर्थ न हों तो कर्म-फल की आकांक्षा का त्याग करना ही उचित है। जो कर्म-फल का त्याग करता है, वही यथार्थ कर्मयोगी है ॥ ५ ॥

त्यक्तुं न कर्म प्रभुरस्ति जीवो, संसारभोगस्पृहया लुब्धचित्तः ।
भोगाशया कर्मणि संप्रसक्तः, कथं स शान्तिं लभते वराकः ? ॥ ६ ॥

कर्माणि, यावत् किल वासनाः स्युश्चिन्ता चिरं चेतसि काप्यशान्तिः ।
अतोऽफलकांक्षि मनो विधेयं कर्मक्षयोऽन्ते किल वासनायाः ॥ ७ ॥

निष्कामकर्माध्वनि दुष्करेऽस्मिन्, स्पृहा विशत्याशुतरं कुतश्चित् ।
अपेक्ष्यते साधनमत्र येन त्यागेशलाभाबाथ लोकशिक्षा ॥ ८ ॥

अवाप्य मिष्टादिकमत्र किञ्चित् प्रयाति शान्तिं क्षणिकां तु बालः ।
मिष्टेऽसति क्रन्दति मातरित्थं भोगस्य शान्त्यैव भवेद् विरागः ॥ ९ ॥

जब तक मनुष्य सांसारिक भोग-स्पृहा में लिप्त रहता है तब तक वह कर्म नहीं छोड़ सकता । केवल भोगवासना से जो कर्म करता है वैसा अभागा शान्ति कैसे पा सकता है ? ॥ ६ ॥

जब तक वासना है तब तक कर्म भी रहता है, फलस्वरूप चित्त में सदा चिन्ता, भावना, अशान्ति रहती है । इस कारण मन को फलाकांक्षा से विरत रखना चाहिए । वासना के समाप्त होने पर कर्म अपने आप क्षय-प्राप्त हो जाता है ॥ ७ ॥

अत्यन्त कठिन इस निष्काम कर्ममार्ग में हमारे अनजाने में न जाने कहाँ से मन में भोग-स्पृहा आ जाती है । ऐसे स्थल में साधन करना आवश्यक है, जिससे त्याग, ईश्वर-लाभ और लोक-शिक्षा सम्भव हो सके ॥ ८ ॥

छोटा बच्चा कुछ मिठाई पाने पर कुछ समय के लिए शांत हो जाता है । मिठाई समाप्त होने पर वह फिर 'माँ' कह कर रोने लगता है । भोग की शांति होने से ही वैराग्य उत्पन्न हो सकता है ॥ ९ ॥

कर्मफलं निश्चितम्

स एव कर्ता मनुजस्तु यन्त्रं, तथाप्ययं कर्मफलानि भुङ्क्ते।
कुक्षिर्ज्वलेत्तिक्तमरीचभोक्तुः बुधस्त्वसत्कर्मपथं जहाति ॥१०॥

कदाप्यसत्कर्मफलं ध्रुवं स्याद्, क्रोधादिकं त्याज्यमतो नरेण।
क्रोधेन लङ्कां परिदह्य सीता-चिन्तापरोऽभूदधिकं हनूमान् ॥११॥

नित्यमग्रगमनं श्रेयस्करम्

काष्ठच्छेत्ता कोऽप्यरण्यं प्रविष्टः सोऽग्रे गन्तुं साधुना चोपदिष्टः।
गत्वा सम्यक् काष्ठलाभान्वितोऽभूद् विक्रीयान्ते द्रव्यमाप प्रभूतम् ॥१२॥

कर्मफल निश्चित है।

वे ही एकमात्र कर्ता हैं, मनुष्य उनके हाथ के यन्त्र मात्र हैं, तो भी मनुष्य कुकर्म का फल भोगता है। बहुत तीता मिर्चा खाने से पेट में जलन होती है। इसीलिए सिद्ध पुरुष सदा कुकार्यों का परित्याग करते हैं ॥ १० ॥

कुकर्म का फल किसी-न-किसी समय अवश्य ही भोगना पड़ता है, इस कारण क्रोध आदि का पूर्णतया परित्याग करना चाहिए। हनूमान क्रोध के कारण लंका को जलाकर बाद में अशोक वन में रहनेवाली सीता देवी की बात स्मरण होने पर वे अत्यन्त चिन्तित हो पड़े थे ॥ ११ ॥

सदा अग्रगमन ही श्रेयस्कर है

एक लकड़हारा लकड़ी काटने के लिए जंगल में गया था। किसी साधु ने उससे और भी आगे जाने के लिए उपदेश दिया था। आगे जाकर उसे अनेक अच्छी लकड़ियाँ मिलीं। उन्हें बेचकर उसने बहुत धन पाया ॥ १२ ॥

'अग्रे गच्छेः' संस्मरन् साधुवाक्यं, वारेऽन्यस्मिंश्चन्दनं लब्धवान् सः।
दूरं यातो राजतीं तापनीयां, भूमिं लेभे साधनैरग्रगामी ॥१३॥

एवं चरन् कर्मपथे मनुष्यो गच्छेत्पुरस्तादनिशं शिवाय।
न केवलं जीवनमस्ति लक्ष्यं, पुरः प्रयाहीश्वरलब्धये त्वम् ॥१४॥

सुदुष्करं कर्म विना तु वाञ्छां तदर्थमीशोऽनिशमर्थनीयः।
पुरोगतेर्दर्शनयोग्यता ते ह्यालापयोगः सह माधवेन ॥१५॥

जपोपवासाह्निककर्मसक्तं, करोति नित्यं प्रभुरेव भक्तम्।
त्यागः परं तत्फलकामनाया अपेक्ष्यते यद्ध्रुवमीशलाभः ॥१६॥

दूसरे दिन साधु की 'आगे जाओ' 'आगे जाओ' बात का स्मरण कर वह और भी आगे गया, फलस्वरूप इस बार उसे अनेक चन्दन की लकड़ियाँ मिलीं। तीसरे दिन और भी आगे जाने पर उसे चाँदी व सोने की खानें मिलीं। इसी प्रकार साधन-मार्ग में क्रमशः अग्रसर होना चाहिए ॥ १३ ॥

इसी प्रकार मनुष्य को कर्म-मार्ग का आवलम्बन करके अपने कल्याण के लिए आगे चलने की नीति को अपनाना चाहिए। केवल किसी प्रकार जीवित रहना ही जीवन का लक्ष्य नहीं है। तुम्हें भगवान-लाभ करने के लिए आगे जाना होगा ॥ १४ ॥

फलाकांक्षा न रखकर कर्म करना बहुत कठिन है। इस कारण ईश्वर के निकट सदा प्रार्थना करनी चाहिए, जिससे कर्म निष्काम भाव से किया जा सके। साधन-मार्ग में 'आगे जाओ' इस नीति का अनुसरण करने से तुममें ईश्वरदर्शन-लाभ की योग्यता हो सकती है, उसके बाद भगवान के साथ बातचीत करने का भी मौका मिल सकता है ॥ १५ ॥

ईश्वर का शरणापन्न वे स्वयं ही भक्त को जप, उपवास, पूजा आदि कार्यों में प्रेरणा देते हैं, किन्तु वे कर्म निष्काम भाव से करने से ही उससे निश्चित रूप से ईश्वर-लाभ हो ॥ १६ ॥

सांसारिके कर्मणि नास्ति दोषः कृत्वाखिलं तद्धरयेऽर्पितं चेत् ।
परं समिहा हरिपादपद्मे न गण्यते कैरपि कामनेति ॥१७॥
सदङ्कुरोत्पत्तिकृते कृतश्रमा परिष्कृता नित्यमपेक्ष्यते क्षितिः ।
तथा मनो निर्मलमीशसेवया स्वकर्मनिष्कामतया समापितुम् ॥१८॥
शैवेषु किञ्चित् गिरिशस्य सत्ता, सत्ताच्युतस्यापि च वैष्णवेषु ।
चेन्मातुरस्मासु तथैव भक्ति-र्ध्रुवं भवेन्मातुरिहापि सत्ता ॥१९॥

आसक्तिशून्यता

संसारिणः सन्ति विशुद्धभक्ता, आसक्तिहीनं स्वमनो विधाय ।
मानं सुखं कर्मफलं च सर्वं समर्पयन्तोऽनिशमीश्वराय ॥२०॥

सांसारिक कार्य करने में कोई दोष नहीं है किन्तु सभी कर्मों का फल भगवान पर अर्पित किया जाय। भगवान के चरण-कमल प्राप्त करने की इच्छा कामना नहीं है ॥ १७ ॥

जिस प्रकार बीज से अच्छे अंकुर उत्पन्न करने के लिए परिश्रम करके जमीन को सदा साफ रखना आवश्यक है, उसी प्रकार अपने कर्म को निष्काम भाव से सम्पन्न करने हेतु भगवान की सेवा से निर्मलता-प्राप्त मन की भी अपेक्षा होती है ॥ १८ ॥

शिवभक्तों में शिव का और विष्णुभक्तों में विष्णु का कुछ अस्तित्व रहता है, इसी प्रकार यदि माँ जगदम्बा के प्रति भक्ति रहे तो अवश्य ही हममें माँ की सत्ता रहेगी ॥ १९ ॥

आशक्तिशून्यता

गृहस्थ मनुष्यों को अपने मन को आशक्ति-रहित करके भगवान का विशुद्ध भक्त होकर गृहस्थाश्रम में रहा जा सकता है, उसमें कोई दोष नहीं है। ऐसी अवस्था में शुद्ध भक्त को सम्मान, सुख, कर्मफल आदि सभी ईश्वर को अर्पित करना चाहिए ॥ २० ॥

विशेषतस्त्यागिजनेन कार्यमालम्ब्य निष्काममधियं स्वकार्यम् ।
दानं स कस्मैचन चेत्प्रयच्छेद् आत्मोपकारो न परोपकारः ॥२१॥

सर्वेषु भूतेषु हरेर्निवासः स्याज्जीवसेवा हरिसेवनं ते ।
विधीयतेऽत्रापि निजोपकारस्त्वया कुतस्त्योऽस्ति परोपकारः ॥२२॥

शिवस्वरूपाखिलजीववृन्द-सेवा विना स्वर्गयशोऽभिवाञ्छाम् ।
समुज्झितप्रत्युपकारबुद्धे-रासक्तिशून्यस्तव कर्ममार्गः ॥२३॥

स्वमेव कल्याणमयं विधत्ते, नरो दयादानपरस्त्वसङ्गः ।
ईशो जगन्मङ्गलमातनोति, कर्मण्यहंभावयुता वयं के ? ॥२४॥

त्यागी व्यक्ति को विशेष रूप से निष्काम बुद्धि के साथ कर्म करना चाहिए। यदि वे किसी व्यक्ति को कुछ देते हैं तो उससे अपना ही उपकार होता है, परोपकार नहीं ॥ २१ ॥

सभी प्राणियों में भगवान निवास करते हैं, अतः जीव की सेवा करने से ही भगवान की सेवा होती है। ऐसे स्थल में भी जीव सेवा से अपना ही उपकार होता है क्योंकि उससे आत्मोपलब्धि की सहायता होती है। अतः वहाँ तुम्हारा परोपकार कैसे हुआ ? ॥ २२ ॥

संसार के सभी प्राणी शिवस्वरूप हैं। स्वर्ग-सुख और यश-लाभ की इच्छा छोड़कर शिवस्वरूप जीव की सेवा करो। प्रत्युपकार पाने की आशा छोड़ देने से तुम्हारा कर्म-मार्ग आसक्तिरहित होगा ॥ २३ ॥

आसक्ति को छोड़कर यदि मनुष्य दया और दान करता है तो उससे उसका ही कल्याण होता है। ईश्वर स्वयं ही संसार का मंगल करते हैं, हम लोग उनके हाथ के यन्त्र मात्र हैं, मैं कर्ता हूँ, ऐसी बात कहने का हमें अधिकार क्या है ? भगवान ही एकमात्र कर्ता है। निष्काम-कर्म मनुष्य को इसी भाव में प्रतिष्ठित करते हैं ॥ २४ ॥

सृजेदयं भास्करचन्द्रशस्य-फलानि मातापितरौ त्वदर्थम्।
पित्रोर्हृदि प्रेम यदस्ति किञ्चित् स्वयं प्रभुस्तत्प्रभवः प्रतीतः ॥२५॥

दयापरः स्या अथवान्यथा त्वं, तस्यानुकम्पापरतास्ति नित्यम्।
केनापि मार्गेण सहायकोऽयं न चान्तरायः प्रभुकार्यजाते ॥२६॥

कर्मप्रवृत्तिः प्रथमं, विशेषाऽशेषं परं नश्यति सा समाधौ।
यथा यथेशस्य नरः समीपं, तथा तथाल्पास्तव कर्मवृत्तिः ॥२७॥

नाम्ना हरेश्चेत्तव रोमहर्षो दृशोऽश्रुपातश्च भवेत्तदानीम्।
सन्ध्यादिकर्म स्वयमेव नश्येत् त्यागेऽधिकारश्च तवापि तत्र ॥२८॥

ईश्वर ने ही तुम्हारे लिए सूर्य, चन्द्र, अन्न, फल, माता-पिता आदि की सृष्टि की है। माता-पिता के हृदय में सन्तान के लिए कुछ स्नेह हैं उसे भी प्रभु ने ही दिया है ॥ २५ ॥

औरों पर तुम दया करो या न करो, किन्तु ईश्वर सदा ही सब पर दया करते हैं। किसी भी उपाय से क्यों न हो, वे सबको सहायता देते हैं। उनके कार्य में कोई विघ्न नहीं डाल सकता ॥ २६ ॥

पहले कर्म में प्रवृत्ति होती है, यह साधारण विषय है। किन्तु समाधि होने पर वह प्रवृत्ति नष्ट हो जाती है। जितना ही ईश्वर की ओर अग्रसर होगे, उतना ही तुम्हारी कर्म की प्रवृत्ति घटती जायगी ॥ २७ ॥

जब एक बार हरिनाम लेने से तुम्हारे शरीर में रोमांच हो और तुम्हारी आँखों से आँसू गिरे; तब संध्या-वंदन आदि कार्य करने की आवश्यकता नहीं रहती, और तभी तुम्हें कर्मत्याग करने का अधिकार होगा ॥ २८ ॥

कर्मगौणत्वम्

काले तदानीं हरिरामगानं ओं-अक्षरं वा जपितं शिवाय ।
सन्ध्या तदास्यात् त्रिपदाविलीना ओङ्कारमात्रे त्रिपदा-लयोऽपि ॥२९॥

भक्तिः फलं कम तथा प्रसूनं, जाते फलेऽधःपतनं सुमस्य ।
आपन्नसत्त्वा गृहिणो वधूश्चेत्तत्कार्यभारः शनैर्लघुः स्यात् । ३०॥

श्वश्रूर्वदेत्तां दशमेऽथ मासे त्याज्यं त्वयात्राखिलमेव कार्यम् ।
विधाय साप्यङ्कगतं तनूजं स्नेहात्कृतार्थोपविशेदकार्या ॥३१॥

सन्ध्याधिगायत्रमथोकृतौ तत् समाधिलीनः प्रणवोऽपि नादः ।
नादात्परं ब्रह्ममयः स्वभावात् ज्ञानी क्रमेणैव विनष्टकर्मा ॥३२॥

कर्म की गौणता

उस समय केवल हरिनाम, रामनाम या ओंकार मंत्र का जप करने से ही कल्याण होगा। संध्या गायत्री में और गायत्री ओंकार में लीन हो जाती है ॥ २९ ॥

कर्म मानो फूल है और भक्ति उसका फल है। फल उत्पन्न होने से फूल अपने आप गिर जाता है। गृहस्थ के घर में बहू गर्भवती हो तो उसके कार्यों का भार क्रमशः हलका कर दिया जाता है ॥ ३० ॥

उसके बाद गर्भ का दशम मास होने पर सास कहती हैं—'अब तुम काम न करो।' उसके अनन्तर बच्चा होने पर उसे गोदी में लिये बहू स्नेह से गदगद होकर अपने को कृतार्थ समझती है और वह कोई काम न करके केवल बैठी ही रहती है ॥ ३१ ॥

संध्या गायत्रीछन्द में और गायत्री ओंकार में लीन हो जाती है। ओंकार भी समाधि (ब्रह्म) में विलीन हो जाता है। यह ओंकारनाद जब समाधि में लयप्राप्त हो जाता है, तब ज्ञानी स्वभावतः ही ब्रह्ममय हो जाते हैं और उनका कर्म क्रमशः विनष्ट हो जाता है ॥ ३२ ॥

स्वाभ्यन्तरे किं स्थितमित्यवैतुम् अपेक्ष्यते साधनजातमादौ ।
संसारसिन्धौ विविधान्तराये भवेच्छनैः शान्तिशिवस्य लाभः ॥३३॥

झञ्झानभस्वत्सलिलोर्मिमाला-कुले प्रचण्डे रयवत्प्रवाहे ।
नौचालकोऽस्मिन् दृढमात्तदण्डो, नावं नयेदम्भसि सावधानः ॥३४॥

वेगप्रशान्तावनुकूलवाते स्पृशन्निवारित्रमसौ करेण ।
स्यान्नाविको वायुपटप्रसारासक्तः पिबंस्तिष्ठति ताम्रकूटम् ॥३५॥

निष्कामकर्मबुद्धिः श्रेयसी

संसारकार्यं क्रियते त्वया यत् प्रयोजनं यावदिदं विधेयम् ।
प्रार्थ्यः प्रभुस्तत्र "तथा कुरु त्वं निष्कामभावेन यथाखिलं स्यात्" ॥३६॥

अपने भीतर क्या है—इसे जानने के लिए पहले अनेक प्रकार की साधनायें करनी होती हैं। इस संसार-समुद्र में अनेक बाधा-विघ्न रहने के कारण शान्ति रूप कल्याण का लाभ धीरे-धीरे होता है ॥ ३३ ॥

संसार रूप महासमुद्र में आँधी आने पर बड़ी-बड़ी लहरें उत्पन्न होती हैं। ऐसी अवस्था में मल्लाह पतवार को दृढ़ता के साथ पकड़कर नाव को बहुत सावधानी से चला ले जाता है ॥ ३४ ॥

आँधी का वेग घट जाने से और वायु भी अनुकूल होने से वह पतवार पर केवल हाथ रख देता है। उसके अनन्तर पाल खींचकर निश्चिन्त मन से बैठे-बैठे तम्बाकू पीता है ॥ ३५ ॥

निष्काम कर्म-बुद्धि श्रेष्ठ है

संसार का कार्य जितना आवश्यक हो, उतना ही करना चाहिए; किन्तु भगवान से प्रार्थना करनी होगी कि हे भगवन ! ऐसा कीजिए कि मेरे सभी कार्य निष्काम-भाव से सम्पन्न हों ॥ ३६ ॥

यथा यथा कर्मसु कर्तृबुद्धि-स्तथा तथा विस्मृतिरीश्वरस्य।
अकामभावे तु मनोऽभिलाषः सकामतायाति परं कुतोऽपि ॥३७॥

दानस्य गौणता

दानान्नपानादिकपुण्यकार्यैरीहा "भवेयं भुवि लोकमान्यः"
यदग्रतस्तत्करणीयमेव, परं तदासक्तिपरं वरं न ॥३८॥

कोऽप्येत्य कालीशिवदर्शनार्थं दानप्रसक्तो बहिरेव जातः।
दानेन किं दर्शनमेव मुख्यं विधाय तद्देयमथो यथेच्छम् ॥३९॥

कर्म करते समय जितनी ही अधिक कर्तृत्वबुद्धि होती रहती है, उतनी ही भगवान की विस्मृति हो जाती है। मन में इच्छा होती है कि मैं सभी काम निष्काम-भाव से करूँगा, किन्तु न जाने कहाँ से फल-कामना आ जाती है ॥ ३७ ॥

दान की गौणता

अन्न, पानीय आदि के दान के द्वारा पुण्यकार्य करते रहने से लोगों के मन में मान प्राप्त करने की इच्छा उत्पन्न होती है। अतः अधिक कामों में उलझे न रहकर जो काम सामने आ जाय, उसे पहले ही करना चाहिए, किन्तु उसे निष्काम-भाव से करना उचित है ॥ ३८ ॥

कोई मनुष्य काली या शिव के दर्शन के लिए आकर मन्दिर के बाहर भीखमंगों को दान देने लगा। ऐसे दान का प्रयोजन क्या है? देव-दर्शन ही प्रधान कार्य है। दर्शन के बाद इच्छानुसार दान दिया जा सकता है ॥३९॥

अन्तःपूर्णतया भवेत्परिणतो, यावन्न कोषेऽर्भकः
चञ्च्वा तं पतगो भिनत्ति न निजे तावत्कुलायान्तरे।
कालेऽण्डं स्फुटितं भवेदिति खगः सम्वीक्षते; 'साधना'
तद्वत्सद्गुरुणा कृतेऽपि सकले शिष्यैस्तथा कार्यते ॥ ४० ॥

त्यक्त्वांशतः क्वचन कश्चन कृत्तवृक्ष-
छेत्ता पृथग् विटपिनः कुरुते प्रतीक्षाम्।
पश्चात्सशब्दमवनीं तरुरेत्यपेक्षा
सिद्धेऽपि कर्मणि भवेदिह साधनायाः ॥ ४१ ॥

मादा पक्षी अपने घोंसले में अण्डों को सेती रहती है। जब तक अण्डों के भीतर बच्चे पूरे नहीं होते, तब तक वह चोंच से अण्डों को नहीं फोड़ती, इसके लिए उसे प्रतीक्षा करनी पड़ती है। इसी प्रकार सद्गुरु शिष्य के सब कुछ कर देते हैं, किन्तु शिष्य को जितना साधन करना आवश्यक है उतना साधन उससे करा ही लेते हैं ॥ ४० ॥

बड़ा पेड़ काटते समय प्रायः सब काटकर थोड़ा बाकी रखकर काटने वाला पेड़ से कुछ हटकर खड़ा हो जाता है, उसके बाद वह पेड़ भारी शब्द करता हुआ जमीन पर गिर पड़ता है। इसी तरह गुरु के द्वारा कर्मसिद्धि होने पर भी शिष्य को थोड़ा साधन आवश्यक रहता है ॥ ४१ ॥

दीर्घा कुल्या क्वचिदपि नदीतीरतः पूर्णकल्पा
स्वल्पाऽखाता, तटमनुपरं क्लिन्नतां याति सोंऽशः ।
मृत्सा कृत्स्ना वहति रयतः कर्तृषु प्रेक्षकेषु
साम्भः पूरा भवति सकलासाक्षणाच्च प्रणाली ॥ ४२ ॥

इति श्रीरामकृष्णोपदेशसाहस्र्यां कर्मयोगो नाम
दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

किसी नदी के किनारे से लम्बा नहर काटा गया और थोड़ा काटने से ही नदी के साथ उसका संयोग हो जायगा । तब जो काटता था वह कुछ हट कर खड़ा हो जाता है । क्रमशः वहाँ की मिट्टी नदी के जल से भींगकर अपने आप शब्द करती हुई गिर पड़ती है । तब देखते-देखते नदी का जल बड़े वेग से नहर में आने लगता है ॥ ४२ ॥

कर्मयोग नामक दशम अध्याय समाप्त ।

भक्तियोगोनाम एकादशोऽध्यायः

भक्तियोग

कलौ तु भक्तिः खलु नारदीया शास्त्रोक्तकर्माणि न तादृशानि ।
क्वाथेन किं स्याद्दशमूलजेन क्विनेनवटी चेज्ज्वरशान्तयेऽलम् ॥ १ ॥

युगधर्मः कलौ भक्तिस्तन्नामगुणकीर्तनम् ।
अभ्यर्थना च 'देहि त्वं ज्ञानं प्रेमाथ दर्शनम्' ॥ २ ॥

हस्ततालीप्रदानेन सायं प्रातर्भजस्व तम् ।
इहेश्वरस्य लाभार्थं भक्तोऽहमिति भावय ॥ ३ ॥

भक्तियोग

इस कलयुग में नारदीय भक्तियोग ही श्रेष्ठ है। शास्त्र-विहित कर्म सहज नहीं है। यदि ज्वर आराम करने में समर्थ क्विनीन की गोली मिल जाय तो दशमूल के काढ़े का क्या प्रयोजन है? ॥ १ ॥

बेटा, कलियुग में भक्तियोग ही श्रेष्ठ है। उसमें भगवान का नाम-गुण-कीर्तन और उनसे कातर प्रार्थना रहती है—'हे भगवान्, आप कृपा करके मुझे ज्ञान, प्रेम और दर्शन दीजिये ॥ २ ॥

हाथों से ताली देकर तुम सुबह-शाम भगवान के नाम-गुण-कीर्तन करो। भक्तिमार्ग में ईश्वरलाभ करने के लिए 'मैं भक्त हूँ' 'मैं आपका दास हूँ' इस प्रकार की भावना करो ॥ ३ ॥

सितोपले च मिष्टान्ने माधुर्यं, किन्तु भिन्नता ।
अपकारस्तु मिष्टान्नैः सितोपलमदोषभाक् ॥ ४ ॥
भक्त्यैव भगवत्प्राप्तिर्युगेऽस्मिन् सैव मुक्तिदा ।
अन्तःपुर-प्रवेशाय सार्हा नारी-स्वभावतः ॥ ५ ॥
ईश्वरद्वारपर्यन्तं ज्ञानं गमयितुं क्षमम् ।
भक्तिर्मातुः पदाम्भोजे गृहस्यान्तः प्रवेशयेत् ॥ ६ ॥
यथा यथा विचारोऽग्रे सम्भ्रमः स्यात्तथा तथा ।
उपरिष्टात्पुष्कराम्भः स्वच्छमन्तस्तु पङ्किलम् ॥ ७ ॥
भक्तः स्वीकुरुते नित्य, रजःसत्त्वतमोगुणान् ।
तथाङ्गीकुरुते चायं, जाग्रत्स्वप्नादिका स्थितिः ॥ ८ ॥

मिसरी और मिठाई में मधुरता समान ही है, किन्तु दोनों में भेद है। मिठाई खाने से हानि होती है, किन्तु मिसरी खाने से हानि नहीं होती ॥४॥

इस युग में केवल भक्ति से ही भगवान् को प्राप्त किया जा सकता है, वह मुक्ति भी प्रदान करती है। भक्ति नारी होने के कारण स्वभाव से ही भगवान् के महल में हमें पहुँचा देती है अर्थात् भगवान् के दर्शन में विशेष सहायता देती है ॥ ५ ॥

विचार या ज्ञान ईश्वर के मन्दिर के प्रवेश द्वार तक जा सकता है, किन्तु भक्ति मन्दिर के भीतर भगवान् के चरणकमलों तक हमें पहुँचा देती है ॥ ६ ॥

बहुत अधिक विचार करने से मन में भ्रम उत्पन्न होता है। जैसे तालाव का जल ऊपर निर्मल रहता है, किन्तु नीचे कीचड़ रहने के कारण वह अधिक मलिन रहता है ॥ ७ ॥

भक्त सत्व, रज, तम इन गुणों को सत्य मानकर ग्रहण करता है, फिर जाग्रत, स्वप्न आदि अवस्थाओं को भी स्वीकार करता है ॥ ८ ॥

चतुर्विंशतितत्त्वानां वृन्दं यन्महदादिकम् ।
जगन्ति च स एवेति भक्ताऽवैति दिवानिशम् ॥ ९ ॥

विद्यामायाश्रयो भूत्वा भक्तस्तिष्ठति निर्भयः ।
यत्र सत्सङ्गवैराग्यभक्तिज्ञानमुखा गुणाः ॥ १० ॥

भक्तो वदेदहं मे चेन्नानायासेन तल्लयः ।
वराकः प्रभुदासः सन् भक्तः संश्च वदेदसौ ॥ ११ ॥

कचिज्ज्ञानं तु भक्तस्य, सर्वमीशमयं जगत् ।
मधूच्छिष्टमयोद्याने यथा सर्वं हि तन्मयम् ॥ १२ ॥

पीड़ितः पित्तरोगेण सर्वं पीतं समीक्षते ।
श्यामध्यानेन राधापि पश्येच्छ्याममयं जगत् ॥ १३ ॥

भक्त सदा ही जानता है कि भगवान ही महत्, अहंकार आदि २४ तत्त्व तथा जीव-जगत् बने हुए हैं ॥ ९ ॥

भक्त विद्या माया का आश्रय लेता है और उससे निर्भय रहकर अवस्थान करता है । इसी अवस्था में सत्संग, वैराग्य, भक्ति, ज्ञान आदि सद्गुण भक्त के भीतर प्रकाशित होते हैं ॥ १० ॥

भक्त कहता है—"यदि अहं सहज में नहीं जाता तो वह बेचारा 'मैं प्रभु का दास हूँ', 'भक्त हूँ' ऐसे भाव का आश्रय लेकर पड़ा रहे ॥ ११ ॥

भक्त को भी ऐसा ज्ञान होता है कि ईश्वर के सिवाय और कुछ भी नहीं है अर्थात् वे सर्वात्मक हैं । जैसे मोम के बने बाग के पेड़, पौधे, फल, फूल सभी मोम के हैं ॥ १२ ॥

पित्त-रोग से आक्रांत मनुष्य सभी चीजों को पीला देखता है । श्री राधा श्याम की चिन्ता करते हुए सब कुछ श्याममय देखती थीं ॥ १३ ॥

भ्रमरध्यानतः कीटो दृष्टो भ्रमरतां गतः ।
पारदे सीसकं क्षिप्तं याति पारदरूपताम् ॥ १४ ॥

भक्तोऽपि भावयन्नीशमहंशून्यत्वमाप्नुयात् ।
'दासोऽहं' तस्य भक्तोऽहम् इति स्याद् द्वैतभावना ॥ १५ ॥

तज्ज्ञानेच्छापरो भक्त्या केवलं गुणकीर्तनात् ।
अज्ञातयोग्यमार्गोऽपि याति तल्लाभपात्रताम् ॥ १६ ॥

ज्ञानिनो यं परं ब्रह्म ब्रुवन्त्यात्मेति योगिनः ।
तमेव भक्ता गायन्ति 'भगवानिति' नित्यशः ॥ १७ ॥

तिलचट्टा भ्रमर के द्वारा पकड़े जाने पर डर से उसी की चिन्ता करते हुए भ्रमर बन जाता है, पारे के भीतर सीसा डाल देने से वह पारे का रूप प्राप्त हो जाता है ॥ १४ ॥

इसी प्रकार भक्त भी सदा भगवान की चिन्ता करते हुए अपने अहं भाव से रहित हो जाता है । तब वह सोचता है—मैं उनका दास हूँ, मैं उनका भक्त हूँ, इसी प्रकार द्वैत-बुद्धि में वह प्रतिष्ठित हो जाता है ॥ १५ ॥

यदि ठीक रास्ता न मिले, किन्तु ईश्वर के दर्शन के लिए तीव्र इच्छा हो तो ऐसा मनुष्य केवल गुणकीर्तन से ही भगवान का लाभ कर सकता है । भगवान मन देखते हैं, वह अन्तर्यामी रूप से भक्त की मनोवाँछा पूर्ण करते हैं ॥ १६ ॥

जिन्हें ज्ञानी लोग परमब्रह्म कहते हैं और योगी लोग आत्मा कहते हैं, उन्हीं का भक्त सदा भगवान् रूप से कीर्तन करते हैं ॥ १७ ॥

भक्तस्तु पङ्कजं चारु भगवानलिरुच्यते ।
कुर्याद्भक्तरसास्वादमीश्वरो रसिकः स्वयम् ॥ १८ ॥

ईशभक्तावेकरूपावेक एव द्विधाऽजनि ।
स्वमाधुर्यरसाप्त्यर्थं 'राधाकृष्णे'ति नामतः ॥ १९ ॥

निवासस्तस्य सर्वत्र भक्तस्वान्ते विशेषतः ।
कुत्रापि भूपतिस्तिष्ठेद् आस्थाने तु प्रधानतः ॥ २० ॥

भक्तिलक्षणम्

भक्तिर्नाम प्रभोः सेवा मनोवाक्कायकर्मभिः ।
मन्दिरे गमनं पद्भ्यां कराभ्यां तस्य पूजनम् ॥ २१ ॥

भक्त मानो सुन्दर कमल है और भगवान् उसके रस के स्वाद लेनेवाले भ्रमर हैं। रसिक भगवान् स्वयं भक्त रूप कमल का रसास्वादन करते हैं ॥ १८ ॥

ईश्वर और भक्त एक ही हैं, एक ही वस्तु दो रूपों में प्रकाशित हैं। अपने ही मधुर रस का अस्वादन करने के लिए भगवान् राधा और कृष्ण इन दो रूपों में प्रकाशित होते हैं ॥ १९ ॥

ईश्वर सभी प्राणियों में व्याप्त हैं सही, किन्तु भक्त के अन्तर में वे विशेष रूप से विद्यमान हैं। जमींदार अपनी जमींदारी के सर्वत्र रह सकते हैं, किन्तु अपनी बैठक में वे विशेष रूप से रहते हैं ॥ २० ॥

भक्ति के लक्षण

भक्ति का अर्थ है शरीर, मन, वाणी से उनकी सेवा, उनका भजन। पैदल चलकर मन्दिर में जाना और हाथ से उनकी पूजा करना होता है ॥ २१ ॥

गुणानां श्रवणं श्रुत्या नित्यं दृष्ट्यास्य दर्शनम् ।
मनसा चिन्तनं ध्यानं वाचा तद्गुणकीर्तनम् ॥ २२ ॥

भक्तः प्रदर्शयेत्प्रेम नृत्यन् गायन् हसन् रुदन् ।
मनसा चिन्तयेल्लीलाम् वाचा संकीर्तयेद् गुणान् ॥ २३ ॥

शास्त्रोक्तकर्मसक्तस्य भक्तिर्वैधीति कथ्यते ।
'रागभक्ति'रिति ख्याता केवलं त्वनुरागतः ॥ २४ ॥

तावद्भक्तिरपक्वा स्याद् यावत्प्रेमा न जायते ।
दृढानुरागपूर्वा सा प्रथिता पक्वनामतः ॥ २५ ॥

कानों से उनके गुण-कीर्तन का श्रवण, आँखों से उनके रूप का दर्शन, मन में उनका ध्यान-चिन्तन तथा वाक्य से उनकी स्तव-स्तुति और गुणकीर्तन करना ही भक्ति के लक्षण हैं ॥ २२ ॥

भक्त नाचकर, गाकर, हँसकर, रोकर भगवान के प्रति अपने प्रेम का प्रदर्शन करते हैं। मन के द्वारा भक्त उनकी लीला को स्मरण करते हैं तथा वाक्य के द्वारा उनके गुणों का कीर्तन करते हैं ॥ २३ ॥

जो भक्त शास्त्रविहित पूजार्चनादिरूप उपासना करते रहते हैं, उनकी भक्ति को वैधी भक्ति कहते हैं और यदि ईश्वर के प्रति एकांत अनुराग रहे तो उसे राग-भक्ति कहते हैं ॥ २४ ॥

जब तक उनके प्रति प्रेम उत्पन्न न हो तब तक उस भक्ति को कच्ची भक्ति कहते हैं। और जब भगवान के प्रति दृढ़ अनुराग और प्रेम होता है तभी उस भक्ति को परिपक्व कहते हैं ॥ २५ ॥

कृष्णद्रव्यविशेषाक्ते काचखण्डे विशेत्स्फुटम् ।
फोटोछाया, परं द्रव्याभावे छाया न दृश्यते ॥ २६ ॥

दर्शनं पक्वभक्त्यैव तथा प्रेमेश्वरे भवेत् ।
स्त्रियाः पत्यौ, सुते मातुः, कृपणस्य धने यथा ॥ २७ ॥

सेवाभावो रागभक्त्या नासक्तिः स्वकुटुम्बके ।
'कर्मभूमिरयं लोक' इति बुद्धिः प्रजायते ॥ २८ ॥

मनुजैः सर्वदा कार्यमीशनामानुकीर्तनम् ।
तथा भक्तैः साधुभिश्च कार्यः सङ्गः पुनः पुनः ॥ २९ ॥

फोटोग्राफी के काँच पर यदि काले रंग का मसाला पोता हुआ रहे तो उस पर चित्र खिंच जाता है, किन्तु यदि वह मसाला न लगाया जाय, केवल सादा काँच रहे तो उस पर प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता अर्थात् भक्ति पोते हुए चित्तदर्पण में श्रीभगवान् प्रतिफलित होते हैं ॥ २६ ॥

पत्नी में पति के प्रति जैसा प्रेम है, पुत्र के प्रति माता का आकर्षण है तथा कृपण का धन के प्रति प्यार है उसी प्रकार परिपक्व भक्ति होने से ही ईश्वर के प्रति भक्त का प्रेम होता है और उनका दर्शन करने के लिए योग्यता-लाभ होता है ॥ २७ ॥

राग-भक्ति होने पर अपने परिवार के प्रति ईश्वर-बुद्धि से सेवाभाव आता है, किंतु उस समय माया की आसक्ति नहीं रहती। वैसी अवस्था में यह संसार कर्मभूमि है—ऐसी बुद्धि उत्पन्न होती है ॥ २८ ॥

निरंतर ईश्वर के नाम-गुण-कीर्तन करना मनुष्य का कर्तव्य है। और भक्त भी बार-बार साधुसंग करने की चेष्टा करें ॥ २९ ॥

अपेक्षते बालवृक्षो रक्षार्थमभितो वृतिम् ।
उक्षाणोऽजा मृगाश्चैव भक्षयन्त्यन्यथा क्षणात् ।। ३० ।।

भक्तियोगः

दासोऽहं तस्य भवतोऽहमभिमानोऽयमुत्तमः ।
अहं ते तादृशो भक्तः नास्तीशस्यागमाय सा ।। ३१ ।।

आदरः सर्वमार्गेषु क्वचित्सवितर्विशेषतः ।
'निष्ठा भक्ति'रिति ख्याता यथा रामे हनूमतः ।। ३२ ।।

गोकुलस्थे यथा कृष्णे निष्ठाभूद्गोपिकाहृदि ।
तादृशी द्वारकाधीशे नासीत्तस्मिन्महीक्षिति ।। ३३ ।।

छोटे पेड़ की रक्षा करने के लिए उसके चारों ओर टट्टर बाँध देना आवश्यक है, जिससे गाय, बकरे आदि जानवर उसे खा न जायँ ।। ३० ।।

भक्तियोग

'मैं भगवान का दास हूँ, मैं उनका भक्त हूँ' ऐसा अभिमान रहना अच्छा है । इस प्रकार के अहंभाव में कोई दोष नहीं है, बल्कि इससे ईश्वर लाभ में सहायता मिलती है ।। ३१ ।।

सभी धर्ममार्गों के प्रति सम्मान दिखाना चाहिए, किन्तु किसी विशेष मार्ग के प्रति अनुराग को निष्ठा-भक्ति कहते हैं । जैसे हनुमान के भीतर रामचन्द्र के प्रति अत्यत निष्ठा-भक्ति थी ।। ३२ ।।

गोकुल में रहते समय श्रीकृष्ण के प्रति गोपिनियों के हृदय में जैसी निष्ठा-भक्ति थी, किन्तु उनके द्वारिका चले जाने पर उनमें उनके प्रति वैसी भक्ति नहीं थी ।। ३३ ।।

देवरादीन् सती साध्वी सेवतेऽन्नजलादिभिः ।
पत्युः सेवा परं तस्या अतिशेतेऽन्यसेवनम् ॥ ३४ ॥

व्याकुलत्वेऽखिलैर्मार्गैः प्राप्यः प्रभुरसंशयम् ।
परं निष्ठा वरं प्रोक्ता भक्तिरव्यभिचारिणी ॥ ३५ ॥

निष्ठा तु सरला यद्वत् प्रकाण्डः सरलस्तरुः ।
नैकशाखतरोस्तुल्या वक्रा सा व्यभिचारिणी ॥ ३६ ॥

निष्ठावत्यः स्थिता गोप्यो वृन्दावनविहारिणि ।
पीताम्बरे वेणुकरे रूपे नान्यत्र कुत्रचित् ॥ ३७ ॥

सती पत्नी देवर, भसुर आदि परिवार के अन्य लोगों की अन्न-जल आदि के द्वारा सेवा करती है, किन्तु जिस ढंग से वह पति की सेवा करती है वैसी सेवा अन्य किसी की नहीं करती ॥ ३४ ॥

व्याकुलता रहने से सभी मार्गों के द्वारा ईश्वर-लाभ अवश्य होता है । किन्तु निष्ठारूप अव्यभिचारिणी श्रेष्ठ भक्ति रहनी चाहिए जिससे ईश्वर-लाभ सहज होता है ॥ ३५ ॥

चीड़ वृक्ष जैसे नीचे के अंश में शाखारहित अति लम्बा और सरल है, उसी प्रकार निष्ठा-भक्ति का भी सरल मार्ग है, किन्तु व्यभिचारिणी भक्ति अनेक शाखाओं वाले वृक्ष के समान टेढ़ी है अर्थात् उसमें अनेक प्रकार के भाव हैं ॥ ३६ ॥

वृन्दावनविहारी भगवान श्रीकृष्ण के प्रति गोपियाँ निष्ठावती थीं । पीतांबर पहने हुए वंशीधारी कृष्ण के बिना उनके अन्य किसी रूप के प्रति उनका प्रेम नहीं था ॥ ३७ ॥

राजवेषान्वितं कृष्णं मथुरायां विलोक्य ताः ।
तटस्थाः प्रोचुरन्योन्यमस्माकं तु न कोऽप्ययम् ॥ ३८ ॥

जपोपचारपूजोपवासतीर्थविलोकनैः ।
या भक्तिः क्रियते तस्य 'वैधी' भक्तिरितीरिता ॥ ३९ ॥

एतस्या जायते रागभक्तिरीश्वरलाभकृत् ।
संसारबुद्धिनाशेन यया पूर्णं मनः प्रभौ ॥ ४० ॥

'वैधी' भक्तिर्यथाऽऽयाति तथा यात्यपि सत्वरम् ।
'रागभक्ति'र्ध्रुवा तिष्ठेत् पूर्वकर्मफलात्मिका ॥ ४१ ॥

गोपियाँ मथुरा में राजवेषधारी कृष्ण को देखकर कुछ दूर हट कर आपस में कहने लगीं—"यह हमारे कोई नहीं हैं।" क्योंकि गोकुल के कृष्ण के प्रति ही उनकी निष्ठा भक्ति थी । ३८ ॥

जप, विविध उपचारों से पूजा, उपवास, तीर्थगमन आदि शास्त्रोक्त कर्मों के द्वारा जो ईश्वर के प्रति भक्ति की जाती है, उसे वैधी भक्ति कहते हैं ॥ ३९ ॥

इस वैधी भक्ति से क्रमशः रागभक्ति उत्पन्न होती है, उससे ईश्वर-लाभ अवश्य होता है। इससे लोगों की संसारासक्ति नष्ट होकर मन ईश्वर में संलग्न होता है ॥ ४० ॥

जप, उपवास आदि शास्त्रोक्त कर्म के द्वारा जो वैधी भक्ति उत्पन्न होती है, वह शीघ्र होती है और शीघ्र चली भी जाती है। किन्तु पूर्व-जन्मकृत कर्मों की सुकृति के फलस्वरूप जो रागभक्ति उत्पन्न होती है वह अटल होती है ॥ ४१ ॥

रागवान्न वदेत्क्वापि "जपहोमादिकं मया।
चरितं निष्फलं सर्वं" परमीश्वरमाश्रयेत् ॥ ४२ ॥

वंशगतां कृषिं यद्वत् कृषको नफलां त्यजेत्।
भक्तोऽनुरागवांस्तद्वत् प्रभुं केवलमाश्रयेत् ॥ ४३ ॥

रागीश्वराय सततं करोत्यात्मसमर्पणम्।
योगक्षेमभरं सोऽपि तस्य गृह्णाति नित्यशः ॥ ४४ ॥

न त्यजेद्रोगिणं वैद्यो जनको वा स्वमात्मजम्।
सानुरागं परेशोऽपि तद्वदात्मकरे धृतम् ॥ ४५ ॥

ईश्वर के प्रति राग-भक्ति-सम्पन्न व्यक्ति कभी नहीं कहेंगे कि मैंने आज तक जो नाम जप, होम आदि कर्म किए हैं, सभी निष्फल हो गये हैं। वे केवल ईश्वर का आश्रय लेकर अवस्थित रहेंगे ॥ ४२ ॥

वंशगत कृषक जिस प्रकार किसी वर्ष फसल न होने पर भी कृषिकार्य नहीं छोड़ता वैसे ही रागात्मिका भक्ति में प्रतिष्ठित भक्त भी भगवान का दर्शन न मिलने पर भी ईश्वर-भक्ति नहीं छोड़ते ॥ ४३ ॥

रागभक्तियुक्त भक्त सदा भगवान में आत्म-समर्पण कर देते हैं। ऐसी अवस्था में भगवान भी उस भक्त के योगक्षेम का भार लेते हैं ॥ ४४ ॥

उत्तम चिकित्सक जिस रोगी का भार लेते हैं रोगमुक्ति न होने तक उसका परित्याग नहीं करते अथवा जिस प्रकार पिता छोटे पुत्र का सारा भार ले लेते हैं, उसी प्रकार श्रीभगवान भी अनुरागी भक्त का हाथ पकड़कर उसकी रक्षा करते हैं, वह कभी उसे नहीं छोड़ते ॥ ४५ ॥

पूजाहोमादिकं व्यर्थमनुरागो यदीश्वरे।
तावद्धि व्यजनापेक्षा यावद्वातो न वात्यलम् ॥ ४६ ॥

स्वतः सिद्धा रागभक्तिः केषाञ्चिदपि बाल्यतः।
एते रुदन्तीश्वरार्थं प्रह्लादप्रमुखा यथा ॥ ४७ ॥

भक्तास्तु त्रिविधाः प्रोक्ता उत्तमाधममध्यमाः।
उत्तमास्तत्र पश्यन्ति सर्वं प्रभुमयं जगत् ॥ ४८ ॥

हृदये मध्यमस्त्वायमन्तर्यामितया स्थितः।
अधमो निर्दिशेदीशं करेणाकाशसंस्थितम् ॥ ४९ ॥

गुरोर्वाक्ये स्थितं चित्तं धारणाशक्तिरुत्तमा।
इन्द्रियाणां जयो योग्यभक्तानां लक्षणत्रयम् ॥ ५० ॥

यदि भगवान के प्रति यथार्थ अनुराग रहता है तो पूजा, होम आदि का कोई प्रयोजन नहीं रहता। जब तक वायु प्रवाहित न हो, तब तक ही पंखे की आवश्यकता है ॥ ४६ ॥

किसी-किसी भक्त के हृदय में बचपन से ही रागभक्ति स्वाभाविक रूप से ही रहती है, ऐसे भक्त भगवान के लिए व्याकुल होकर सदा रोते रहते हैं। प्रह्लाद आदि ऐसे ही भक्त थे ॥ ४७ ॥

उत्तम, मध्यम और अधम—ये ३ प्रकार के भक्त हैं। उनमें उत्तम भक्त संसार को ईश्वरमय देखते हैं। अर्थात् वही सब कुछ बने हैं ॥ ४८ ॥

मध्यम श्रेणी के भक्त कहते हैं कि भगवान अन्तर्यामी रूप से हृदय में विराजमान हैं और अधम श्रेणी का भक्त ईश्वर को आकाश में स्थित कह कर हाथ से दिखा देता है ॥ ४९ ॥

भक्तों में तीन प्रकार के लक्षण हैं। गुरुवाक्य में विश्वास, उत्तम धारणा-शक्ति और इंद्रिय पर विजय ॥ ५० ॥

भक्तानां न जातिभेदः

शुद्धात्मदेहहृदया भक्ताः सन्त्यतिजातयः ।
शूद्रो भक्तोऽप्यशूद्रः स्यादभक्तो ब्राह्मणोऽद्विजः ॥ ५१ ॥

अशुचिर्वा शुचिर्वेति न जातिर्विद्यते क्वचित् ।
भक्त्याऽव्यक्तेः शुचित्वं स्याद् यां विना त्वशुचिः पुमान् ॥ ५२ ॥

भक्तिप्रकाराः

निष्ठामनुसरेद्भक्तिर्भक्तिः पक्वैति भावताम् ।
भावस्यापि घनीभूतो महाभावत्वमाप्नुयात् ॥ ५३ ॥

अन्ते प्रेमसमुत्पत्तिः प्रेमपाशसमं विदुः ।
येन बद्धः प्रभुर्भक्तैः स्यात्पलायितुमक्षमः ॥ ५४ ॥

भक्तों में जातिभेद नहीं है

जिन भक्तों के शरीर, हृदय और मन शुद्ध हैं वे जातिभेद से परे हैं । भक्ति न करने पर ब्राह्मण ब्राह्मण नहीं है और भक्ति रहने से शूद्र भी शूद्र नहीं है ॥ ५१ ॥

कोई जाति अपवित्र और कोई जाति पवित्र है, ऐसा नियम कहीं नहीं है । भक्ति से ही मनुष्य शुद्ध होता है और भक्ति न रहने से मनुष्य अपवित्र होता है ॥ ५२ ॥

भक्ति का प्रकार-भेद

निष्ठा के बाद भक्ति है । वह भक्ति परिपक्व हो तो भाव होता है और भाव घनीभूत होकर महाभाव में परिणत हो जाता है ॥ ५३ ॥

सबसे अन्त में प्रेम है, प्रेम रस्सी के समान है । भक्त के द्वारा उस प्रेम-पाश से भगवान के एकबार आबद्ध हो जाने पर वह भक्त को छोड़ कर भाग नहीं सकते ॥ ५४ ॥

न लभ्यः केवलं भक्त्या प्रेमभक्तिरपेक्ष्यते ।
इयं चाप्यनुरागात्मा भगवान् प्राप्यते यया ॥ ५५ ॥

उर्जितायां नरो गाननृत्यक्रन्दनतत्परः ।
"तत्रैवाहं स्थितोनित्यम्" रामो लक्ष्मणमब्रवीत् ॥ ५६ ॥

अहन्ता ममता चैवानुरागे लक्षणद्वयम् ।
"श्रीकृष्णस्य भवेत्कष्टं सेवास्माभिर्नचेत्कृता" ॥ ५७ ॥

अहन्तेयं, तथा कृष्णोऽस्माकमेवेति भावना ।
ममतोक्ता यथा सोऽभूद्गोपीहृदयवल्लभः ॥ ५८ ॥

अपराऽहैतुकी भक्तिः प्रह्लादस्य यथाऽभवत् ।
सोऽब्रवीन्न धनं मानं शुद्धां भक्ति तु देहि मे ॥ ५९ ॥

साधारण वैधी भक्ति से भगवान-लाभ नहीं होता। उसके लिए प्रेम-भक्ति आवश्यक है। जब यह प्रेमभक्ति अनुराग में परिणत हो जाती है तो उससे भगवान को प्राप्त किया जा सकता है ॥ ५५ ॥

उर्जिता भक्ति में मनुष्य गाना गाता है, नाचता है, रोता है। (इस उर्जिता भक्ति का लक्षण) रामचन्द्र ने लक्ष्मण को बताया था—(जहाँ उर्जिता भक्ति देखोगे) वहीं मैं विराजमान हूँ—ऐसा जानना ॥ ५६ ॥

अनुराग के दो लक्षण हैं—अहंता और ममता। (गोपियाँ सोचती थीं) 'यदि हम श्रीकृष्ण की सेवा न करें तो उन्हें कष्ट होगा।' यह अहंता भाव है और 'कृष्ण हमारे ही हैं'—यह ममता भाव है। इन्हीं भावों से श्रीकृष्ण गोपियों के हृदय-वल्लभ भी हुए थे ॥ ५७, ५८ ॥

और एक प्रकार की अहैतुकी भक्ति है, जो प्रह्लाद में थी। उन्होंने कहा था—"हे भगवन्! मैं धन, मान नहीं चाहता, मुझे शुद्धा भक्ति दीजिए ॥ ५९ ॥

अहल्योक्तवती रामं "जन्म शूकरयोनिषु ।
वरं यदि भवेच्छुद्धा भक्तिस्त्वच्चरणाम्बुजे" ॥ ६० ॥

नारदोऽप्युक्तवान् रामं वरदानोद्यतं प्रभो ।
देहि भक्तिं यया मायामुग्धो न स्यां कदाप्यहम् ॥ ६१ ॥

अहैतुकीदृशी भक्तिः कामना-रहिता भवेत् ।
सर्वश्रेष्ठा तथा प्रेष्ठा सतामीश्वरकोटिका ॥ ६२ ॥

त्रिधा भक्तिः

भक्तिस्त्रिधा सात्त्विकी च राजसी तामसी तथा ।
सात्त्विकीं कोऽपि नावैति वर्जयित्वा तमीश्वरम् ॥ ६३ ॥

अहल्या ने रामचन्द्र से कहा था—"यदि शूकर-योनि में भी मेरा जन्म हो तो अच्छा है। केवल आपके चरणकमलों में शुद्धा भक्ति उत्पन्न हो" ॥ ६० ॥

जब भगवान रामचन्द्र नारद को वर देने के लिए उद्यत हुए तो नारद ने कहा था—"मुझे ऐसी भक्ति (वर) दीजिए जिससे आपकी भुवन-मोहिनी माया से मैं मोहित न होऊँ" ॥ ६१ ॥

यह अहैतुकी भक्ति ही निष्काम भक्ति है और यह सर्वश्रेष्ठ है। तभी वह प्रियतम है। ऐसी भक्ति केवल ईश्वरकोटि के भक्तों में ही है, जीव-कोटि के नहीं ॥ ६२ ॥

तीन प्रकार की भक्ति

भक्ति तीन प्रकार की है—सात्त्विक, राजसिक और तामसिक। अंतर्यामी ईश्वर के सिवाय अन्य कोई सात्त्विक भक्त को नहीं जान सकता ॥६३॥

नित्यं समीपमेवास्ते सात्त्विकस्येशदर्शनम् ।
अरुणोदयवेलायां यथा सूर्यस्य दर्शनम् ॥ ६४ ॥

"मां भक्तं प्रविजानीयात् लोक" इच्छति राजसः ।
तदर्थं भक्तिचिह्नानां कुरुते स प्रदर्शनम् ॥ ६५ ॥

तुल्यो हि तामसो भक्तो दृष्टो लुण्ठनकर्मिणाम् ।
बलाद्भक्तिं समाहन्ते, जगतां मातुरीदृशः ॥ ६६ ॥

आश्रयेज्जननीमेव शिशुरोतुर्यथानिशम् ।
तथैव सात्त्विको भक्तः प्रभुरेवावलम्बते ॥ ६७ ॥

ऐसे सात्त्विक भक्ति का उदय होने से भक्त को ईश्वर-दर्शन में विलम्ब नहीं होता है, जैसे अरुणोदय होने पर सूर्य-दर्शन में विलम्ब नहीं होता ॥ ६४ ॥

राजसिक भक्त के मन में ऐसी इच्छा होती है कि लोग मुझे देखें कि मैं भक्त हूँ। इस उद्देश्य में वे तिलक, माला आदि भक्ति-चिह्न धारण करते हैं ॥ ६५ ॥

तामस भक्त "हर-हर बम-बम" जोर से चिल्लाता हुआ जगन्माता से बलात् उसी तरह सब कुछ लूटता है जिस प्रकार डाकू लुटेरे हल्ला चिल्लाकर धन-दौलत लूट ले जाते हैं ॥ ६६ ॥

बिल्ली का बच्चा जिस प्रकार सदा अपनी माँ के ऊपर निर्भर रहता है, माँ मुँह में लेकर जहाँ ले जाती है उसीसे वह प्रसन्न रहता है, उसी प्रकार सात्त्विक भक्त सदा श्रीभगवान की इच्छा पर निर्भर रहता है, उसका अपनी चेष्टा या कर्तृत्व एकदम नहीं रहता ॥ ६७ ॥

सर्वथा प्रेमपूर्णोऽयम् भक्तस्तमवलम्बते ।
ब्रवीति च मया स्थेयं यथा स्थापयसि प्रभो ! ॥ ६८ ॥

दिव्यदृष्टैव स प्रेक्षो नेश्वरश्चर्मचक्षुषा ।
तत्कृपातो यथा पार्थो विश्वरूपं समैक्षत ॥ ६९ ॥

ज्ञानमार्गः कर्ममार्गः सन्त्यध्वानस्तथा परे ।
युगेऽस्मिन् दुष्कराः सर्वे सरला भक्तिपद्धतिः ॥ ७० ॥

इच्छामयः प्रभुर्भक्तं कुर्यादैश्वर्यसंयुतम् ।
यच्छेज्ज्ञानं तथा भक्ति, सच्चिदानन्ददर्शनम् ॥ ७१ ॥

भावो भक्तिस्तथा प्रेम, सर्वं सम्पत्स्यतेऽचिरात् ।
उत्थाने कुण्डलिन्यास्तु तत्र मुख्या कृपा प्रभोः ॥ ७२ ॥

भगवान सदा ही प्रेममय हैं। भक्त उनका अवलम्बन करके कहते हैं—"हे प्रभु ! आप जिस भाव में मुझे रखते हैं मैं उसी भाव में ही रहूँगा। ॥ ६८ ॥

भगवान चर्मचक्षुओं से दिखाई नहीं पड़ते। वह कृपा करके दिव्य चक्षु दें तभी वे दिखाई पड़ते हैं। अर्जुन को विश्वरूप दर्शन के समय श्रीकृष्ण ने उन्हें दिव्य चक्षु दिये थे, उन्हीं से अर्जुन विश्वरूप देख सके थे ॥ ६९ ॥

अपने कल्याण के लिए ज्ञानमार्ग, कर्ममार्ग आदि अनेक पथ हैं, किन्तु इस युग में अन्य सब पथ ही कठिन हैं, केवल भक्तिमार्ग ही सहज है ॥७०॥

इच्छामय भगवान चाहें तो भक्त को ऐश्वर्यवान कर सकते हैं। ज्ञान, भक्ति तथा सच्चिदानन्द का दर्शन भी करा सकते हैं ॥ ७१ ॥

कुंडलिनी शक्ति जाग्रत होने पर शीघ्र ही भाव, भक्ति और प्रेम लब्ध हो जाते हैं। यहाँ प्रभु की कृपा ही मुख्य है ॥ ७२ ॥

क्रन्दनं मातुरग्रे वेद बोधयेत्साखिलं ध्रुवम् ।
वेदवेदान्ततत्त्वानि योगं ज्ञानं यदिष्यते ॥ ७३ ॥

भक्तिः वैराग्यञ्च

शुद्धा भक्तिर्यदि स्वान्ते, नास्था देहधनादिषु ।
यशोमानसुखादीनि क्षणिकानीति बुद्धयते ॥ ७४ ॥

शरणागतभक्ताय सद्बुद्धि स प्रदास्यति ।
क्षुद्रबुद्धया न स ज्ञेयः, प्रस्थे किं प्रस्थपञ्चकम् ? ॥ ७५ ॥

जातं चेत्तीव्रवैराग्यमीश्वरस्य कृपावशात् ।
कामकाञ्चनतो मुक्त्या प्रभुसक्तो भवेन्नरः ॥ ७६ ॥

जगन्माता के निकट यदि व्याकुल होकर रोया जाय तो वेद, वेदांत का तत्व, योग, ज्ञान आदि जो कुछ माँगा जाय वे सब दे सकती हैं ॥ ७३ ॥

भक्ति और वैराग्य

यदि अन्तःकरण में शुद्धा भक्ति उत्पन्न हो तो शरीर, धन आदि किसी चीज पर आग्रह नहीं रहता। उस समय यश, मान, सुख आदि सभी क्षणिक अर्थात् अनित्य हैं, ऐसा ज्ञान होता है ॥ ७४ ॥

शरणागत भक्त को भगवान शुभ बुद्धि देते हैं। फलस्वरूप वह भगवान की भक्ति करता है। जिस बर्तन में १ किलो आता है, उसमें ५ किलो नहीं आ सकते, उसी प्रकार हमारी छोटी बुद्धि से उन्हें जाना नहीं जा सकता ॥७५॥

ईश्वर की कृपा से तीव्र वैराग्य उत्पन्न होने पर काम-कांचन में आसक्ति नहीं रहती और मनुष्य श्रीभगवान के प्रति अनुरक्त रहता है ॥ ७६ ॥

मातुः प्राणाः स्वपुत्रार्थं जायन्ते व्याकुलास्तथा ।
ईश्वरार्थं व्याकुलत्वं तीव्रवैराग्यनुच्यते ॥ ७७ ॥

मन्यते तीव्रवैराग्यः संसारः प्राणघातकः ।
कूपोऽयं, बन्धुवर्गश्च कृष्णसर्पसमः किल ॥ ७८ ॥

मन्दवैराग्यवान् ब्रूते "भवितव्यं भविष्यति" ।
कर्तव्यं केवलं नित्यं, तन्नामगुणकीर्तनम् ॥ ७९ ॥

प्रेम त्वलौकिकं वस्तु, यस्यास्ते लक्षणद्वयम् ।
देहात्मभावनानाशो जगद्विस्मरणं तथा ॥ ८० ॥

वनं वृन्दावनं मन्ये, सागरं यमुनानदीम् ।
इति चैतन्यदेवस्य श्रीकृष्णे प्रेमभावना ॥ ८१ ॥

अपने पुत्र के लिए माता का हृदय जिस प्रकार व्याकुल होता है, ईश्वर के लिए वैसी व्याकुलता होने से उसे तीव्र वैराग्य करते हैं ॥ ७७ ॥

जिसमें तीव्र वैराग्य होता है, उसके लिए यह संसार प्राणघातक कूप के समान है और बन्धु-बान्धव विषैले साँप के तुल्य हैं ॥ ७८ ॥

मन्दवैराग्ययुक्त व्यक्ति कहता है—जो होना होगा, वही हो। मैं केवल प्रतिदिन भगवान का नामगुणकीर्तन करता चलूँगा ॥ ७९ ॥

किन्तु ऐसी प्रेम एक असाधारण दुर्लभ वस्तु है, उस प्रेम के दो लक्षण हैं—प्रथम देहात्मबुद्धि का नाश और द्वितीय संसार का विस्मरण ॥ ८० ॥

श्रीकृष्ण के प्रति चैतन्यदेव में इतना प्रगाढ़ प्रेम था कि वन देखते ही उनमें वृन्दावन का उद्दीपन हो गया और समुद्र देख कर यमुना का स्मरण होते ही वह श्रीकृष्ण के भाव में विभोर हो गये ॥ ८१ ॥

मित्रत्रयं भ्रमत्प्राप्य, क्वचिद्घोरं वनान्तरम् ।
व्याघ्रं तत्र विलोक्याय चिन्तापरमभूत्परम् ॥ ८२ ॥

एकस्तत्राब्रवीद् 'आर्तनिःसहाया मृता वयम्' ।
द्वितीयः प्राह "मामैवमीश्वरं प्रार्थयामहे" ॥ ८३ ॥

तृतीयः प्रोक्तवान् "तस्मै न देयं कष्टमीदृशम् ।
सर्वेऽपि वृक्षमारुह्य रक्षां कुर्मः स्वयं वने" ॥ ८४ ॥

आद्यस्तत्र न जानाति "भगवान् रक्षकः स्वयम्" ।
मध्यमो ज्ञानवान्-"ईशः सृष्टिस्थित्यन्तकारणम्" ॥ ८५ ॥

अन्तिमस्य हृदि प्रेम योऽदेयं कष्टमुक्तवान् ।
प्रेमभक्तिरियं तस्य यस्या नास्त्युपमा क्वचित् ॥ ८६ ॥

तीन मित्र भ्रमण करते हुए किसी घोर जंगल में उपस्थित हुए । वहाँ एक बाघ देखकर वे अत्यन्त चिन्तित हो पड़े ॥ ८२ ॥

उनमें से एक ने कहा—"मित्र, हमलोग सहाय-संबलहीन हैं ऐसी अवस्था में हमें मरना पड़ेगा ।" दूसरे ने कहा—"ऐसी बात मत बोलो, आओ, हम लोग भगवान् से प्रार्थना करें ॥ ८३ ॥

तीसरा बोला—"भगवान् को इस भाव से कष्ट देना उचित नहीं है । आओ, हम सब पेड़ पर चढ़ कर इस जंगल में आत्मरक्षा करें ॥ ८४ ॥

इनमें से पहला व्यक्ति नहीं जानता था कि ईश्वर ही सबके रक्षक हैं । दूसरा व्यक्ति जानता है कि भगवान् ही सृष्टि, स्थिति और लय के कारण हैं ॥ ८५ ॥

तीसरे व्यक्ति के हृदय में भगवान् के प्रति प्रेम उत्पन्न हुआ था, इस कारण उसने कहा था कि ईश्वर को कष्ट देना उचित नहीं है । उसके इस प्रेम-भाव की तुलना कहीं नहीं है । वह श्रेष्ठ प्रेम है ॥ ८६ ॥

विवेको वैराग्यं हरिगुणगणाख्यानपरता,
रति सद्भिः सङ्गोऽविनुखमनिशं सत्यवचनम् ।
सपर्या साधूनां, हृदयमथ जीवेषु सदयं,
प्रभुप्रेम्णो मार्गे भवति सकलं लक्षणमिदम् ॥ ८७ ॥

इति श्रीरामकृष्णोपदेशसाहस्र्यां भक्तियोगोनाम
एकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

भगवान् के प्रति प्रेम होने पर भक्त के जीवन में ऐसे ही लक्षण प्रकाशित होते हैं—विवेक, विचार, वैराग्य, भगवान् के नाम में रुचि, ईश्वर के प्रति अनुराग, साधुसंग, सदा सत्य भाषण, साधुओं की सेवा तथा प्राणीमात्र के प्रति दया ॥ ८७ ॥

भक्तियोग नामक ग्यारहवाँ अध्याय समाप्त ।

योगतत्त्वम् नाम द्वादशोऽध्यायः

योगतत्त्वम्

गर्भे तिष्ठन् योगसंस्थोऽहमासम् जातोऽभवम् योगतो प्रच्युतोऽहम् ।
धात्रीहस्ताच्छिन्ननालः, परं तु मायाजालच्छेदनेऽलं कथं स्याम् ॥ १ ॥

कामकाञ्चनयोर्युग्मं, ज्ञातं मायाभिधानतः ।
तस्मिन् दूरीकृते सम्यक्, सफला योगसाधना ॥ २ ॥

जीवशिवयोस्तुलना

चुम्बकः परमात्मास्ते, जीवः सूचीसमस्तथा ।
चेत्सूची चुम्बकाकृष्टा, योगोजीवपरात्मनोः ॥ ३ ॥

योगतत्त्व

जब मैं माता के गर्भ में रहा, तब मैं योगस्थ था। भूमिष्ठ होने पर मैं उस योगावस्था में विच्युत हो गया। धाय ने मेरी नाभि का नाल काट दिया, किन्तु इस संसार के मायाजाल को मैं कैसे काटूँगा ? ॥ १ ॥

काम और कांचन—ये दो ही माया हैं। मन से इन दोनों को पूर्णतया दूर कर देने से ही योगसाधन सफल होता है ॥ २ ॥

जीव और शिव की तुलना

परमात्मा चुम्बक पत्थर हैं और जीव सूई के समान है। जब जीव रूप सूई ईश्वर रूप चुम्बक के द्वारा आकृष्ट होता है तब जीव और परमात्मा का योग सम्पूर्ण होता है ॥ ३ ॥

पङ्कलिप्तां यथा सूचीं, नाकर्षेच्चुम्बकस्तथा ।
कामेन पङ्किलो जीवः, प्रभुणाऽऽकृष्यते कथम् ? ।। ४ ।।

दूरीकृतं पङ्किलत्वं व्याकुलत्वजलेन चेत् ।
आकृष्यते जीवसूची, प्रभुणा चुम्बकेन सा ।। ५ ।।

षट्चक्राणि सप्तभूमयः कुण्डलिनी

साधारणजनस्यान्तर्लिङ्गे गुह्येऽधिनाभि च ।
योगिनस्तु परं तेभ्यश्चैतन्यमयमूर्ध्वगम् ।। ६ ।।

साधनायां तु सिद्धायां कुण्डलिन्युत्थिता सती ।
मूलाधारमधिष्ठानं गच्छेन्मणिपुरं ततः ।। ७ ।।

यदि सूई कीचड़ से पोता रहे तो उसे चुम्बक आकर्षण नहीं कर सकता । इस प्रकार कामना-वासना के द्वारा आच्छन्न जीव को प्रभु कैसे आकर्षण करेंगे ।। ४ ।।

यदि व्याकुलता रूप जल से कीचड़ धो डाला जाय तो सूई रूप जीव को चुम्बक रूप ईश्वर आकर्षण कर लेते हैं ।। ५ ।।

षट्चक्र, सप्तभूमि, कुंडलिनी

साधारण मनुष्य का मन लिंग, गुह्य और नाभि इन तीन भूमियों में रहता है, किन्तु योगियों का मन इन तीनों अवस्थाओं के ऊपर चैतन्यमय अवस्था में रहता है ।। ६ ।।

साधना में सिद्ध होने पर कुंडलिनी ऊर्ध्वगामिनी होती है, और क्रमशः मूलाधार, अधिष्ठान तथा मणिपुर चक्र में जाती है ।। ७ ।।

एतानि त्रीणि पद्मानि समतिक्रम्य सा पुनः ।
हृदयेऽनाहते पद्मे तुर्यां भूमिं समाविशेत् ॥ ८ ॥

मूलाधारादिकेभ्योऽग्रे, मनोऽनाहतसङ्गतम् ।
चैतन्यमीक्षते ज्योतिः, साश्चर्यं किमिदं वदन् ॥ ९ ॥

इडा च पिङ्गला चैव, सुषुम्नेति च नाडिकाः ।
तिस्रः सन्ति नृदेहेऽस्मिन्, षट्पद्मसत्वन्तिमा युता ॥ १० ॥

मूलाधारं स्वाधिष्ठानं, मणिपूरमनाहतम् ।
विशुद्धं पञ्चमं पद्ममाज्ञाख्यं तत् ततः परम् ॥ ११ ॥

षट्चक्रमेतद्विख्यातं, सुषुम्नाभ्यन्तरे स्थितम् ।
सर्वं तच्चिन्मयं षट्कं, मूलाधारादिसंज्ञितम् ॥ १२ ॥

वह कुंडलिनी शक्ति इन तीन चक्रों को पार कर हृदय के अनाहत पद्म रूप चतुर्थ भूमि में प्रविष्ट होती है ॥ ८ ॥

मूलाधार आदि चक्रों को पार कर जब मन अनाहत चक्र में प्रविष्ट होता है, तब साधक को चैतन्यमय ज्योति का दर्शन होता है । ऐसी अवस्था में साधक आश्चर्यचकित होकर कहते हैं— कैसी अपूर्व ज्योति है ! ॥९ ॥

मनुष्य के शरीर में इडा, पिंगला और सुषुम्ना ये तीन नाड़ियाँ विद्यमान हैं । इनमें सुषुम्ना नाड़ी के भीतर दो कमल संयुक्त हैं ॥ १० ॥

वे छः चक्र ये हैं—मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, पंचम पद्म विशुद्ध और उसके ऊपर आज्ञा नामक चक्र ॥ ११ ॥

सुषुम्ना नाड़ी के भीतर ये छः चक्र प्रसिद्ध हैं । मूलाधारादि नामक सभी चक्रों के पद्म चिन्मय हैं ॥ १२ ॥

अधःस्थितं तु सर्वेषां, मूलाधारं चतुर्दलम् ।
अस्ति कुण्डलिनी तत्राद्या शक्तिः सुप्तसर्पवत् ॥ १३ ॥

उत्थितायामेव तस्यां, वासनामुक्तमान्तरम् ।
शक्तिः कुण्डलिनी सा च, योगोपायेन जागृयात् ॥ १४ ॥

उत्थितेयं कुण्डलिनी, सुषुम्नातो विनिर्गता ।
स्वाधिष्ठानादिकं भित्वा, शिरोमध्यं समाविशेत् ॥ १५ ॥

कुण्डलिन्या गतिश्चेयं महावायुगतिः श्रुता ।
सा पुत्तिका-भेक-सर्प-कपि-पक्षिगतैः समा ॥ १६ ॥

सभी चक्रों के निम्न भाग में चार दलों या पखड़ियों से युक्त मूलाधार चक्र विद्यमान हैं। इस मूलाधार चक्र में आद्या शक्ति निद्रित सर्प के समान अवस्थित है ॥ १३ ॥

यह कुण्डलिनी जागृत हो जाय तो सारी वासनाओं से मन मुक्त हो जाता है। इस कुण्डलिनी शक्ति को योग की साधना से जागृत करना उचित है ॥ १४ ॥

यह कुण्डलिनी शक्ति जाग्रत होकर सुषुम्ना से ऊपर को जाती है, उसके अनन्तर क्रमशः अधिष्ठान आदि चक्रों का भेदन कर मस्तक के सहस्रार में प्रविष्ट हो जाती है ॥ १५ ॥

कुण्डलिनी की गति को महावायु की गति कहते हैं। महावायु की वह गति चिवटे, मेंढक, साँप, बन्दर और पक्षी की गति की तरह होती है ॥ १६ ॥

चक्राणि भूमिसंज्ञानि, सन्त्येताः सप्त भूमयः।
समाधिः सप्तमे चक्रे सहस्रदलरूपिणि ॥ १७ ॥

मूलाधारं स्वाधिष्ठानं, मणिपूरमिदं क्रमात्।
चतुर्दलं षट्दलं चान्तिमं दशदलं तथा ॥ १८ ॥

चतुर्थं द्वादशदलं यदनाहतसंज्ञकम्।
विशुद्धं पञ्चमं कण्ठे यत्षोडशदलं भवेत् ॥ १९ ॥

आज्ञाचक्रं तु षष्ठं भ्रूमध्ये यद्द्विदलं भवेत्।
अधोमुखं पद्मजातमूर्ध्वास्यं जागृतो भवेत् ॥ २० ॥

कुण्डलिन्याः समुत्थानमनुभूतं मयाखिलम्।
मूलाधारात्सा क्रमेण सहस्रदलमाविशत् ॥ २१ ॥

इन चक्रों का दूसरा नाम भूमि है। वह भूमि सात प्रकार की है। सप्तम भूमि षट्चक्र से पृथक है। सहस्रार में सहस्रदल कमल रूप इस सप्तम भूमि में मन के पहुँचने से समाधि होती है ॥ १७ ॥

मूलाधार कमल चार दलों वाला, अधिष्ठान छः दलों वाला, मणिपुर दस दलों वाला है ॥ १८ ॥

अनाहत नामक चतुर्थ भूमि या चक्र में द्वादश-दल कमल है, कंठदेश में पञ्चम विशुद्ध नामक कमल षोडश दलों वाला है ॥ १९ ॥

भ्रूमध्य-स्थित षष्ठ भूमि में आज्ञाचक्र नामक द्विदल कमल है, पहले ये कमल मुद्रित ओधमुख रहते हैं, किन्तु कुण्डलिनी शक्ति जागृत होने पर वे ऊर्ध्वमुख होकर खिल जाते हैं ॥ २० ॥

इस कुण्डलिनी का समुत्थान मैंने पूर्ण रूप से अनुभव किया है। मूलाधार चक्र से वह क्रमशः ऊपर की ओर शब्द करते हुए मस्तक-स्थित सहस्रदल कमल में प्रविष्ट हो गयी थी ॥ २१ ॥

तत्सहस्रदलं शीर्षे, सप्तमं चान्तिमं स्थितम्।
यत्र कुण्डलिनी प्राप्ता समाधेः कारणं भवेत् ॥ २२ ॥

आज्ञाचक्रे षष्ठभूमौ, कुण्डलिन्यागता यदि।
ईशस्य दर्शनं शक्यं व्यवधानयुतं तु तत् ॥ २३ ॥

शिवस्तु सच्चिदानन्दः, सहस्रदलसंस्थितः।
तेनैकतां समाप्नोति, शक्तिः कुण्डलिनी स्वयम् ॥ २४ ॥

उत्थाने कुण्डलिन्यास्तु लुप्यते भोगवासना।
कथाप्यैहिकवस्तूनां शिरःशूलकरी भवेत् ॥ २५ ॥

मस्तक-स्थित वह सहस्रदल कमल सप्तम या अन्तिम भूमि है। सारे चक्रों का भेदन कर कुण्डलिनी के इस स्थान में आने पर ही समाधि होती है ॥ २२ ॥

षष्ठ भूमि आज्ञाचक्र (द्विदल कमल) में कुण्डलिनी के आने पर ईश्वर का रूप-दर्शन होता है, किन्तु आज्ञाचक्र और सहस्रार में थोड़ा व्यवधान रहने से षष्ठभूमि में समाधि नहीं होती ॥ २३ ॥

सप्तम भूमि में सहस्रदल कमल में सच्चिदानन्द शिव विराजमान हैं। षट्चक्र का भेदन होने पर कुण्डलिनी शक्ति सहस्रार में जाकर सच्चिदानन्द शिव से मिल जाती है ॥ २४ ॥

कुण्डलिनी का जागरण होने पर विषयभोग की वासना नष्ट हो जाती है। उस समय सांसारिक विषयों की बात सुनने से सिरदर्द की तरह कष्ट होता है ॥ २५ ॥

मनः सहस्रारगतं न बाह्यं भवति क्वचित् ।
देहरक्षाऽसमर्थं तद् दुग्धस्यापि च्युतिर्मुखात् ॥ २६ ॥

स्थितिमेतामितो योगी, चन्द्रनेत्रदिनान्तरे ।
मृत्युमेति, परं कोऽपि, लोकार्थमिह तिष्ठति ॥ २७ ॥

कल्याणार्थं त्वीशकोटिर्भक्तस्याहं स रक्षति ।
तस्याहं स न दोषाय भिन्नोऽहङ्कारतो यतः ॥ २८ ॥

कुण्डलिन्या विनोत्थानं पूर्णज्ञानमसम्भवम् ।
प्राप्ते तु सप्तमे चक्रे समाधिर्निश्चितो भवेत् ॥ २९ ॥

सहस्रार में मन के प्रविष्ट होने पर समाधिस्थ अवस्था में बाहरी ज्ञान नहीं रहता । उस समय देहरक्षा की शक्ति भी नहीं रहती । मुख में दूध देने पर भी वह मुख से बाहर गिर जाता है ॥ २६ ॥

इस अवस्था में आने पर २१ दिनों के भीतर ही योगी का शरीर छूट जाता है, किन्तु कोई-कोई अर्थात् ईश्वर-कोटी के योगी लोककल्याण के लिए शरीर की रक्षा कर सकते हैं ॥ २७ ॥

ईश्वर लोककल्याण के लिए इस प्रकार के भक्तों का विद्या का अहं-भाव रख देते हैं । उनका यह अहं-भाव दोषप्रद नहीं है, क्योंकि साधारण अहंकार से वह भिन्न है ॥ २८ ॥

कुण्डलिनी शक्ति का जागरण न होने से पूर्ण ज्ञान होना असम्भव है । कुण्डलिनी जाग्रत होकर सप्तमभूमि अर्थात् सहस्रार में पहुँचने पर साधक को समाधि अवस्था प्राप्त होती है ॥ २९ ॥

मार्गभेदः

कर्ममार्गो ज्ञानमार्गो मार्गोऽयं द्विविधो मतः ।
येन केनापि मार्गेण, साध्या जीवशिवैकता ।। ३० ।।

आश्रमेषु स्थिता ये स्युर्ब्रह्मचर्यादिषु क्रमात् ।
कर्ममार्गो भवेत्तेषां, कामनाशून्यतां गतः ।। ३१ ।।

सन्न्यासिनस्त्यक्तकाम्यकर्माणः कामनां विना ।
कुर्वन्तु देहयात्रार्थं भिक्षाचर्यादिकानि ते ।। ३२ ।।

न बाह्यं लक्षणं किञ्चित्, ज्ञानमार्गानुसारिणाम् ।
एषां निकेतशून्यानाम् केवलं योग आन्तरः ।। ३३ ।।

मार्गभेद

कर्ममार्ग और ज्ञानमार्ग ये दो पृथक् मार्ग हैं । इनमें किसी एक मार्ग के द्वारा जीव और शिव की एकता सिद्ध हो सकती है ।। ३० ।।

जो लोग ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य आदि जीवन का आवलम्बन करके गृहस्थी में रहते हैं उनके लिए कर्ममार्ग है । किन्तु कर्म कामना-रहित होकर करना चाहिए ।। ३१ ।।

संन्यासी भी काम्य कर्म त्याग करें, यहाँ तक कि भिक्षाचर्या आदि नित्यकर्म भी वे अनासक्त होकर करें ।। ३२ ।।

ज्ञानमार्ग के अनुसरण करनेवालों को कोई बाहरी चिह्न नहीं रहता । वे निराश्रय अवस्था में रहकर अन्तर में योगसाधन करते हैं ।। ३३ ।।

कर्मशून्या भवन्त्येते श्रवणे मनने रताः ।
यथान्तर्योगिनावास्तां शुकश्च भरतो जडः ॥ ३४ ॥

त्यागः परमहंसानामेतेषां कर्मणां भवेत् ।
यदि कर्मप्रवृत्तिः स्याल्लोकसंग्रहहेतवे ॥ ३५ ॥

कर्मणा ज्ञानतो वापि, योगो भवति भक्तितः ।
भक्त्या स्वयं कुम्भकः स्याद् येनैकाग्रं मनो भवेत् ॥ ३६ ॥

कुम्भकः स्थिरता वायोर्वायुस्थैर्यान्मनः स्थिरम् ।
निश्चलत्वं तथा बुद्धेः कल्पते योगसिद्धये ॥ ३७ ॥

ये लोग सब प्रकार के कर्मों का त्याग करने वाले हैं और श्रवण, मनन में निरत रहते हैं। शुकदेव, जड़भरत आदि इसी श्रेणी के आन्तर योगी थे ॥ ३४ ॥

ऐसे परमहंसों के कर्मों का त्याग अपने आप हो जाता है। यदि वे कभी कर्म में प्रवृत्त होते हैं तो केवल लोककल्याण के लिए, उन्हें अपना कोई प्रयोजन नहीं है ॥ ३५ ॥

कर्ममार्ग या ज्ञानमार्ग में योगसिद्धि भक्ति अर्थात् अनुराग होने से ही सम्भव है। भक्ति से कुम्भक अपने से ही होता है। अर्थात् भक्ति से ही मन एकाग्र होता है—बुद्धि भी स्थिर हो जाती है ॥ ३६ ॥

प्राण-वायु के स्थिर होने से कुम्भक होता है, और उससे मन भी स्थिर हो जाता है तथा बुद्धि भी निश्चल होती है। फलस्वरूप योगसिद्धि मिलती है ॥ ३७ ॥

मनसश्चञ्चलत्वे तु योगसिद्धिर्न जायते ।
मनो वशे योगिनः स्यान् न योगी मनसो वशे ।। ३८ ।।

भक्त्यैकतानता सिद्ध्येत्ततो वायुः स्थिरीभवेत् ।
ततो मौनमयं योगः समाधिर्योगसिद्धितः ।। ३९ ।।

हठयोगस्यानिष्टता

देहाभिमानिनः सन्ति, हठयोगस्य साधकाः ।
नेतिधौतिक्रियासक्ता, आयुर्वृद्धिसमाकुलाः ।। ४० ।।

अत्र यत्नः शरीरार्थमष्टसिद्धिकृते तथा ।
दीर्घमायुर्लक्ष्यमेकं, न प्रयत्नः परेश्वरे ।। ४१ ।।

मन के स्थिर न होने से योगसिद्धि नहीं हो सकती । योगियों का मन वशीभूत रहता है, किन्तु वे कभी मन के वश में नहीं होते ।। ३८ ।।

भक्ति से एकाग्रता उत्पन्न होती है, उससे वायु स्थिर होती है और उसके अनन्तर मौन अवस्था आती है । इसी को योग कहते हैं । योग सिद्ध होने पर समाधिलाभ होता ।। ३९ ।।

हठयोग में अधिक अनिष्ट

हठयोगी अत्यन्त देहाभिमानी साधु हो जाते हैं । वे सदा नेति-धौती करते हैं और कैसे आयु की वृद्धि होगी, देह स्वस्थ सबल होगी, उसके लिए व्याकुल रहते हैं ।। ४० ।।

हठयोगी अष्टसिद्धि लाभ तथा शरीर को रखने की ओर ही अधिक मनोयोग देते हैं । उनका एकमात्र लक्ष्य आयु को बढ़ाना है, ईश्वर-लाभ की कोई चेष्टा नहीं है ।। ४१ ।।

राजयोगो भवेच्छ्रेयान् यस्य लक्ष्यं चतुर्विधम् ।
ज्ञानं प्रेम तथा भक्तिर्वैराग्यञ्च विशेषतः ॥ ४२ ॥

योगभ्रष्टः

योगभ्रष्टः पुनर्जातो भोगेच्छावासनावशात् ।
ईशमार्गं पुनर्गच्छेद् योगं चानुचरेत् पुनः ॥ ४३ ॥

मार्गेऽस्मिन्नीश्वरप्राप्तेरनिष्टा भोगलालसा ।
कामनायां स्थितायान्तु न मुक्तेः सम्भवः क्वचित् ॥ ४४ ॥

वाति संसारवातेऽस्मिन्, मनोदीपोऽतिचञ्चलः ।
तस्मिन् दीपे स्थिरीभूते, सफला योगसाधना ॥ ४५ ॥

हठयोग की अपेक्षा राजयोग उत्तम मार्ग है, जिसके लक्ष्य चार हैं—ज्ञान, प्रेम, भक्ति तथा वैराग्य का लाभ ॥ ४२ ॥

योगभ्रष्ट

भोग की वासना से योगी योगभ्रष्ट हो जाते हैं। उस प्रकार के योगभ्रष्ट व्यक्ति पूर्व जन्म की सुकृति के फलस्वरूप पुनः जन्मग्रहण करते हैं और उस नये जन्म में वे भगवान के लाभ के लिए साधना करते हैं ॥ ४३ ॥

ईश्वर-लाभ के इस साधनमार्ग में भोगवासना विशेष हानिकर है। जब तक कामना-वासना रहती है तब तक मुक्तिलाभ करना सम्भव नहीं है ॥ ४४ ॥

संसारासक्ति रूप वायु के प्रवाहित होने पर मन रूप दीपक अत्यन्त चंचल होता है। उस दीपक के स्थिर होने से योगसाधन सफल होता है ॥ ४५ ॥

अल्पसाधनया नोचेदीशलाभो भवेत्तव ।
हताशेन भवेः साधो ! धैर्यतः साधनां कुरु ॥ ४६ ॥

ईशचिन्तापरस्यापि या हठाद्भोगलालसा ।
सा योगभ्रष्टताबीजं क्वमुक्तिर्विषयेच्छया ॥ ४७ ॥

योगः क्षणमपीशेन, मुक्तिलाभाय कल्पते ।
प्रभाल्पदीपतोऽपि स्यादन्धकारावृते गृहे ॥ ४८ ॥

योगिनो यतचित्तस्येश्वरे लग्नं मनोऽनिशम् ।
स्वाण्डेष्वेव भृशं लग्ने, पक्षिणाभक्षिणी यथा ॥ ४९ ॥

अल्प साधना करके ईश्वर का दर्शन नहीं हुआ, इस कारण हताश मत हो । हे साधु, धैर्य से साधना करते चलो । समय पर ईश्वर-दर्शन अवश्य होगा ॥ ४६ ॥

ईश्वर-चिन्ता में डूबे रहने से भी मन में एकाएक भोगवासना आ सकती है, उससे मनुष्य योगभ्रष्ट हो जाता है । विषयवासना रहते मुक्ति असम्भव है ॥ ४७ ॥

क्षण भर के लिए भी भगवान के साथ मन का संयोग होने से क्रम मुक्तिलाभ हो सकता है । जैसे अल्प प्रकाश देनेवाले दीपक के प्रकाश से भी अन्धकाराच्छन्न घर का अन्धकार दूर हो जाता है ॥ ४८ ॥

अण्डे सेते समय जिस प्रकार चिड़िया की दृष्टि अपने अण्डों पर रहती है उसी प्रकार संयतचित्त योगी का मन ईश्वर के साथ सदा संलग्न रहता है ॥ ४९ ॥

शिवेन जीवमिलनं योगो, योगी तदाप्तये।
विषयेभ्यः समाकृष्य मनो देवे निवेशयेत् ॥ ५० ॥

अभ्येत्य निर्जनं स्थानमुपविष्टः स्थिरासने।
भवेदनन्यहृदयो, ध्यानचिन्तनतत्परः ॥ ५१ ॥

द्विविधाः साधवः

बहूदकाः कुटीस्थाश्च, साधवो द्विप्रकारकाः।
अलब्धशान्तयस्त्वाद्यास्तीर्थभ्रमणतत्पराः ॥ ५२ ॥

एकस्थानस्थिताश्चान्ये, शान्तचित्ताः स्थिरासनाः।
तीर्थैः प्रयोजनं तेषां, सानन्दानां न विद्यते ॥ ५३ ॥

शिव के साथ जीव का मिलन ही योग कहलाता है, उस योगावस्था को प्राप्त करने के लिए योगी मन को विषय से आकृष्ट करके भगवान के साथ संलग्न करें ॥ ५० ॥

निर्जन स्थान में जाकर स्थिर आसन में बैठकर एकाग्रचित्त से ध्यान और भगवान की चिन्ता करनी चाहिए ॥ ५१ ॥

द्विविध साधु

साधु दो प्रकार के हैं—बहूदक और कुटीचक। जो साधु तीर्थ भ्रमण करते हैं उनके मन में कभी शान्तिलाभ नहीं हुआ है। उन्हें बहूदक कहते हैं ॥ ५२ ॥

कुटीचक साधु शान्तचित्त होकर स्थिर आसन पर बैठनेवाले प्रायः एक ही स्थान में रहते हैं। वे भगवान की ध्यान-चिन्ता लेकर सदा आनन्द में रहते हैं। इस कारण उन्हें तीर्थभ्रमण का कोई प्रयोजन नहीं रहता ॥ ५३ ॥

ईशोद्दीपनहेत्वर्थं तस्य तीर्थाटनं क्वचित् ।
ईश्वरोद्दीपने जाते किम् तीर्थेन प्रयोजनम् ? ॥ ५४ ॥

यत्रास्ते मनसः शान्तिर्वासस्तत्रोचितः परम् ।
मनोबन्ध मनोमोक्षस्तद्गच्छद्यत्र नीयते ॥ ५५ ॥

अभ्यासेन योगसिद्धिः

पृथुकानां यथा कर्त्र्यां योगोऽभ्यासेन सिद्ध्यति ।
मुसलस्य प्रहारेऽपि हरन्त्याः पृथुकान् बहिः ॥ ५६ ॥

वह योगी यदि तीर्थभ्रमण में जाते हैं तो वह केवल भगवान की उद्दीपना लाभ के लिए । ईश्वर की उद्दीपना लाभ होने से वह फिर तीर्थाटन नहीं करते ॥ ५४ ॥

जहाँ मन में शान्ति रहे वहीं रहना उचित है । मन से ही बन्धन और मन से ही मुक्ति है । मन को जिस ओर ले जाओगे, वह वहीं जायगा ॥ ५५ ॥

अभ्यास से योगसिद्धि

चिवड़ा कूटते समय जो स्त्री हाथ से धान को उलट देती है, वह बहुत दिनों के अभ्यास के कारण उस प्रकार बहुत सावधान होती है । ऊपर से बार-बार मुसल का प्रहार होते रहने पर भी वह बहुत ही सावधानी के साथ गढ़े से चिवड़ा निकाल लाती है ॥ ५६ ॥

हस्तेनोलूखले शालीन् सारयन्ती पुनः पुनः ।
वार्तालापं च तनुते मूल्यार्थं क्रयिणा सह ।। ५७ ।।

स्नेहेनाङ्कगतं बालं लालयन्ती प्रयत्नतः ।
सर्वदा सावधानैवमास्ते पृथुककारिणी ।। ५८ ।।

शक्योऽस्ति विषयासक्तेस्त्यागोऽभ्यासस्य योगतः ।
अक्षाणां संयमश्चापि क्रोधादीनां जयस्तथा ।। ५९ ।।

कूर्मो यथात्मरक्षार्थं स्वान्यङ्गान्युपसंहरेत् ।
इन्द्रियाणि तथा योगी विषयेभ्यो निवर्तयेत् ।। ६० ।।

मायाजीवजगत्त्यागात् तद्वदोङ्कारसाधनात् ।
अनामरूपसल्लाभः समाधिस्तदनन्तरम् ।। ६१ ।।

वह स्त्री एक ही समय हाथ से धान उलट देती है, चिवड़ा खरीदने वालों के साथ बातचीत भी करती है और गोदी के बच्चे को प्यार भी करती है। वह स्त्री एक ही समय बहुत सावधानी से अनेक काम करती है। ।। ५७-५८ ।।

उस प्रकार अभ्यास करने से बार-बार मनको विषयासक्ति से विरत रखने से विषयासक्ति का परित्याग किया जा सकता है, इन्द्रियों को भी वशीभूत रखा जा सकता है और काम-क्रोध आदि रिपुओं पर विजय लाभ भी हो सकता है ।। ५९ ।।

जैसे कछुआ अपनी रक्षा के लिए अंग-प्रत्यंगों को भीतर खींच लेता है, उसी प्रकार योगी इन्द्रियों को विषयों से लौटा लावें ।। ६० ।।

माया, जीव भाव और जगत का त्याग तथा ओंकार की साधना करके नाम और रूप का नाश करने पर नामरूपातीत सच्चिदानन्द लाभ रूप समाधि हो सकती है ।। ६१ ।।

आकर्ण्योल्लोलशब्दं जलनिधिनिकटं यद्वदायान्ति मर्त्या
ऊर्ध्वं नाभेः समुत्थं स्वहृदयकमलेऽनाहते योगिवृन्दाः।
नादं श्रुत्वाह्यनन्तं तदवगमकृते सप्रयत्नास्तदानीं
नाहं न त्वं न चायं मनसि समुदिते ब्रह्मणोऽत्रापरोक्षम् ॥ ६२ ॥

इति श्रीरामकृष्णोपदेशसाहस्र्यां योगतत्त्वं नाम
द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

जिस प्रकार समुद्र की लहरों का शब्द सुनकर लोग उसके पास जाते हैं, उसी प्रकार नाभि-कमल के ऊपर अनाहत नामक प्रस्फुटित हृदय-कमल से उत्पन्न अनवच्छिन्न अनन्त नाद ध्वनि सुनकर योगी नाद ब्रह्म को जानने के लिए प्रयत्न करते हैं। उस समय मैं नहीं हूँ, तुम नहीं हो, यह नहीं है, जगत-संसार नहीं है ऐसा भाव अनुभूति में प्रतिष्ठित होने से ब्रह्म का अपरोक्ष-ज्ञान लाभ होता है ॥ ६२ ॥

श्रीरामकृष्णोपदेशाहस्री के योगतत्त्व नामक
द्वादश अध्यायः समाप्त हुआ ॥ १२ ॥

ध्यानतत्त्वं नाम त्रयोदशोऽध्यायः

ध्यानतत्त्वम्

पूजाया जपनं जपाद्वरतरं ध्यानं तथा ध्यानतो
भावो योग्यतरस्ततः समधिकः प्रेमा महाभावनम् ।
'चैतन्यस्य' हृदीदृशं समभवत्प्रेमैव भावो महान्
तेनेयं प्रभुबन्धनार्थमुदिता प्रेमैव रज्जुर्दृढा ॥ १ ॥

ध्यानं तु हृदये शक्यं सहस्रारेऽथवाम्बुजे ।
शास्त्रोक्तमेतद् द्विविधमादर्श-ध्यानमुच्यते ॥ २ ॥

ध्यातव्यं मानसे वापि गृहकोणे वनेऽथवा ।
सर्वत्र भगवानास्ते निर्जने तु विशेषतः ॥ ३ ॥

ध्यानतत्त्व

पूजा से जप श्रेष्ठ है, जप से ध्यान, ध्यान से भाव और उससे प्रेम या महाभाव उत्तम और भी अधिक श्रेष्ठ है। चैतन्य महाप्रभु के हृदय में इस प्रकार का प्रेम उत्पन्न हुआ था। इस कारण प्रेम रूप रज्जु भगवान को बाँधने के लिए अधिक दृढ़ है। क्योंकि भगवान प्रेम के वश हैं।। १ ॥

भगवान का ध्यान दो स्थानों में किया जा सकता है—हृदय में और सहस्रार-कमल में। शास्त्रों से इन दोनों को आदर्श ध्यान कहा गया है ॥ २ ॥

मन में, घर के कोने में या वन में ध्यान करना चाहिए अर्थात् इन स्थानों में ध्यान करने से शीघ्र मन की एकाग्रता होती है। भगवान सर्वत्र हैं सही, तो भी निर्जन स्थान में ध्यान करना उचित है ॥ ३ ॥

बलिना त्रिपदा भूमिर्वामनाय समर्पिता ।
त्रींल्लोकान् व्याप्य भूतात्मा स्थितस्तेनैष सर्वगः ॥ ४ ॥

तस्यैवेषा विराड्मूर्तिर्ध्यातुं सर्वत्र शक्यते ।
पवित्रं जाह्नवीतीरं तत्रत्यमखिलं शिवम् ॥ ५ ॥

शरीरं मृत्तिकापात्रम् मनोबुद्धीजलं भवेत् ।
सच्चिदानन्दमार्तण्डो जलेऽस्मिन् प्रतिबिम्बितः ॥ ६ ॥

ध्यानेन प्रतिबिम्बस्य बिम्बसूर्यो कृपावशात् ।
दृशोर्गोचरतामेति द्रष्टाचैति कृतार्थताम् ॥ ७ ॥

ध्यानेनास्य मनो याति संसारासक्तिशून्यताम् ।
पादपद्मे रतिस्तस्य नाशयेद्भोगवासनाम् ॥ ८ ॥

राजा बलि ने भगवान वामन को तीन पद भूमि का दान दिया था । सर्वभूतात्मक भगवान तीन पैरों से स्वर्ग, मर्त्य और पाताल व्याप्त करके अवस्थित हुए, अतः वे सर्वव्यापी हैं ॥ ४ ॥

उनके विराट् रूप का ध्यान किसी भी स्थान में बैठकर किया जा सकता है । जैसे कि गंगा का तीर पवित्र है और वहाँ के सभी मंगलमय हैं ॥ ५ ॥

हमारा शरीर मानो मिट्टी का कसोरा है, उसमें मन, बुद्धि जल के तुल्य हैं । उस जल में सच्चिदानन्द रूप सूर्य प्रतिबिम्बित हैं ॥ ६ ॥

ईश्वर की कृपा से उस प्रतिबिम्बित सूर्य का ध्यान करने से बिम्ब रूप सूर्य प्रत्यक्ष होता है और फलस्वरूप उसका द्रष्टा कृतार्थ हो जाता है ॥ ७ ॥

बिम्बरूप ईश्वर का ध्यान करने से ध्याता का मन संसारासक्तिशून्य हो जाता है, भगवान के चरणकमलों में अनुराग होने पर भोगवासना नष्ट हो जाती है ॥ ८ ॥

परस्त्री ध्यायतेऽम्बा चेत् पत्नी धर्मसहायिका ।
पशुभावस्तस्य नश्येद् देवभावस्य लाभतः ॥ ९ ॥

एकवारमनासक्तः संसारस्थोऽपि मानवः ।
त्यक्तदेहसुखापेक्षो जीवन्मुक्तवदाचरेत् ॥ १० ॥

ईश्वरैकविचारस्य ध्याननिष्ठस्य मानसम् ।
तैलधारासमं भाति त्यक्तान्याखिलभावनम् ॥ ११ ॥

उन्मीलितेक्षणो वापि वार्तासक्तोऽथवा परैः ।
शिरःस्थितेऽण्डजे वापि ध्यानसिद्धोऽविकारवान् ॥ १२ ॥

यदि श्रीभगवान का ठीक-ठीक ध्यान किया जाय तो परस्त्री माता के रूप में और पत्नी धर्मकार्य में सहायक रूप में ध्यान का विषय बनायी जाय तो देवभाव का लाभ और पशुभाव दूर हो जाता है ॥ ९ ॥

यदि एक बार मनुष्य का मन आसक्ति-शून्य हो जाय तो संसार में रहने पर भी वह देहसुख का त्याग करके जीवन्मुक्त की तरह आचरण कर सकता है ॥ १० ॥

केवल भगवान की चिन्ता और ध्यान में निमग्न व्यक्ति का मन अन्य भावनाओं का त्याग करके निरवच्छिन्न तैलधारा की तरह भगवान की ओर प्रवाहित होता है ॥ ११ ॥

जब साधक ध्यान में पूर्ण सिद्धिलाभ करते हैं तो वह अधिकारी अवस्था में अवस्थित होते हैं अर्थात् उनका चित्त किसी भी अवस्था में चंचल नहीं होता । खुले नेत्रों में भी ध्यान कर सकते हैं, बातचीत करते हुए भी ध्यान होता है । सिर पर भी पक्षी बैठने पर ध्यानसिद्ध व्यक्ति को उसका पता नहीं चलता ॥ १२ ॥

ध्यानस्य समयेऽत्यन्तं मग्नं भवतु मानसम् ।
लभ्यते रत्नजातं हि सिन्धौ तलनिमज्जनात् ।। १३ ।।

गभीरध्यानमग्नस्य स्याद्बाह्यज्ञानशून्यता ।
देहोपरि भुजङ्गस्याप्यारोहो नानुभूयते ।। १४ ।।

विषयेभ्यः समाकर्ष्य ध्यानमीशगतं मनः ।
अन्तर्मुखं तदा स्वान्तं पिहितद्वारसद्मनि ।। १५ ।।

आत्मभावना परमात्मभावना च

ध्यानारम्भे मनः कार्यमीशांघ्रियुगसंगतम् ।
हृदपद्मे भावयेदीशम् नित्यज्वलितदीपवत् ।। १६ ।।

ध्यान के समय मन अत्यन्त मग्न होना चाहिए । रत्नलाभ करने के लिए समुद्र के नीचे तक डूबना आवश्यक है ।। १३ ।।

गम्भीर ध्यान में मग्न व्यक्ति का मन बाहरी वस्तुओं के ज्ञान से शून्य हो जाता है । उस समय शरीर पर साँप चढ़ने पर भी ध्यानी को उसका अनुभव नहीं होता ।। १४ ।।

शब्द, स्पर्श आदि इन्द्रियों के बाहरी विषयों से मन को आकृष्ट करके श्रीभगवान के भीतर संलग्न करना ही ध्यान है । उस समय मन अन्तर्मुख हो जाता है, मानो उसे किसी घर के भीतर बन्द कर दिया गया है ।। १५ ।।

आत्मभावना और परमात्मभावना

मन को परमेश्वर के श्रीचरणयुगल में संलग्न रखना चाहिए । सदा प्रज्वलित दीप की तरह हृदयकमल में ईश्वर की चिन्ता करनी चाहिए ।। १६ ।।

दृष्टमात्रे यथा गोपे श्रीकृष्णस्मरणं ध्रुवम् ।
वाक्कीले दृश्यमाने वा स्मृतो न्यायालयो भवेत् ॥ १७ ॥

आत्मन्येवं चिन्त्यमाने स्मर्यते परमेश्वरः ।
विग्रहे दृश्यमाने तु स्मृतिसात् परामात्मनः ॥ १८ ॥

सागरः सच्चिदानन्दः सर्वतो जलसम्भृतः ।
समुद्रेऽत्रातिविस्तीर्णे त्वहं मत्स्य इव स्थितः ॥ १९ ॥

ईशाम्भोधावपारेऽस्मिन् अहं घटसमस्थितः ।
अम्भोऽनन्तं समुद्रान्तर्घटस्यान्तर्वहिर्जलम् । २० ॥

जिस प्रकार किसी अहीर को देखते ही श्रीकृष्ण याद आते है और किसी वकील को देखने से कचहरी की बात याद आती है ॥ १७ ॥

इसी प्रकार आत्मा की चिन्ता करते रहने से परमात्मा की स्मृति होती है। जैसे विग्रह देखते ही परमेश्वर का स्मरण होता है ॥ १८ ॥

श्रीरामकृष्ण देव ने अपनी साधनावस्था का वर्णन कर कहा है—उस समय मैं सोचता था कि समुद्र का जल जिस प्रकार सर्वत्र प्लावित हो जाता है, उसी प्रकार परमात्मा सर्वत्र व्याप्त होकर विराजमान हैं। मैं मानो उस विशाल चैतन्य-समुद्र में मछली की तरह विचरण कर रहा हूँ ॥ १९ ॥

इस अपार परमात्म-समुद्र में मैं मानो जलपूर्ण घट हूँ, समुद्र में जल अनन्त है, जिसमें रक्षित मैं रूप घट के भीतर और बाहर सर्वत्र ही जल है ॥ २० ॥

घटोऽहङ्कारतुल्योऽयं येनाम्भोभिन्नताभ्रमः।
घटे भग्ने कुतो भेदः केवलं शिष्यते जलम् ॥ २१ ॥

विस्तार्य पक्षिणः पक्षान् यन्त्यनन्ते सुखेन खे।
जीवपक्षी चिदाकाशे सानन्दोऽस्तु समुत्पतन् ॥ २२ ॥

शिवयोगः

सहजं न निराकारध्यानं, यत्र प्रलीयते।
दृश्यश्राव्यादिकं सर्वं केवलं स्वस्वरूपवित् ॥ २३ ॥

शिवयोगोऽयमाख्यातो यत्र ध्याता शिवः स्वयम्।
स्वरूपज्ञः सुखं नृत्यत्यहं किमिति चिन्तयन् ॥ २४ ॥

यह घट अहंकार के समान है, उससे ऐसा लगता है मानो घट का जल और समुद्र का जल पृथक् है। यदि घट फूट जाय तो भीतर बाहर के जल का भेद कहाँ रहता है ? केवल जल ही अवशिष्ट रहता है। अर्थात् अहंभाव के नष्ट हो जाने से जीवात्मा और परमात्मा मिलकर एक हो जाते हैं ॥२१ ॥

पक्षी अनन्त आकाश में पर फैला कर आनन्द से उड़ता रहता है, इसी प्रकार जीवरूप पक्षी चिदाकाश में आनन्द से उड़ता रहे ॥ २२ ॥

शिवयोग

निराकार का ध्यान सहज नहीं है, क्योंकि उसमें दृश्य श्रव्य आदि सारे विषय लय प्राप्त हो जाते हैं। उस समय केवल निज स्वरूप का ही ज्ञान बाकी रहता है ॥ २३ ॥

जिस ज्ञान में ध्याता स्वयं ही शिवरूप हो जाते हैं, 'उसे शिवयोग' कहते हैं। वे अपना शिव-स्वरूप जानकर 'मैं शिव हूँ' ऐसी चिन्ता करके आनन्द से नाचते हैं ॥ २४ ॥

कपालसक्तदृष्टिः सन् ध्यानकाले निरन्तरम् ।
परित्यजेज्जगत्सर्वं नेति नेतीति भावयन् ॥ २५ ॥

विष्णुयोगः

अन्तरर्धं बहिश्चार्धं पश्येन्नासाग्रलोचनः ।
विष्णुयोगोऽयमाख्यातः साकारध्यानपद्धतिः ॥ २६ ॥

शुद्धं वाङ्मनसोपाधिशून्यस्य ध्यानमुत्तमम् ।
उपाधिरहितं ब्रह्म परमेतत्सुदुष्करम् ॥ २७ ॥

ईश्वरोऽवतरत्येष शरीरे मानुषे स्वयम् ।
सहजं तत्र तद्ध्यानं नरे नारायणस्थितिः ॥ २८ ॥

शिवयोगियों के लिए ध्यान के समय ललाट पर दृष्टि को निबद्ध रखना चाहिए तथा नेति नेति करके सारे संसार की चिन्ता छोड़ देनी चाहिए ॥ २५ ॥

विष्णुयोग

नाक की नोक पर दृष्टि स्थिर करके आधी दृष्टि भीतर और आधी दृष्टि बाहर रखकर जो साकार ध्यान किया जाता है, उसे विष्णुयोग कहते हैं, यही साकारध्यान की पद्धति है ॥ २६ ॥

वाक्य और मन इन दोनों उपाधियों को छोड़कर भगवान का ध्यान विशुद्ध और उत्तम है। क्योंकि ब्रह्म सब प्रकार की उपाधियों से रहित हैं, किन्तु ऐसा ध्यान अत्यन्त कठिन है ॥ २७ ॥

ईश्वर मनुष्य शरीर धारण कर स्वयं ही अवतीर्ण होते हैं, उस समय साकार ध्यान सहज हो जाता है। मनुष्यों में नारायण की स्थिति जानकर उनका ध्यान करना सहज है ॥ २८ ॥

देहरूपावृतिस्तस्य दीपस्यावरणं यथा ।
कपाटपिहितं रत्नं यथा वा बहुमूल्यकम् ॥ २९ ॥

समये प्रार्थना

जनार्दनध्यानपरः सन्ध्यायां भव नित्यशः ।
ऋषयोऽपि यथा पूर्वं त्रिसन्ध्यं प्रार्थनापराः ॥ ३० ॥
संसारिणां यथाकालं तपःपूजाजपादिकम् ।
श्रवणं मननं चैव ध्यानायावश्यकं द्विकम् ॥ ३१ ॥
ईश्वरं वर्जयित्वा ये नान्यज्जानन्ति किञ्चन ।
श्वासोच्छ्वासक्रियायां ते तन्नामजपतत्पराः ॥ ३२ ॥

जिस प्रकार दीपक के ऊपर आवरण लगाया जाता है, उसी प्रकार ईश्वर के अवतार रूप भौतिक शरीर आवरण मात्र है। लालटेन के आवरण के भीतर से रोशनी जैसे बाहर निकलती है उसी प्रकार अवतार के भीतर से ईश्वर दृष्ट होते हैं या सन्दूक के दराजों के भीतर बहुमूल्य रत्न रखा जाता है॥ २९ ॥

समय से प्रार्थना

सुबह, दोपहर तथा शाम को अन्य सब काम छोड़कर रोज जनार्दन भगवान का ध्यान करना कर्तव्य है। जैसे कि प्राचीन समय में ऋषि लोग प्रतिदिन तीनों जून प्रार्थना करते थे ॥ ३० ॥

गृहस्थों को प्रतिदिन ठीक समय पर नियम से जप, पूजा आदि करना चाहिए। ध्यान करने के लिए श्रवण और मनन ये दोनों साधन भी अत्यन्त आवश्यक है ॥ ३१ ॥

जो लोग ईश्वर के सिवाय अन्य कुछ नहीं चाहते, वे निश्वास-प्रश्वास के साथ भगवान के नाम का जप करते हैं ॥ ३२ ॥

केचिद्भक्ता रामनाम्नोऽनिशं मानसिके जपे।
ज्ञानमार्गवतां योग्यः सोऽहमित्थं जपः परम् ॥ ३३ ॥

ध्यानकाले मनः कार्यं स्वेष्टपादाम्बुजद्वये।
बद्धं कौशेयदाम्नेव यदन्यत्र न तद्व्रजेत ॥ ३४ ॥

यदि बद्धं कठोरेण रज्जुना तत्सरोरुहम्।
कोमलं पीड़ितं तत्स्यात् तस्मात्कौशेयबन्धनम् ! ॥ ३५ ॥

न केवलं ध्यानकाले स्थाप्यं त्वस्मिन् मनोऽनिशम्।
यद्वद्दुर्गासपर्यायां दीपः प्रज्वालितः स्थितः ॥ ३६ ॥

जो लोग राम के भक्त हैं वे सदा राम नाम का जप मन में करते हैं, भक्तिमार्ग के अनुसरण करनेवालों के लिए सदा भगवान के नाम का जप करना चाहिए। किन्तु ज्ञानमार्गावलम्बियों के लिए सोऽहं जप ही श्रेष्ठ है ॥ ३३ ॥

ध्यान के समय मन को इष्ट देवता के दोनों चरणकमलों में लगा रखना चाहिए। जिससे मन इष्ट चिन्ता के सिवाय अन्य चिन्ता न करे। प्रेम रूप रेशम की सी कड़ी रस्सी से बंधे दोनों पैर अन्य कहीं चले न जायँ ॥ ३४ ॥

यदि उन पैरों को कड़ी रस्सी से बांधी जाय तो उन कोमल चरणों में दर्द हो सकता है। इस कारण प्रेम रूप रेशम के बन्धन की बात कही गयी है ॥ ३५ ॥

केवल ध्यान के समय ही उनकी चिन्ता करें और अन्य समय उनका स्मरण न करें ऐसी बात नहीं है, बल्कि हर समय उनकी चिन्ता करनी चाहिए। जैसे कि शारदीया दुर्गापूजा के समय दीपक जलाया रखा जाता है। वैसे ही देवता के सामने एक प्रकाशक ज्योति जलायी रखी जाती है वैसे ही इष्ट चिन्तारूप याग-प्रदीप जलाये रखना उचित है ॥ ३६ ॥

संसारकार्यलिप्तोऽयं भक्तः पश्येत्पुनः पुनः।
आभ्यन्तरः प्रदीपोऽयं ज्वलन्नेव स्थितो न वा ॥ ३७ ॥

ध्यानार्थं निर्मलं कार्यं वासनामलिनं मनः।
इष्टस्य पङ्किले स्थाने वासो न स्यात् सुखावहः ॥ ३८ ॥

ध्येयभेदो न कार्यः

यदिष्टं रोचते तुभ्यं ध्यातव्यं तत्त्वया सुखम्।
स्मरणीयं परं, व्यर्था ध्येयानां भेदकल्पना ॥ ३९ ॥

भक्त गृहस्थी के काम में लगे रहने पर भी बार-बार देखते रहें कि भीतर वह ध्यान दीपक जल रहा है या नहीं ॥ ३७ ॥

ध्यान के लिए वासनायुक्त मलिन मन को वासनायुक्त निर्मल करना आवश्यक है। इष्ट देवता को वासना-मलिन अपवित्र स्थान में निवास सुखकर नहीं हो सकता ॥ ३८ ॥

ध्येयों का भेद नहीं करना चाहिए

जिस इष्टदेवता की तुम भक्ति करते हो, उनका ध्यान आनन्द के साथ करना चाहिए। किन्तु याद रखना कि ध्येय देवताओं में भेद कल्पना निरर्थक है ॥ ३९ ॥

उमाधवो वास्तु रमाधवो वा दुर्गाऽथवा स्वेष्टतया चकास्तु ।
द्वेषो न कार्यो विविधानि रूपाण्यैकस्य सन्तीति विभावनीयम् ॥४०॥

इति श्रीरामकृष्णोपदेशसाहस्रयां ध्यानतत्त्वं नाम
त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

तुम्हारे इष्टदेव उमापति शिव, लक्ष्मीपति विष्णु या दुर्गादेवी ही क्यों हों, दूसरे देवताओं के प्रति विद्वेष भाव रखना उचित नहीं है। सभी एकमात्र भगवान के ही विभिन्न रूप हैं, ऐसी चिन्ता करनी चाहिए ॥ ४० ॥

श्री श्रीरामकृष्णोपदेशसाहस्री का ध्यानतत्त्व नामक
तेरहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ १३ ॥

भक्तलक्षणं नाम चतुर्दशोऽध्यायः

भक्तलक्षणम्

सत्यम्, सरलता, विश्वासः व्याकुलता च

सत्यम्

सत्ये स्थितः सन् सरलत्वमेति विश्वासयुक्तः सरलः पुमान् स्यात् ।
विश्वस्तचित्तः कुरुते प्रयत्नं यत्ने परा व्याकुलतेशलाभे ॥ १ ॥

अनेककार्येषु रतो गृहस्थश्चेत्सत्यमार्गसृतातान्तरोऽयम् ।
ईशानुकम्पाविषयो ध्रुवं स्यात् सत्यात्परं नास्ति कलौ तपोऽन्यत् ॥२॥

भक्त के लक्षण

सत्य, सरलता, विश्वास और व्याकुलता

सत्य

सत्यनिष्ठ भक्त का स्वभाव निष्कपट होता है। ऐसे व्यक्ति विश्वासी होते हैं। विश्वासी मनुष्य उद्योगपरायण होते हैं। सत्याश्रयी, प्रयत्नशील व्यक्ति के अन्तर में व्याकुलता आती है, तथा उस व्याकुलता से ईश्वरलाभ होता है ॥ १ ॥

अनेक प्रकार के कामों में लगा हुआ गृहस्थ यदि सत्यमार्ग का अनुसरण करता है तो वह अवश्य ही भगवान की कृपा का पात्र हो सकता है। इस कलियुग में सत्य की अपेक्षा श्रेष्ठ अन्य तप नहीं है ॥ २ ॥

स्वयं रक्षेज्जगन्माता सत्यानुसरणे रतम् ।
कदापि वचनं तस्य नान्यथा तत्कृपावशात् ॥ ३ ॥
समर्पणीयं सर्वस्वं स्वकं भगवते परम् ।
सत्यमेकं धनं श्रेष्ठं न समर्प्यं कदाचन ॥ ४ ॥

सरलता

विश्वासो न भवेदीशे स्वान्ते सरलतां विना ।
ईशोऽपि विद्यते दूरं विषयाणां विचारतः ॥ ५ ॥
मनो विषयसक्तानां नानासन्देहसङ्कुलम् ।
पाण्डित्यधनमानानामहङ्कारेण चाविलम् ॥ ६ ॥

जगन्माता स्वयं ही सत्यमार्ग का अनुसरण करने वाले व्यक्ति की रक्षा करती हैं। उनकी कृपा से उस भक्त का वाक्य कभी मिथ्या नहीं हो सकता ॥ ३ ॥

अपना शुभाशुभ कर्मफल भगवान को सौंप देना चाहिए; किन्तु सत्य रूप श्रेष्ठ धन का समर्पण कभी नहीं करना चाहिए। मैंने धर्माधर्म, पापपुण्य सब कुछ जगन्माता के चरणों में सौंप दिया था किन्तु सत्य का समर्पण नहीं कर सका ॥ ४ ॥

निष्कपटता

(अनेक जन्मों की सुकृति के फलस्वरूप सरलता या निष्कपटता आती है) हृदय में निष्कपट भाव न रहने पर ईश्वर के प्रति विश्वास नहीं आ सकता। विषय-चिन्ता करते रहने से ईश्वर भी दूर रहते हैं ॥ ५ ॥

विषयासक्त मनुष्य का मन अनेक प्रकार के संदेहों से पूर्ण रहता है। उसी प्रकार वह पाण्डित्य, धन, मान, अहंकार आदि से मलिन रहता है ॥ ६ ॥

क्व चैतन्यं क्व चापीशलाभो विषयबुद्धितः ।
चित्ते सरलताऽभावश्छद्मजीवनकारणम् ॥ ७ ॥

बालकाः सरलाः सन्ति योग्या निर्जलदुग्धवत् ।
तेषु यद्यनुरागोऽस्ति दृढतामेति स क्रमात् ॥ ८ ॥

जलशून्यस्य पयस्यः पायसं त्वरितं भवेत् ।
अन्यथा जलदाहार्थमेधोऽधिकमपेक्ष्यते ॥ ९ ॥

शुद्धपात्रे स्थापितं चेन्नायाति विकृतिं पयः ।
ज्ञानालोकः स्थिरे चित्ते सरले न तु पङ्किले ॥१०॥

पूर्वजन्मतपस्यायाः फलं सरलता ननु ।
ईश्वरोऽवतरेत्तत्र यत्रातिसरलं मनः ॥११॥

विषयबुद्धि के होते हुए चैतन्य और ईश्वर का लाभ कैसे हो सकता है ? अन्तःकरण में निष्कपट भाव का अभाव कपटमय जीवन का कारण है ॥ ७ ॥

छोटे बालक जल-रहित दूध के समान शुद्ध होते हैं, सरल होते है, उनमें उस वयस में अनुराग उत्पन्न होने पर वह क्रमशः दृढ़ होता है ॥ ८ ॥

जल-रहित दूध का खीर तुरन्त तैयार होता है, अन्यथा जल को सुखाने के लिए अधिक लकड़ियाँ जलानी पड़ती हैं ॥ ९ ॥

शुद्ध पात्र में रखने से दूध विकृत नहीं होता, सरल और स्थिर, पवित्र अन्तःकरण में ज्ञान का प्रकाश होता है, मलिन अन्तःकरण में वह नहीं होता ॥ १० ॥

पूर्वजन्म के तप के फलस्वरूप मनुष्य के मन में सरलता उत्पन्न होती है। जहाँ अत्यन्त सरल मन होता है, वहीं ईश्वर अवतीर्ण होते हैं ॥ ११ ॥

रामतातो दशरथो नन्दः कृष्णपिता तथा ।
सरलौ तावुभौ यत्तद् ईशस्तत्पुत्रतां गतः ॥१२॥

उपदेशो विशेच्छीघ्रं हृदयं सरलं यदि ।
कृष्टक्षेत्रे यथाबीजमुप्तं फलति सत्वरम् ॥१३॥

वक्रचित्तो दाम्भिकश्च संशयात्मा च यः पुमान् ।
ज्ञानानर्हा भवन्त्येते प्रभुलाभस्तु दूरतः ॥१४॥

विश्वासः

नास्तीशलाभसिद्ध्यर्थं विश्वासात्साधनं परम् ।
प्रार्थ्यः स भगवान् ! देहि विश्वासं भक्तिमेव च ॥१५॥

रामचन्द्र के पिता दशरथ और कृष्ण के पिता नन्द दोनों ही निष्कपट व्यक्ति थे। इस कारण भगवान उनके पुत्र होकर जन्मे थे ॥ १२ ॥

हृदय सरल हो तो उपदेश शीघ्र वहाँ प्रविष्ट हो सकता है। जैसे खेत अच्छी तरह जोत कर उसमें बीज बो देने से शीघ्र ही अन्न उत्पन्न होता है ॥ १३ ॥

कपट, घमण्डी, विश्वास-रहित व्यक्ति ज्ञानप्राप्ति के अयोग्य हैं, ईश्वर-लाभ तो दूर की बात है ॥ १४ ॥

विश्वास

ईश्वर का लाभ करने के लिए विश्वास के सिवाय अन्य कोई श्रेष्ठ साधन नहीं है। भगवान से ऐसी प्रार्थना करनी चाहिए कि—"हे भगवन् ! मुझे विश्वास और भक्ति दीजिए" ॥ १५ ॥

बबन्ध सेतुं जलधौ रामो नारायणोऽपि सन् ।
रामनाम्नि तु विश्वासाल्ललङ्घेऽब्धि कपीश्वरः ॥१६॥

विश्वासो बालवत्कार्यो येनेशेन समागमः ।
विश्वासेन मनो देवस्यानुकम्प्यं प्रजायते ॥१७॥

कस्यापि कर्मणः पूर्वं विश्वासो ह्यपेक्ष्यते ।
मनो भवति सानन्दं प्राप्य वस्तुविचारतः ॥१८॥

सुवर्णकलशो भूमेरधः स्थित इति श्रुते ।
केवलं कलशध्यानं प्रथमं मोदकारणम् ॥१९॥

साक्षात् नारायण होने पर भी श्रीरामचंद्र को लंका पहुँचने के लिए समुद्र पर पुल बाँधना पड़ा था, किन्तु राम नाम में अत्यन्त विश्वास रहने के कारण हनुमान समुद्र लाँघ गये थे ॥ १६ ॥

बालक की तरह विश्वास करना चाहिए, जिससे भगवान के साथ मिलन हो सके। विश्वास से ईश्वर का मन कृपा-परायण होता है ॥ १७ ॥

कोई भी कार्य करना हो तो पहले हृदय में विश्वास या आस्तिक्य-बुद्धि रखना आवश्यक है। तब अभिलषित वस्तु की चिन्ता से मन आनन्द से पूर्ण होता है ॥ १८ ॥

किसी स्थान की जमीन के भीतर एक मोहर-भरा घड़ा गाड़ा हुआ है, इस बात को सुनकर उस घड़े के विषय में निरन्तर चिन्ता करते रहने से मन में आनन्द होता है ॥ १९ ॥

द्वितीयं खनने शब्दः 'ठ'नित्यं कुरुते मुदम् ।
ततो घटमुखे दृष्टिर्घटे मुद्रास्ततः परम् ॥२०॥

दृढ़ो मातरि विश्वासो निर्भयं कुरुते जनम् ।
कार्यं न विद्यते किञ्चिन् माता सर्वं करिष्यति ॥२१॥

साक्षादीशं गुरुं मत्वा विश्वासस्तद्वचस्सु चेत् ।
न चिन्ता विद्यते कापि यथा भावस्तथा फलम् ॥२२॥

यथा यथा स्याद् विश्वासो ज्ञानवृद्धिस्तथा तथा ।
धेनोर्न्यूनाधिकं दुग्धं लभ्यं खाद्यप्रमाणतः ॥२३॥

उसके बाद वह मनुष्य उस घड़े को पाने के लिए जमीन खोदने लगता है। एक बार उस घड़े के साथ फावड़े का आघात लगने पर 'ठन' सा शब्द होता है, उससे आनन्द और भी बढ़ता है। उसके अनन्तर उस घड़े का मुँह दिखाई पड़ने से और भी अधिक आनन्द होता है। उसके बाद घड़े के भीतर मोहरों को देखने पर आनन्द की सीमा नहीं रहती ॥ २० ॥

जगन्माता के प्रति दृढ़ विश्वास मनुष्य को निर्भय कर देता है। उस समय कोई काम नहीं रह जायगा। जगन्माता ही सब कुछ कर देंगी। इस विश्वास से वह भक्त उनपर पूर्ण निर्भर-शील हो जाता है ॥ २१ ॥

गुरु को साक्षात् ईश्वर समझ कर यदि उनकी बात पर विश्वास किया जाय तो मनुष्य को कोई चिन्ता ही नहीं रहती, जैसा भाव है, वैसा ही फल मिलता है ॥ २२ ॥

जैसे-जैसे विश्वास होता है वैसे-वैसे ज्ञान भी बढ़ता रहता है। गाय से अल्प या अधिक दूध मिलना उसे खिलाने के ऊपर ही निर्भर है ॥ २३ ॥

अपि पातकिनां धेनुद्विज-स्त्रीवधकारिणाम् ।
"नातः परं करिष्यामि" वदतामुद्धृतिर्भवेत् ।।२४।।

रामस्य नाम्नि विश्वासात् वृद्धा तीर्त्वा नदीं गता ।
न समर्थस्तथा कर्तुं वस्त्रचिन्तापरोऽपरः ।। २५ ।।

समोबहिर्जलेवाऽश्मा गलत्यम्भसि मृत्तिका ।
सविश्वासः स्थिरो दुःखे भीतः साधारणो जनः ।। २६ ।।

भगवन्नाम्नि विश्वासः श्रेष्ठं साधनमुच्यते ।
चित्तशुद्धया नरो येन सच्चिदानन्दमश्नुते ।। २७ ।।

यदि कोई व्यक्ति गाय, ब्राह्मण या स्त्री का वध रूप पाप करता है, तो यदि वह—'इसके बाद फिर कभी मैं वैसा कुकर्म नहीं करूँगा' इस प्रकार विश्वास के साथ कह सके तो उसका भी उद्धार होना सम्भव है। अर्थात् भगवान उसका भी उद्धार करते हैं ।। २४ ।।

एक वृद्धा स्त्री राम नाम में विश्वास रहने के कारण जल के ऊपर से चलकर नदी पार होकर चली गयी। दूसरा मनुष्य उसे देखने पर भी विश्वास न रहने के कारण कपड़े भींग जायेंगे इस भय से जल में उतरा ही नहीं। इस कारण वह उस पार नहीं जा सका ।। २५ ।।

पत्थर बाहर की तरह जल के भीतर भी वैसा ही रहता है, किन्तु मिट्टी जल में गल जाती है, इसी प्रकार विश्वासी व्यक्ति दुःख-सागर में डूबा रहने पर भी स्थिर रहता है, किन्तु साधारण मनुष्य भयभीत होकर मृत-कल्प हो जाता है, विश्वास की ऐसी ही महिमा है ।। २६ ।।

भगवान के नाम पर विश्वास होना श्रेष्ठ साधन है, उससे वह विश्वास-सम्पन्न व्यक्ति चित्तशुद्धि के द्वारा सच्चिदानन्द का लाभ कर सकता है ।।२७।।

गुरोर्वचसि विश्वासस्तथा निष्कपटं मनः ।
स्वभावस्य च सारल्यमीशलाभाय कल्पते ॥ २८ ॥

को नामास्त्यन्धविश्वासः तस्यान्धमखिलं भवेत् ।
न तस्य विद्यते चक्षुः परं स ज्ञानकारणम् ॥ २९ ॥

व्याकुलता

आर्तः सन्नश्रुपूर्णाक्षो वदेन्मातर्दिनं गतम् ।
नाद्यापि दर्शनं प्राप्तमिति व्याकुलतात्मनः ॥ ३० ॥

उत्कण्ठिता यथा धेनुः स्ववत्समनुधावति ।
तथा व्याकुलचित्तः सन् ईशान्वेषणकृद् भव ॥ ३१ ॥

गुरु के वाक्य पर विश्वास, निष्कपट मन और सरल स्वभाव —ये तीन ईश्वरलाभ के कारण रूप से कथित हैं ॥२८॥

अन्धविश्वास क्या चीज है ? बिना विचारे विश्वास ही अन्धविश्वास है। जो विचारबुद्धि से विश्वास करता है उसके लिए सारा संसार ही अन्धकारमय है। विश्वास के नेत्र नहीं रहते, किन्तु वह ज्ञान का कारण है ॥२९॥

व्याकुलता

दुःखी व्यक्ति यदि रोते हुए प्रार्थना करता है—'हे माँ, आज का दिन भी वृथा ही चला गया, अभी तक तुम्हारा दर्शन नहीं मिला' तो इसी को मन की यथार्थ व्याकुलता कहते हैं। जिसमें ऐसी व्याकुलता है वह धन्य है ॥ ३० ॥

जैसे गाय अपने बछड़े की ओर व्याकुल होकर दौड़ती है, उसी प्रकार व्याकुल भाव से ईश्वर को खोजते रहो। उनकी खोज करो ॥ ३१ ॥

मातुर्मिष्टं समाप्नोति बालः क्रन्दनताण्डवैः ।
सोत्कण्ठक्रन्दनैः प्राप्यं जगन्मातुर्हि दर्शनम् ॥ ३२ ॥

मनुजो ज्ञानमार्गे वा कर्ममार्गेऽथवा भवेत् ।
हृदयव्याकुलीभावः सोन्मादं कुरुते जनम् ॥ ३३ ॥

त्यक्तक्रीडो रुदन् बालः स्वमातुः क्रोड़माश्रितः ।
शान्तो भवेत्; तथा त्यक्तकामस्त्वं परमाश्रय ॥ ३४ ॥

बिडालस्य शिशुर्वेत्ति 'मीउँ'-शब्दं हि केवलम् ।
स्वेच्छया स्थापयत्यस्य माता भिन्नस्थले युतम् ॥ ३५ ॥

बालक रोता रहे और हाथ-पैर पटके तो माँ से मिठाई पा जाता है। उसी प्रकार बहुत व्याकुल होकर रोने से जगन्माता का दर्शन मिलता है ॥ ३२ ॥

मनुष्य चाहे ज्ञानमार्ग में रहे या कर्ममार्ग में, हृदय का व्याकुल भाव उसे उन्मादी कर डालता है। फलस्वरूप ईश्वर-दर्शन हो सकता है। व्याकुलता ही सार वस्तु है ॥ ३३ ॥

बालक खेल छोड़ कर रोता रहे तो माँ उसे गोदी में उठा लेती है, उससे वह शांत हो जाता है। उसी प्रकार तुम भी सारी कामनाओं को छोड़-कर परमेश्वर का आश्रय लो। वह तुम्हें दर्शन देकर पूर्णमनोरथ तथा शांत करेंगे ॥ ३४ ॥

किसी प्रकार की अड़चन होने से बिल्ली का बच्चा केवल मिउँ, मिउँ करना ही जानता है, उसकी माँ उसे उठा ले जाकर दूसरे स्थान में रखती है और शान्त करती है ॥ ३५ ॥

भक्तोऽपि व्याकुलीभूय प्रभुमाकारयेदयम् ।
यत्रासौ स्थापयेत्तत्र स्थातव्यं तेन निर्भयम् ।। ३६ ।।
पुत्रः सम्पद्विभागार्थं व्याकुलश्चेन् निरन्तरम् ।
तत्क्षणं पितरावस्य तदंशं कुरुतः पृथक् ।। ३७ ।।
यदैव जनयामास सोऽस्मांस्तस्य गृहे वयम् ।
अनुकम्पासंपदां वै जाताः सर्वेऽधिकारिणः ।। ३८ ।।
स एव जनकोऽस्माकं माता सैव; मयैकदा ।
सा प्रोक्ता दर्शयात्मानं नोचेच्छेत्स्याम्यहं शिरः ।। ३९ ।।
'दीनानाथ जगन्नाथ जगत्येवास्म्यहं तव ।
ज्ञानसाधनहीनेऽस्मिन्, दयां दर्शय दर्शने ।। ४० ।।

उसी प्रकार भक्त भी व्याकुल होकर जब भगवान को पुकारता है, तब वे उसे जहाँ रख दें, वहीं उसे निर्भय होकर रहना चाहिए। भगवान जब जहाँ जिस अवस्था में रखते हैं उसी से वह सन्तुष्ट रहे तो भक्त के मन में कोई अशान्ति नहीं रह सकती ।। ३६ ।।

जब लड़का सम्पत्ति का भाग लेने के लिए अत्यन्त व्याकुल होता है, तभी उसके माता-पिता उसका अंश अलग कर देते हैं ।। ३७ ।।

जभी भगवान ने हमें अपने सन्तान के रूप में उत्पन्न कर दिया तभी से उनकी कृपा रूप सम्पत्ति के हम अधिकारी हो गये ।। ३८ ।।

वे ही हमारे पिता और माता भी हैं। एक समय मैंने माँ से कहा था — "मुझे दर्शन दो, नहीं तो मैं अपना सिर काट डालूँगा।" अर्थात् गले पर छूरी चलाऊँगा, जीवन का अन्त कर डालूँगा ।। ३९ ।।

भगवान के निकट ऐसी प्रार्थना करनी चाहिए कि "हे दीनानाथ, हे जगन्नाथ, मैं तुम्हारे संसार में निवास कर रहा हूं, मैं ज्ञानलाभ करने के साधन से वंचित ज्ञानहीन हूं, इस कारण कृपा करके मुझे दर्शन दो ।। ४० ।।

उत्कण्ठितस्तदर्थं त्वं तमेव शरणं व्रज।
आकर्णयेद्वचोऽवश्यमनुकूलोऽप्यसौ भवेत्॥ ४१॥

यत्रैव तव विश्वासस्तमाकारय भक्तितः।
मनसः कामनाः सर्वाः पूरयेन्निश्चयेन सः॥ ४२॥

अतिव्याकुलितप्राणो जले प्रब्रुडितो यथा।
भगवल्लाभसिद्धयर्थं भक्तोऽपि व्याकुलस्तथा॥ ४३॥

माता पुत्रे सती पत्यौ विषयी विषयेषु च।
सक्ता नित्यं, दत्तचित्तो भव त्वं तद्वदीश्वरे॥ ४४॥

उनके लिए व्याकुल होकर तुम उन्हीं की शरण लो। वे तुम्हारी बात अवश्य सुनेंगे और तुम्हारे प्रति कृपापरवश तथा अनुकूल भी होंगे॥ ४१॥

भगवान के जिस रूप पर तुम्हारा विश्वास हो तुम उन्हें ही भक्ति के साथ पुकारो। वे तुम्हारे मन की सारी कामनाओं को अवश्य पूर्ण करेंगे, क्योंकि वे अन्तर्यामी हैं॥ ४२॥

किसी को जल में डुबाने से उसका मन जिस प्रकार व्याकुल हो जाता है, भगवान के लाभ के लिए भक्त को भी उसी प्रकार व्याकुल होना चाहिए॥ ४३॥

जैसे माँ पुत्र पर स्नेह करती है, सती स्त्री पति में अनुरक्त रहती है और विषयी व्यक्ति विषयों में आसक्त होता है, तुम भी उसी प्रकार ईश्वर में अनुरक्त हो जाओ। अर्थात् इन तीनों को एकत्रित करने से जितना आकर्षण होता है उतनी व्याकुलता से तुम भी ईश्वर को पुकारो, तभी उनका दर्शन पाओगे॥ ४४॥

व्याकुलत्वं मानसे चेद् विलम्बो दर्शने कुतः ?
अरुणस्योदयः प्राच्यां सूचयत्यागमं रवेः ॥ ४५ ॥

लोकाः स्त्रीधनपुत्रार्थं रुदन्ति बहुशः परम् ।
न कोऽपीश्वरलाभार्थं प्ररुदन् दृश्यते जनः ॥ ४६ ॥

भोगस्यान्तं विना मातुः कृते व्याकुलता कुतः ।
यावत्क्रीडारतो बालो जननीं स्वामुपेक्षते ॥ ४७ ॥

क्रीडायां तु समाप्तायां पुनः स्मरति मातरम् ।
नित्यसिद्धास्तथाप्येके न येषां भोगवासना ॥ ४८ ॥

अनेन कर्मणा लभ्यो नानेनेति न निश्चितम् ।
कर्म व्याकुलतापूर्वं कृपालाभस्य कारणम् ॥ ४९ ॥

यदि मनुष्य का मन यथार्थ में ही व्याकुल होता है तो ईश्वर के दर्शन में विलम्ब कहाँ ? पूर्व की दिशा में अरुण का उदय होने से ही सूर्यदेव का आगमन सूचित होता है ॥ ४५ ॥

लोग पत्नी, पुत्र, धन आदि के लिए बहुत रोते हैं, किन्तु ईश्वरलाभ के लिए कोई भी रोता नहीं दिखाई पड़ता ॥ ४६ ॥

भोगवासना के समाप्त हुए बिना जगन्माता के लिए व्याकुलता कैसे आयेगी ? जब तक बालक खेल में मत्त रहता है, तब तक वह अपनी माँ को याद भी नहीं करता । अर्थात् माँ को भूल जाता है ॥ ४७ ॥

खेल समाप्त होने पर बालक फिर माँ को याद करता है, किन्तु कोई-कोई मनुष्य नित्यसिद्ध होते हैं, जिनके मन में भोगवासना कभी नहीं होती । वे कभी खेल में मस्त नहीं होते ॥ ४८ ॥

यह निश्चित नहीं है कि इस कर्म से भगवान् प्राप्त होते हैं, उस कर्म से नहीं, व्याकुलता के साथ उन्हें पुकारने से उनकी कृपा मिलती है ॥ ४९ ॥

तीर्थान्येतानि दृष्टानि कृतमेतज्जपादिकम् ।
तथापि न कुतो लाभो ? नासीद्व्याकुलता हृदि ॥ ५० ॥
गच्छेः साकारमार्गेण निराकारेण वा पुनः ।
गम्यमेकं समुत्कण्ठा तत्प्राप्तेर्मूलकारणम् ॥ ५१ ॥
धृत्वा कृत्रिममाने स्तनमुखं बालः प्रशान्तः स्थितः ।
तन्माता गृहकार्यलग्नहृदया तास्मिन्नुपेक्षापरा ।
क्षिप्त्वा रोदिति तद्यदाऽथ कृतकं सोत्कण्ठमभ्येति सा
तद्वत्संसृतिसङ्गखिन्नमनसं स व्याकुलं धावति ॥५२॥
इति श्रीरामकृष्णोपदेशसाहस्र्यां 'भक्तगुणा' नाम
चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

'मैंने इतने तीर्थों का दर्शन किया है, जप, पूजा आदि भी बहुत किये हैं, तो भी मैंने उनका दर्शन क्यों नहीं पाया ?' ऐसे प्रश्न का एक ही उत्तर है कि हृदय में व्याकुलता नहीं थी ॥ ५० ॥

तुम साकार मार्ग से चलो या निराकार मार्ग से गमन करो, गन्तव्य स्थान एक ही है। उत्कंठा ही उस वस्तु को प्राप्त करने का एकमात्र उपाय है ॥ ५१ ॥

बालक माता के स्तन की तरह बना रबड़ का निपुल मुख में लेकर शांत-भाव से पड़ा रहता है। उसकी माँ घर के काम-काजों में फँसी रहने के कारण उसकी ओर उपेक्षा करती है, किन्तु जब वह बालक उस बनावटी स्तन को छोड़कर रोने लगता है, व्याकुल हो उठता है; तब उसकी माँ व्याकुल होकर उसके पास आती है और उसे गोदी में उठा लेती है। इसी प्रकार संसार के प्रति उदासीन व्याकुल भक्त की ओर भगवान व्याकुल होकर चले आते हैं ॥ ५२ ॥

श्री श्रीरामकृष्णोपदेश साहस्री का भक्तगुणा नामक
चौदहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ १४ ॥

विविधोपदेशा: नाम पञ्चदशोऽध्यायः

विविधोपदेशाः

गच्छेत् कयापि च दिशा जलयानमेतत्
कम्पाससूचिरनिशं दिशमेत्युदीचीम् ।
यानं निवारयति दिग्भ्रमतस्तथैव
लग्ने हृदीशचरणे मनुजोऽप्यचिन्तः ॥ १ ॥

गृहकर्मपराप्यास्तेऽसती जारगतान्तरा ।
तथा सांसारिकोऽपि स्याद् भगवद्गतमानसः ॥ २ ॥

विविध उपदेश

समुद्रों में जहाज जिस ओर ही जाय, दिक् निर्णय यन्त्र का काँटा ठीक उत्तर दिशा में ही घूम जाता है। उससे दिशाभ्रम नहीं होता। इसी प्रकार मनुष्य का मन जब हृदयेश्वर के चरणों में संलग्न रहे तो उसका दिशाभ्रम कभी नहीं होता, वह सीधे भगवान की ओर अग्रसर होता जायगा ॥ १ ॥

असती स्त्री घर के सारे काम-काज करते रहने पर भी मन में उपपति की ही चिन्ता करती है। उसी प्रकार सांसारिक कार्यों में संलग्न रहने पर भी भक्त का मन सदा भगवान के प्रति ही लगा रहना चाहिए ॥ २ ॥

मनः तुलासमम्

तुलातुल्यं मनोऽस्माकं क्वचिदुच्चैरधः क्वचित् ।
एकतस्तस्य संसारो भगवानन्यतः स्थितः ॥ ३ ॥

मनश्चेद्विषयासक्तिधनमानादिसंयुतम् ।
नीचैर्भवति संसारे विहायेश्वरमुन्नतम् ॥ ४ ॥

वैराग्येण विवेकेन भक्तिभावेन चेद्युतम् ।
भगवन्तं नमेत्तूर्णं त्यक्त्वा संसारमुन्नतम् ॥ ५ ॥

न क्षतिश्चेज्जले नौका नौकायां चेज्जलं क्षतिः ।
मनो वरं भवजले भवो मनसि नो वरः ॥ ६ ॥

मन पलड़े के समान है

हमारा मन पलड़े की तरह है, कभी ऊपर उठ जाता है और कभी नीचे उतरता है । इस पलड़े के एक ओर संसार है और दूसरी ओर भगवान हैं ॥ ३ ॥

यदि मन विषयों में आसक्त होता है तथा धन, मान, यश, ऐश्वर्य आदि की चिन्ता करता है तो उस पलड़े के संसार की ओर का अंश नीचे उतर आता है और ईश्वर का अंश हल्का होकर ऊपर उठ जाता है ॥ ४ ॥

किन्तु यदि मन में विवेक, वैराग्य, भगवद्-भक्ति, प्रेम, आदि भाव रहें तो भगवान का अंश तुरन्त नीचे उतर जाता है और संसार की ओर का पलड़ा हल्का होकर ऊपर उठ जाता है ॥ ५ ॥

नाव जल में रहे तो कोई हानि नहीं है, किन्तु यदि नाव में जल आ जाय तो उसके डूब जाने का भय रहता है । ऐसे ही यदि मन भवसागर के जल में पड़ा रहे तो उससे कुछ भी हानि नहीं होती, किन्तु मन के भीतर संसार घुस जाय तो मंगल नहीं हो सकता, बल्कि महान् अकल्याण की आशंका होती है ॥ ६ ॥

हस्तयोस्तैलमालिप्य पनसं भञ्जयेन्नरः ।
संसारपनसं भक्तुं भक्तितैलमपेक्ष्यते ।। ७ ।।

गृहस्थाश्रमो न दोषाय

गार्हस्थ्यं नास्ति दोषाय चेदासक्ति विना कृतम् ।
वसिष्ठजनकव्यासाः संसारस्थाः सुखान्विताः ।। ८ ।।

गृहे सहायकाः सन्ति न चिन्तोदरपूरणे ।
व्याघातास्तु गृहत्यागे ज्ञानं कर्मोभयं गृहे ।। ९ ।।

दोनों हाथों में तेल मल कर मनुष्य कटहल तोड़ता है । उसी तरह संसार रूप कटहल तोड़ने के लिए मन में भक्ति रूप तेल मल लेना आवश्यक है ।। ७ ।।

गृहस्थाश्रम दोषप्रद नहीं,

आसक्ति छोड़कर गृहस्थी का काम करने से कोई हानि नहीं है । वसिष्ठ जनक, व्यास आदि ऋषि गृहस्थ आश्रय में रह कर भी आनन्द से जीवन बिता गये हैं ।। ८ ।।

एकान्तभुक्त यौथ परिवार में खाने-पीने का प्रबन्ध करनेवाले अनेक मनुष्य रहते हैं, उससे अपने साधन-भजन की बहुत सुविधा है, भक्त को साधन-भजन की चिन्ता नहीं करनी पड़ती । वह निश्चिन्त चित्त से घर में बैठकर भगवान की चिन्ता कर सकता है । किन्तु गृही भक्त घर छोड़कर चला जाय तो उदर-पूरण की चेष्टा में ही बहुत समय बीत जाता है, भगवान को पुकारने का समय नहीं मिलता । गृहस्थाश्रम ज्ञान और कर्म के साधन के लिए अनुकूल स्थान है ।। ९ ।।

संसारी साधुसङ्गेऽपि विषयानेव संस्मरेत्।
मूलकं भक्षयेद्यस्तु तद्गन्धोद्गारमुद्वमेत् ॥ १० ॥

आन्तरा यादृशा भावा बहिरायान्ति तादृशाः।
कुतः स्मरेज्जगद्योनिं विषयासक्तमानसः ॥ ११ ॥

गृहकार्याणि कार्याणि स्वायव्यय-विचारतः।
येनाल्पव्ययतः सिद्धिर्जयेत महती तव ॥ १२ ॥

वरदानोद्यतं भक्तो ययाचे कश्चिदीश्वरम्।
"पात्रे हेममये पौत्रो मिष्टान्नं भक्षयेदिति" ॥ १३ ॥

एतेन तेन संप्राप्तं सकलं तस्य कांक्षितम्।
पुत्रः पौत्रो हेमपात्रं मिष्टान्नं धनमेव च ॥ १४ ॥

साधुसंग करने पर भी सांसारिक मनुष्य का मन विषयों का ही स्मरण करता है। जो मूली खाता है उसकी डकार से मूली की गंध आती है ॥ १० ॥

अन्तःकरण में जैसा भाव रहता है, बाहर के आचरण में भी वही भाव प्रगट होता है। जिस मनुष्य का मन विषयों में आसक्त है, वह जगत्कारण भगवान को कैसे स्मरण करेगा ? ॥ ११ ॥

अपनी आय और व्यय का विचार कर गृहस्थी का काम करना चाहिए, जिससे तुम्हें अल्प व्यय करके अधिक सफलता मिले तथा कार्य-सिद्धि हो ॥ १२ ॥

किसी भक्त की तपस्या से प्रसन्न होकर भगवान ने आकर उसे वर देना चाहा, उसने चालाकी करके ऐसा वर माँगा कि 'हे ईश्वर ! मेरा पौत्र सोने की थाली में मिठाई खाय' ॥ १३ ॥

इस प्रार्थना से उस भक्त की सभी कामनाएँ पूरी हो गयीं, पुत्र, पौत्र, स्वर्णपात्र, मिष्टान्न और धनैश्वर्य सभी एक वर में ही मिल गये ॥ १४ ॥

आह्निकासक्तचित्तस्य गंगास्नानपरस्य वा।
सांसारिककथावार्ता कुर्यात्पुण्यं निरर्थकम् ॥ १५ ॥

जन्यर्थं कत्यलङ्कारा: पुत्रोद्वाहे कृता मया।
गृहाणेदमिदं हेयमिति धर्मविडम्बना ॥ १६ ॥

नवे वयसि यस्त्याग: स त्याग इति गीयते।
असत्कर्मपरो बाल्याद् वृद्धत्वे किं करिष्यति ? ॥ १७ ॥

या साऽऽनन्दमयी माताऽनिष्टस्थाने सहायिका।
असत्कार्यप्रवृत्तस्य रक्षा ते तत एव हि ॥ १८ ॥

संध्यावन्दन या गंगास्नान करते रहने से यदि मनुष्य गृहस्थी की बातें करते रहे तो उसका सारा पुण्य निष्फल हो जाता है ॥ १५ ॥

पुण्य स्थान में जाकर भी—"पुत्र के विवाह के समय मैंने पुत्रवधू के लिए अनेक गहने बनवा दिये थे, इसे उठा लो, उसे फेंक दो—ऐसी गृहस्थी की बातें कहने से धर्महानि होती है। धर्मकार्य करते हुए विषयचिन्ता या उसकी आलोचना छोड़कर निविष्टचित्त से धर्माचरण करना चाहिए ॥ १६ ॥

यौवन में त्याग ही यथार्थ त्याग है। यदि बचपन से ही कुकर्म करने का अभ्यास हो जाय तो वृद्धावस्था में क्या कर पायेगा ? अतः बचपन से ही धर्म का अवलम्बन करना उचित है ॥ १७ ॥

जो अपने सन्तान की असत् संग या कुकर्म से रक्षा करती है वहीं आनन्दमयी माँ हैं। जो भक्त सभी अवस्थाओं में जगन्माता के ऊपर निर्भरशील रहता है माँ सदा हाथ पकड़कर उसकी रक्षा करती हैं, किसी दूसरे काम में उसे लिप्त होने नहीं देती ॥ १८ ॥

ईशमेकपदं गत्वा समाह्वयति चेद्भवान् ।
दशसोऽपि पदान्येति स्वजनो न ततः परः ॥ १९ ॥

बुभुक्षितस्य का पूजा ? भुक्तिः पूर्वं हि भक्तितः ।
कलावन्नगताः प्राणास्तेषु तृप्तेषु साधना ॥ २० ॥

अन्नदानम्

गृहस्थस्य गृहात्साधुर्गच्छेद् यदि बुभुक्षितः ।
स तस्मै दुष्कृतं दत्वा पुण्यमादाय गच्छति ॥ २१ ॥

अप्यन्नदानं कर्तव्यं पात्रापात्रविचारतः ।
गोवधासक्तचित्ताय तद्दानमपि नोचितम् ॥ २२ ॥

यदि तुम एक कदम आगे बढ़कर ईश्वर को पुकारते हो, तो तुम्हारी रक्षा करने के लिए वे दस कदम आगे आ जायेंगे। उनसे बढ़कर स्वजन और कोई नहीं है ॥ १९ ॥

भूखे मनुष्य की पूजा कैसे होगी ? खाली-पेट धर्म नहीं होता। पेट भरा रहने पर ही भक्ति होती है। इस कलियुग में प्राण अन्नगत हैं। जठराग्नि को तृप्त करने से ही साधना सम्भव हो सकती है ॥ २० ॥

अन्नदान

गृहस्थ के घर से यदि कोई भूखे साधु लौट जायँ तो वे अपना पाप गृहस्थ को देकर उसका पुण्य लेकर चले जाते हैं ॥ २१ ॥

किन्तु अन्नदान पात्र और अपात्र का विचार करके देना चाहिए। गोहत्या करने में उद्यत मनुष्य को अन्नदान करना उचित नहीं है ॥ २२ ॥

जनाः केचिच्छूर्पतुल्याः सारग्रहणतत्पराः ।
चालनीसदृशाः केचिद् असारग्रहणे रताः ॥ २३ ॥

त्रिगुणाः जनाः

सांसारिणः सात्त्विकाश्च राजसास्तामसास्त्रिधा ।
उपेक्षन्ते गृहं चारु वान्यथा वेति सात्त्विकाः ॥ २४ ॥
सम्बद्धघटिकायन्त्रा मणिबन्धे तु राजसाः ।
द्वित्राङ्गुलीयका हस्ते सुसज्जितगृहास्तथा ॥ २५ ॥
तमसा कामभोगेर्ष्यानिद्रालस्यमदान्विताः ।
सात्त्विकाद्याः त्रयो भेदा भक्तानामपि वर्णिताः ॥ २६ ॥

कुछ लोग सूप की तरह असार वस्तुओं को निकाल फेंककर सार वस्तु का ग्रहण करते हैं और कुछ मनुष्य चलनी की तरह सार वस्तु को फेंककर असार वस्तु ही ग्रहण करते हैं ॥ २३ ॥

त्रिगुणयुक्त मनुष्य

प्रकृति के भेद से सांसारिक मनुष्य तीन प्रकार के हैं—सात्त्विक, राजसिक और तामसिक। उनमें सात्त्विक मनुष्य घर अच्छी तरह सजाया हुआ है या नहीं, उस पर ध्यान नहीं देते यानी बाहरी आडम्बर की ओर वह ध्यान नहीं देते ॥ २४ ॥

राजसिक मनुष्य हाथ में कलाई-घड़ी बाँधकर ऊँगलियों में दो-तीन अँगूठियाँ पहनते हैं। उनका घर भी उत्तम रूप से सजाया हुआ रहता है ॥ २५ ॥

तामसिक मनुष्य भोगवासना, हिंसा, द्वेष, निद्रा, आलस्य, गर्व आदि दोषों से युक्त होते हैं। भक्तों के भी इस प्रकार सात्त्विक आदि तीन तरह के भेद वर्णित हैं ॥ २६ ॥

रहोध्यानपरास्त्वाद्या शाकान्नोदरपूर्तयः ।
वेषभूषाद्युपेक्षन्ते शरीरासक्तिवर्जिताः ॥ २७ ॥

राजसा देहशोभार्थं मालातिलकधारिणः ।
केवलाडम्बरपरा दुराचाराश्च तामसाः ॥ २८ ॥

सात्त्विकानां रहः पूजा पत्रपुष्पसरिज्जलैः ।
राजसानां ससम्भारा अन्त्या मांसनिवेदनाः ॥ २९ ॥

केचित्तु त्रिगुणातीता भक्तास्ते बालकैः समाः ।
पूजा सम्पद्यते तेषां केवलं नाममात्रतः ॥ ३० ॥

सात्त्विक भक्त एकान्त स्थान में ध्यानमग्न रहते हैं। केवल शाक-भात से ही वे पेट भर लेते हैं। वेशभूषा के प्रति उनमें उपेक्षा है और शरीर के प्रति भी आसक्ति नहीं है। किसी तरह जीवित रहने से ही वे सन्तुष्ट रहते हैं ॥ २७ ॥

राजसिक भक्त माला, तिलक आदि चिह्न शरीर की शोभा के लिए धारण करते हैं ताकि लोग उन्हें बड़े भक्त समझें और तामसिक भक्त बाहरी आडम्बरयुक्त तथा दुराचारी होते हैं ॥ २८ ॥

सात्त्विक भक्त एकान्त में पूजा करते हैं। पत्र, पुष्प, फल, जल आदि उनकी पूजा के उपचार हैं। राजसिक भक्त अनेक आडम्बर-पूर्ण पूजा में अनेक मूल्यवान पदार्थ देते हैं और तामसिक भक्त पूजा में मांस का निवेदन करते हैं ॥ २९ ॥

कोई भक्त बालक की तरह त्रिगुणातीत होते हैं, उनकी पूजा केवल भगवान का नाम जप आदि द्वारा ही सम्पन्न होता है। मानस पूजा ही उत्तम है। त्रिगुणातीत भक्त भगवान की मानस पूजा करते हैं ॥ ३० ॥

नैश्वर्यवशमायाति प्रभुर्भक्तिवशोऽनिशम् ।
ये यथा तं प्रपद्यन्ते तान् द्रक्ष्यति तथैव सः ॥ ३१ ॥

अर्पितं भक्त्यभावेनामृतमस्मै न रोचते ।
भक्त्या समर्पितं चायं कदन्नमपि भक्षयेत् ॥ ३२ ॥

सर्वस्वं हर सर्वस्व त्वं भवच्छेदतत्परः ।
पुत्रोपदेशं कुर्वाणो धूर्तभक्तः शिवं नमेत् ॥ ३३ ॥

मा भवेः कुशलम्मन्यः काको विष्ठारुचिः पटुः ।
परप्रतारणासक्तः स्वयमेव प्रतार्यते ॥ ३४ ॥

ईश्वर ऐश्वर्य के वशीभूत नहीं होते, वे केवल भक्ति के वशीभूत हैं। जो मनुष्य जिस भाव से उनके शरणापन्न होते हैं, वे उसी भाव से उन्हें कृपा करते हैं ॥ ३१ ॥

भक्ति के साथ अर्पण न करने पर वे अमृत भी ग्रहण नहीं करते और भक्ति के साथ खराब अन्न देने पर भी वे उसे ग्रहण करते हैं। वे आन्तरिक भक्ति चाहते हैं ॥ ३२ ॥

धूर्त भक्त पुत्र को उपदेश देने के लिए ही मानो शिवजी को प्रणाम करता हुआ कहता है कि "हे हर, आप सबके सर्वस्व हैं तथा आप सबके संसार-बन्धन का छेदन भी करते हैं", परन्तु शिवजी के प्रति अपनी भक्ति नहीं है ॥ ३३ ॥

अपने को अधिक बुद्धिमान न समझो। कौआ जो कि अपने को बहुत चतुर समझता है, विष्ठा खाता है। जो दूसरे को धोखा देता है वह खुद ही धोखा खाता है ॥ ३४ ॥

श्रृणोति न स्वयं नाम सहते न परैः श्रुतम् ।
हसति ध्यानकर्तारं मूर्खो निन्दति धार्मिकान् ॥ ३५ ॥

असम्बद्धं वचो, गूढ़ं मनः, स्त्री सावगुण्ठना ।
पर्णावृतं जलं, लक्ष्म बाह्यं, साधोरनिष्टदम् ॥ ३६ ॥

सदसन्नर-लक्षणानि

पद्मचक्षुः साधुभावो वृषनेत्रस्तु कामुकः ।
रक्तोर्ध्वनयनो योगी देवस्त्वाकर्णलोचनः ॥ ३७ ॥

आलापे बुद्धिमानास्ते किञ्चिदाकुञ्चितेक्षणः ।
एकेनैवाक्षिणातिर्यगीक्षणो धूर्त एव हि ॥ ३८ ॥

अविश्वासी मूर्ख नास्तिक स्वयं भगवान का नाम नहीं सुनता, दूसरा कोई उनका नाम लेता है तो सुनकर वह सहन नहीं कर सकता । किसी को ध्यान करते देखकर दिल्लगी उड़ाता है और मूर्ख धार्मिकों की निन्दा करता है ।। ३५ ।।

असम्बद्ध वाक्य, रहस्यपूर्ण मन, अवगुण्ठिता नारी, सिवार से ढँका पोखरे का जल तथा बाहरी आडम्बर दिखाने वाला साधू—ये सभी हानिकारक हैं ।। ३६ ।।

सत् और असत् मनुष्य के लक्षण

साधु कमल के समान नेत्र वाले होते हैं और कामुक के बैल जैसे नेत्र वाले । योगी के नेत्र कुछ लाल और ऊपर की ओर खिचे होते हैं तथा देव-पुरुष के नेत्र कान तक फैले होते हैं ।। ३७ ।।

बात करते समय जिनकी आँखें कुछ संकुचित हो जाती हैं, वे बुद्धिमान हैं, और बात करते समय जिनकी एक आँख टेढ़ी हो जाती है, वह धूर्त है ।। ३८ ।।

लघुहस्तः सुबुद्धिः स्याद् गुरुहस्तः खलः स्मृतः ।
निःश्वासो भोगिनो भिन्नस्त्यागिनिः श्वासतोऽन्तरः ।। ३९ ।।

वामतो भोगिनो मूत्रं दक्षिणं त्यागिनो भवेत् ।
सूकरो न स्पृशेद्विष्ठां त्यागिनो भोगिनो यथा ।। ४० ।।

हस्तपादग्रन्थयस्तु शिथिलाः कोमलं वपुः ।
भवेद्भक्तिगतः पुंसो नासा चाभ्युन्नता मता ।। ४१ ।।

नता नासा करौ क्षीणौ सुस्थूले कुर्परास्थिनी ।
हनुः प्रमाणशून्या च सर्वमेतत्कुलक्षणम् ।। ४२ ।।

काम करते समय जिसका हाथ हल्के ढंग से चलता है, वह बुद्धिमान होता है और जिसका हाथ भारी होता है, वह दुष्ट होता है। त्यागी के निश्वास से भोगी का निश्वास भिन्न होता है ।। ३९ ।।

भोगी बायीं ओर और योगी दाहिनी ओर पेशाब करते हैं। सूअर भी त्यागी का मल नहीं छूता, किन्तु भोगी का मल खाता है ।। ४० ।।

भक्तिमान पुरुष के हाथ-पैरों की ग्रन्थियाँ शिथिल और शरीर कोमल होता है तथा नाक भी कुछ उन्नत होती है ।। ४१ ।।

चिपटी नाक, क्षीण हाथ, कोहनियों और घुटनों की हड्डियाँ मोटी, जबड़े और ठुड्ढी की हड्डी की असमानता—ये सभी कुलक्षण हैं। इनमें भक्तिभाव अल्प है तथा इन्हें सहज में ईश्वर-लाभ नहीं होता ।। ४२ ।।

चाटुकारः प्रतार्यते

लम्बमानं वृषस्याण्डकोशं वीक्ष्य शृगालकः ।
"गलितं भक्षयामीति चिन्तयन्नन्वगाद्वृषम्" ।। ४३ ।।
उपविष्टं समासीनस्तिष्ठन्तं पुनरुत्थितः ।
प्रयातश्चलितं लुब्धश्छायेवोक्षाणमन्वगात् ।। ४४ ।।
एवं दिनान्यतीतानि कोशो न गलितः परम् ।
निराशः प्रययावन्ते, चाटुकारः प्रतार्यते ।। ४५ ।।
अपि क्षुद्रस्य जीवस्य करिष्ये नैव निन्दनम् ।
शपथः क्रियतामेवमीशस्मरणपूर्वकम् ।। ४६ ।।

चापलूस धोखा खाता है

एक सियार ने किसी बैल के लटकते हुए अंडकोश को देखकर सोचा कि यह मांसपिंड जब जमीन पर गिर पड़ेगा, तब मैं उसे खाऊँगा । ऐसे सोचते हुए वह उस बैल के पीछे-पीछे मीठी-मीठी बातें कहते हुए चलने लगा ।। ४३ ।।

बैल के बैठते ही सियार भी बैठता, उसके खड़े होने पर वह भी खड़ा होता और चलने से चलता था । इस ढंग से वह लालची सियार उस बैल की प्रशंसा करते हुए उसके पीछे-पीछे चलता रहा ।। ४४ ।।

इसी तरह अनेक दिन बीत गये, किन्तु बैल का अण्डकोश नहीं गिरा । अन्त में हताश होकर वह सियार लौट गया । चापलूस इसी तरह धोखा खाता है । दुराशा करना अनुचित है ।। ४५ ।।

किसी की भी निन्दा नहीं करनी चाहिए । बहुत छोटे प्राणी की भी निन्दा नहीं करनी चाहिए । भगवान का शपथ लेकर तुम प्रतिज्ञा करो कि मैं कभी किसी की निन्दा नहीं करूँगा ।। ४६ ।।

परगेहनिवासार्थं शुल्कदानमपेक्षितम् ।
देहवासकृते देयो रोगशोकादिकः करः ॥ ४७ ॥

जायन्तेऽथ विलीयन्ते समुद्रोपरि बुद्बुदाः ।
जीवा बुद्बुदवद्भान्ति परमेशमहार्णवे ॥ ४८ ॥

सदसत्पुण्यपापादिभेदबुद्धिरहङ्कृतेः ।
अहंधीनाशतो नश्येद्भेदो येनेशदर्शनम् ॥ ४९ ॥

आत्महत्या महत्पापम् असकृज्जन्मकारणम् ।
तथापीश्वरलाभान्ते देहं कोऽपि स्वयं त्यजेत् ॥ ५० ॥

दूसरे के घर में रहने के लिए किराया देना पड़ता है। इसी तरह शरीर में निवास करने के कारण ही रोग, शोक आदि कर देना पड़ता है ॥ ४७ ॥

समुद्र के ऊपर बुलबुले उठते हैं और वे उसी में लयप्राप्त भी हो जाते हैं। उसी प्रकार ब्रह्माण्ड के सारे जीव परमेश्वर रूप महासमुद्र में बुलबुले की तरह प्रगट होते हैं और उसमें लयप्राप्त भी हो जाते हैं ॥ ४८ ॥

अहं-बुद्धि रहने से ही अर्थात् अद्वैत ब्रह्मभाव का अभाव होने से ही सत् और असत् पुण्य और पाप आदि का भेद-भाव रहता है। अहं ार के नष्ट होने से भेदभाव भी नहीं रहता। उसके बाद भगवान का दर्शन मिलता है ॥ ४९ ॥

आत्म-हत्या करना महापाप है और वह बार-बार जन्म का कारण है। तथापि ईश्वरलाभ होने पर ज्ञानी स्वयं ही शरीर छोड़ देते हैं। किन्तु उसे आत्म-हत्या नहीं कहा जाता। ईश्वरलाभ के अनन्तर शरीर छूट जाने से भी कोई हानि नहीं होती ॥ ५० ॥

सौवर्णमूर्तिनिर्माणे जाते मूषासहायतः ।
मृन्मुषाया विनाशेन रक्षया वा समं फलम् ॥ ५१ ॥

अज्ञानेनात्मस्वरूपस्यानभिज्ञा

"भक्तिर्ज्ञानं कुतोऽस्माकं बद्धानां केऽपि मन्वते ।
न तद्युक्तं यतः सर्वं शक्यं गुरुकृपावशात् ॥ ५२ ॥

अजां काप्यनुधावन्ती व्याघ्री शिशुमजीजनत् ।
पञ्चत्वं च गता तस्या अजया पालितः शिशुः ॥ ५३ ॥

शावकोऽप्यजया सार्धं तृणभक्षणकृत्सदा ।
भ्यां-भ्यां-शब्दपराश्चापि वृद्धिं प्राप क्रमेण सः ॥ ५४ ॥

सोने की मूर्ति बनाने के लिए मिट्टी का साँचा बनाना पड़ता है। मूर्ति के तैयार हो जाने पर वह साँचा टूटा या रहा, फल एक ही है। अर्थात् मूर्ति को कोई हानि नहीं होती ॥ ५१ ॥

अज्ञान के कारण आत्मस्वरूप को न जानना

कुछ लोग समझते हैं कि हम संसार में फँसे हुए हैं, भक्ति या ज्ञान कैसे उत्पन्न होगा ? यह बात ठीक नहीं है, क्योंकि गुरु की कृपा से सभी सम्भव है ॥ ५२ ॥

किसी बकरी के झुंड के ऊपर एक गर्भवती बाघिन कूद पड़ी, किन्तु उसी से उसका एक बच्चा हुआ और वह मर भी गयी। तब उस बाघिन का बच्चा उन बकरियों के साथ ही बढ़ने लगा ॥ ५३ ॥

वह बाघिन का बच्चा बकरियों के साथ घास खाने लगा और बकरी की तरह ही भ्यां-भ्यां करने लगा, इसी तरह वह बाघ का बच्चा क्रमशः बड़ा हुआ ॥ ५४ ॥

व्याघ्रेण केनाप्यन्येन छागीसाथानुधाविता ।
चित्रं मेने स शार्दूलस्तादृशं प्रेक्ष्य शावकम् ॥ ५५ ॥

शिशुमुक्त्वा स शार्दूलो "मुखं पश्य जले स्वकम् ।
व्याघ्रोऽसि मांसभोजी त्वं" बलाद्रक्तं मुखेऽक्षिपत् ॥ ५६ ॥

रक्तास्वादी शिशुः प्रीतः स्वरूपज्ञानवानयम् ।
छागमांसं समास्वाद्य शार्दूलेन समं ययौ ॥ ५७ ॥

अज्ञो गुरूपदेशेन भवत्येवं स्वरूपवित् ।
भक्तिज्ञानयुतो धन्यो मुक्तिमार्गमनुव्रजेत् ॥ ५८ ॥

ऐसे समय कोई दूसरा बाघ उन बकरियों के झुण्ड के पीछे दौड़ा । बाघ की तरह बच्चे को देखकर वह बहुत ही आश्चर्यचकित हुआ ॥ ५५ ॥

तब वह बाघ उस बच्चे को जल के पास ले गया और बोला—"तू अपना मुँह देख, तू बाघ है, मेरे जैसा मांस खाने वाला । तू घास क्यों खाता है ?" उसके बाद उसने उस बाघ के बच्चे के मुँह में खून लगा दिया ॥ ५६ ॥

वह बाघ का बच्चा खून का स्वाद पाकर अत्यन्त आनन्दित हुआ और अपना स्वरूप भी जान गया । उसके बाद वह बाघ का बच्चा मांस खाकर गरजते हुए उस बाघ के साथ चला गया ॥ ५७ ॥

इसी प्रकार अज्ञानी व्यक्ति गुरु के उपदेश से अपना स्वरूप जान सकता है । इसके बाद भक्ति और ज्ञान प्राप्त करके धन्य होकर मुक्ति के मार्ग में जाता है ॥ ५८ ॥

सिद्धिः पूर्वसुकृताधीना

कश्चिदाराधनं कर्तुं गतवान् गहनं वनम् ।
सुकृताभावतः किन्तु वन्य व्याघ्रेण भक्षितः ॥ ५९ ॥

अपरः पुण्यवांस्तस्य भक्षितस्यैव साधनैः ।
सफलोऽभूत्सिद्धिकार्ये पूर्वकर्माप्यपेक्ष्यते ॥ ६० ॥

मृत्युः स्याद् यत्र कुत्रापि गंगातीरेऽथवा वने ।
ज्ञानिनां निश्चिता मुक्तिर्गंगापेक्षा त्वजानतः ॥ ६१ ॥

सिद्धि पूर्व सुकृति के अधीन है

कोई भक्त देवी की आराधना करने के लिए गम्भीर जंगल में चला गया, किन्तु पूर्व पुण्य न रहने से किसी जंगली बाघ ने उसे खा डाला ॥ ५९ ॥

किसी दूसरे पुण्यवान व्यक्ति ने मार्ग में जाते हुए वहाँ मृत व्यक्ति के आयोजित साधना के सामान तैयार देखकर आचमन कर आसन पर बैठ गया, थोड़ा साधन करके उसने सिद्धि प्राप्त की। इससे प्रमाणित हुआ कि सिद्धिलाभ करने के लिए पूर्व जन्म के पुण्य कर्म आवश्यक हैं ॥ ६० ॥

गङ्गा-तट पर या अन्य किसी स्थान या वन में कहीं भी मृत्यु क्यों न हो ज्ञानलाभ के फलस्वरूप ज्ञानी की मुक्ति निश्चित है। अज्ञानी के लिए ही गंगातट पर मृत्यु प्रयोजन है। अर्थात् शास्त्र कहते हैं कि पापी व्यक्ति गंगातट पर मरने से उसे मुक्ति या उच्च गति की प्राप्ति होती है ॥ ६१ ॥

यागयज्ञैर्मन्त्रतन्त्रैः कलौ नास्ति प्रयोजनम् ।
चण्डालोपीश्वरे नित्यं भक्तिमान्मुक्तिमर्हति ॥ ६२ ॥

वक्रपङ्किलचिन्ता ये ये च सन्देहकारिणः ।
दाम्भिका ये शुचिमन्यास्तैर्ज्ञानं न हि लभ्यते ॥ ६३ ॥

उत्तमं नवनीतं चेत् प्रत्युषे मथितं दधि ।
बाल्येऽनुरागो यद्यास्ते दृढ़तामेति स क्रमात् ॥ ६४ ॥

वैराग्यं त्रिविधम्

मन्दवैराग्यवानाशावशो ब्रूते 'भविष्यति' ।
क्षुरवत्तीक्ष्णवैराग्यं पाशच्छेदकरं क्षणात् ॥ ६५ ॥

इस कलियुग में होम, याग, तन्त्र, मन्त्र आदि का कोई प्रयोजन नहीं है। चंडाल भी सदा ईश्वरभक्त होने पर मुक्त हो सकता है। केवल हरि-नाम या रामनाम लेने से ही भगवान में भक्ति होगी। हरिभक्ति-परायण होने से चंडाल भी मुक्तिलाभ कर सकता है ॥ ६२ ॥

जिस व्यक्ति का मन कुटिल और अपवित्र होता है, और जो सदा ही हर विषय में सन्देह करता है तथा जो घमंड करता है और अपने को पवित्र तथा धार्मिक समझता है, वह ज्ञानलाभ नहीं कर सकता ॥ ६३ ॥

यदि तड़के दही मथा जाय तो अच्छा मक्खन तैयार होता है। इसी प्रकार बचपन से भगवान में भक्ति और अनुराग होने से वह क्रमशः वर्धित और दृढ़ होता है ॥ ६४ ॥

वैराग्य त्रिविध है

मन्द वैराग्यवाले व्यक्ति आशा के वशीभूत होकर कहता है कि 'सब ठीक हो जायगा', किन्तु छूरे की धार की तरह तीव्र वैराग्य संसार-बंधन को उसी क्षण छिन्न कर डालता है ॥ ६५ ॥

अन्यन्मर्कटवैराग्यं भवज्वालाकुलो यदि ।
गैरिकं परिधायापि पुनः संसारमाविशेत् ॥ ६६ ॥

नाम्भोगङ्गाजलं धूलिर्न च वृन्दावने रजः ।
जगन्नाथप्रसादोऽपि नान्नं ब्रह्मैव तत् त्रयम् ॥ ६७ ॥

सह्या निन्दास्तुतिर्वान्यकृताः श्रेष्ठगुणो हि सः ।
सूमी किं लोहकारस्य घनाघातैर्विचाल्यते ॥ ६८ ॥

वचो महात्मनां दूराच्छ्रूयते न समीपतः ।
आलोकः प्रसरेद्दूरं परं दीपतले तमः ॥ ६९ ॥

और एक प्रकार का मर्कट-वैराग्य है । गृहस्थी की झंझटों से परेशान होकर किसी मनुष्य में एकाएक उसी तरह का मर्कट-वैराग्य उत्पन्न होता है और वह गेरुआ वस्त्र पहन कर साधु बन जाता है । उसके बाद परेशानी का भाव घट जाने पर वही मनुष्य फिर गृहस्थी में प्रवेश करता है ॥ ६६ ॥

गंगा का जल केवल मामूली जल ही नहीं है, वृन्दावन की धुल केवल रज या मिट्टी ही नहीं है, और जगन्नाथ का प्रसाद भी केवल अन्न ही नहीं है । ये तीनों ही ब्रह्मस्वरूप हैं ॥ ६७ ॥

दूसरे मनुष्य यदि निन्दा या प्रशंसा करे तो उसे समान भाव से ही ग्रहण करना चाहिए । यह एक श्रेष्ठ गुण है । क्या लोहार की निहाई हथौड़ी के आघात से विचलित होती है ? ॥ ६८ ॥

जो लोग दूर पर हैं वे ही महापुरुष की बात सुनते तथा ग्रहण करते हैं, किन्तु जो लोग पास रहते हैं वे महापुरुषों की बात नहीं ग्रहण करते । दीपक का प्रकाश दूर तक फैल जाता है, किन्तु नीचे अंधेरा ही रहता है ॥ ६९ ॥

पुत्रादौ स्नेहभावो यः सा माया बन्धकारणम् ।
प्रेम सर्वेषु भूतेषु 'दया' सेवास्वरूपिणी ।। ७० ।।

मा ब्रूहि 'भगवान्दूरे स मयीत्थं विभावय ।
हस्तस्थिते प्रदीपे नोऽन्धकारस्य प्रकल्पना ।। ७१ ।।

संसारासक्तचित्तस्य लभ्यो नावसरः क्वचित् ।
ज्ञानचर्चाविधानार्थं त्याज्याऽऽसक्तिरतो भवे ।। ७२ ।।

आनन्दानुभवे जाते विचारोऽपि समाप्यते ।
मधुपानरसाऽऽसक्तो भृङ्गः कलकलं त्यजेत् ।। ७३ ।।

अनिशं स्मरणीयं यद् वयं मृत्युमुखे स्थिताः ।
गन्तव्यमखिलं त्यक्त्वा मरणे सर्वमस्थिरम् ।। ७४ ।।

पत्नी, पुत्र आदि के ऊपर स्नेह का नाम माया है, वह बन्धन का कारण है । सभी प्राणियों पर प्रेम को दया या सेवा कहते हैं ।। ७० ।।

भगवान मुझसे दूर हैं, ऐसी बात मत बोलो । वे मेरे भीतर हैं, ऐसी चिन्ता करो । हाथ में दीपक रहने से अन्धकार की कल्पना भी नहीं करनी चाहिए ।। ७१ ।।

गृहस्थी में आसक्तचित्त व्यक्ति को ज्ञान की आलोचना करने का अवकाश भी नहीं होता । इस कारण गृहस्थी की आसक्ति का त्याग करना चाहिए ।। ७२ ।।

ब्रह्मानन्द का अनुभव होने पर विचार भी समाप्त हो जाता है । मधुपान में आसक्त भ्रमर कलकल शब्द त्याग करता है ।। ७३ ।।

सदा स्मरण रखना चाहिए कि हम मृत्यु के मुख में अवस्थित हैं । गृहस्थी की विषय सम्पत्ति आदि सब कुछ छोड़कर ही वहाँ जाना पड़ेगा । इस मृत्युलोक में सभी नाशवान हैं ।। ७४ ।।

बीजादङ्कुरमुद्भवेत्तदनुसंजायेत बालस्तरुर्वृद्धोऽसो
विटपीक्रमेण परितः पुष्पैर्भवेद्भूषितः।
पश्चात्तत्र फलागमः सपदि किं बीजात्फलं जायते?
लाभोऽपीश्वरदर्शनस्य नियमेनाराधनातः शनैः ॥ ७५ ॥

सांसारिकेषु विषयेषु भवेदनास्था
दोषान् विभाव्य मनसा खलु तेषु तेषु।
मिष्टान्नमाननगतं मधुरं क्षणं स्यात्
कुक्षौ प्रविष्टमखिलं मलमूत्ररूपम् ॥ ७६ ॥

इति श्रीरामकृष्णोपदेशसाहस्र्यां विविधोपदेशनामकः
पञ्चदशोऽध्यायः समाप्तः ॥ १५ ॥

बीज से अंकुर उत्पन्न होता है, उससे पौधा पैदा होता है, उसके अनन्तर वृक्ष बड़ा होने पर क्रमशः फूलों से सुशोभित होता है। उसके बाद फल होता है। क्या बीज से एकाएक फल होता है? इसी प्रकार क्रमशः साधन करते रहने से ही ईश्वरलाभ हो सकता है ॥ ७५ ॥

विभिन्न सांसारिक विषयों में दोष देखते रहने से मन में उनपर वितृष्णा उत्पन्न होती है। मुख के भीतर जब तक मिठाई रहती है तब तक उसका मीठा स्वाद मिलता है, किन्तु पेट के भीतर चले जाने पर सभी मल-मूत्र में परिणत हो जाते हैं ॥ ७६ ॥

श्रीरामकृष्णोपदेशसाहस्री का 'विविधोपदेशनामक'
पन्द्रहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ १५ ॥

मार्गनिर्देशो नाम षोडशोऽध्यायः

मार्गनिर्देशः

ईशः कल्पतरुर्यतोऽभिलषितं सर्वं समासाद्यते
तस्मात् कामय सावधानमनसा त्वं त्यागसेवादिकम् ।
कश्चिच्छ्रान्ततनुर्वनस्य पथिको लब्ध्वापि कल्पद्रुमात्
शय्याभोजनसेविकादिकमलं शार्दूल-भक्ष्योऽजनि ।। १ ।।

तैलाभ्यक्ता न लेखार्हा पट्टिका खटिकां विना ।
जीवो न कामतैलाक्तः साधनार्होऽविरागतः ।। २ ।।

मार्गनिर्देश

ईश्वर कल्पवृक्ष के समान हैं, जिनसे हम अभिलषित सभी पदार्थ पा सकते हैं। यदि उनसे कुछ माँगना हो तो विशेष विचार करके सावधानी के साथ त्याग, सेवा आदि माँगो। कोई मनुष्य जंगलों में भटकते हुए थक गया, किंतु दैवयोग से एक कल्पवृक्ष के नीचे आ बैठा। बिछौना, भोजन, सेविका आदि की कामना करते ही वह सब पा गया, किन्तु अंत में बाघ की बात मन में आते ही उस कल्पना ने बाघ का रूप धारण कर उसे खा डाला ।। १ ।।

कागज में तेल लगने से उस पर खड़िया मिट्टी का चूर्ण लगाये बिना लिखा नहीं जाता, इसी प्रकार जब तक जीव कामना-वासना रूप तेल से लिप्त रहता है, तब तक वैराग्य न होने के कारण वह साधन के योग्य नहीं होता ।। २ ।।

भग्नपादस्य जामातुः स्थाने नान्यः प्रयुज्यते ।
विग्रहः कुत्रचिद्भग्नः पूज्यः सन्धिविधानतः ॥ ३ ॥

प्रयो जना रूपधनादिकृष्टास्त्यागाच्च योगादपि विप्रकृष्टाः ।
रामोऽभिरामो हृदये स्थितश्चेद् ध्रुवो भवेद्ब्रह्मपदस्य लाभः ॥ ४ ॥

विषयासक्तचित्तस्य प्रियं न विषयात्परम् ।
मत्स्यगन्धः प्रियो दाश्या न प्रियं पुष्पशौरभम् ॥ ५ ॥

यावन्न विषयासक्तिस्तावत्तेजस्तटस्थता ।
भोगाकृष्टस्य मनसोऽधःपातश्चाटुकारिता ॥ ६ ॥

दामाद का पैर टूट जाय तो उसके बदले दूसरा दामाद नहीं लाया जाता। इसी प्रकार देवमूर्ति का अंग टूट जाने से उसकी मरम्मत कर पूजा करनी चाहिए ॥ ३ ॥

प्रायः लोग रूप, धन आदि में आकृष्ट होते हैं, किन्तु त्याग, योग आदि से वे दूर रहते हैं। मनोभिराम सुन्दर रामचन्द्र यदि हृदय में रहें तो निश्चय ही ब्रह्मपद लाभ होगा ॥ ४ ॥

जिस मनुष्य का चित्त विषयों में आसक्त रहता है, उसे विषय के सिवाय अन्य कोई वस्तु अच्छी नहीं लगती। एक मछुए की स्त्री एक माली के घर में रात को रह गयी थी, किन्तु फूल की गंध से उसे नींद नहीं आ रही थी। उसके बाद जब उसकी नाक के पास मछली का झौआ रख दिया गया तब उसे सड़ी मछली की गंध से नींद आ गयी ॥ ५ ॥

जब तक मन में विषयासक्ति नहीं आती, तब तक उसमें आत्मतेज और संसार के ऊपर वैराग्य रहता है और जिस मनुष्य का मन भोग में आसक्त रहता है उसका अधःपतन निश्चित है। ऐसा मनुष्य स्वार्थ के लिए दूसरों की खुशामद करता है ॥ ६ ॥

समीक्ष्य मार्गे वनितां चलन्तीं मातर्नमामीति वचोऽभिधेयम् ।
कृत्वा दृशं तच्चरणैकलग्नां भवेन्न चैवं पतनाद्भयं ते ॥ ७ ॥

आसक्तिः

सरला नास्त्यनासक्तिः सक्तो राजेश्वरं स्मरन्
प्रार्थना समये ब्रूते "देहीशः ! धनसम्पदम्" ।
धनकामनया कश्चित् राजानं दुर्गतो गतः ।
तं च वीक्ष्य धनासक्तमीशभक्तोऽभवत् स्वयम् ॥ ८ ॥

मत्तोऽप्याढ्यतरोऽस्तीति मत्वा स्वाहङ्कृतिं त्यजेत् ।
खद्योताद्भं ततश्चन्द्रस्तस्मात्सूर्योऽधिकप्रभः ॥ ९ ॥

रास्ते में यदि कोई स्त्री चली जाती हो, तो उसे—"माँ, मैं तुम्हें प्रणाम करता हूँ"—ऐसा मधुर वचन कहना चाहिए । अपनी दृष्टि उसके चरणों की ओर लगाये रखने से तुम्हें पतन का भय नहीं रहेगा ॥ ७ ॥

आसक्ति

अनासक्ति सहज नहीं है । विषयों में अत्यन्त आसक्त किसी राजा ने भगवान का स्मरण कर प्रार्थना के समय कहा था—"हे भगवन ! मुझे धन-सम्पत्ति दीजिए ।" कोई गरीब व्यक्ति धन पाने की आशा से उस राजा के पास आया, किन्तु जब सुना कि वह राजा भी ईश्वर से अधिक धन की प्रार्थना कर रहे हैं तो वह भी राजा से धन-दौलत न मांग कर ईश्वर का भक्त होकर उन्हीं से धन माँगने लगा ॥ ८ ॥

मुझसे भी अधिक धनवान मनुष्य है, इस बात का स्मरण कर अहंकार छोड़ देना चाहिए । जुगनू की अपेक्षा नक्षत्र, नक्षत्र की अपेक्षा चन्द्र और चन्द्र की अपेक्षा सूर्य अधिक ज्योतिष्मान है ॥ ९ ॥

मूषकार्थं बिड़ालोऽस्तु बिड़ालार्थं च गौस्ततः ।
गोचरं भवनं भृत्या इति साधोर्विडम्बना ॥१०॥

पक्वापक्वजीवाः

गृहाजिरे रक्षति कुम्भकारः पक्वानपक्वांश्च घटाननेकान् ।
गौरागता तत्र भिनत्त्यपक्वान् पक्वांस्तदान्यत्रगतान् विधत्ते ॥११॥

धेन्वापरं भग्नघटानपक्वान् विधाय मृत्पिण्डमयान् कुलालः ।
निधाय चक्रे च पुनर्नवीनान् निर्मात्ययं विक्रयकार्यहेतोः ॥१२॥

किसी साधु की कुटिया में चूहे बहुत परेशान करते थे, इस कारण उन्होंने एक बिल्ली को पोसा । उस बिल्ली को दूध पिलाने के लिए एक गाय रखनी पड़ी । उसके बाद गाय को घास देने के लिए साधु ने जमीन खरीदी, मकान बनवाया और नौकर रखा अर्थात् साधु का जीवन विडम्बना-पूर्ण हो गया । विषयवासना सारे अनर्थों का मूल है ॥ १० ॥

जीव पक्व और अपक्व हैं

कोई कुम्हार अपने आँगन में कच्चे और पक्के अनेक घट रखता था । किसी गाय ने आकर कच्चे घड़ों को तोड़ डाला । तब उस कुम्हार ने पक्के घड़ों को सुरक्षित स्थान में रख दिया ॥ ११ ॥

किन्तु गाय ने जिन कच्चे घड़ों को तोड़ा था, उन्हें कुम्हार ने फिर पिण्डित कर पूर्ववत् चाक में डाल कर नये घड़े बना कर बेचने के लिए रख दिया ॥ १२ ॥

अज्ञानिनोऽपक्वधियोऽपि जीवाः पुनः पुनर्जन्मसरित्प्रवाहे ।
वहन्ति, चक्रभ्रमितो विमुक्ताः पक्वास्तथा ज्ञानयुता भवन्ति ।।१३।।

विनश्यति लये सर्वं न किञ्चिदवशिष्यते ।
पुनर्बीजानि जननी जनिकाले प्रसारयेत् ।।१४।।

सृष्टौ नानाविधा जीव-जन्तवः पशुपक्षिणः ।
वृक्षादयश्च विद्यन्ते साध्वसाधुप्रकारकाः ।।१५।।

चतुर्विधजीवाः

बद्धा मुमुक्षवो मुक्ता नित्या जीवाश्चतुर्विधाः ।
बद्धास्तु विषयासक्ता विस्मृतेश्वरचिन्तनाः ।।१६।।

इसी प्रकार अल्पबुद्धि वाले अज्ञानी मनुष्य जन्म-मृत्यु रूप नदी-प्रवाह में भ्रमण करते रहते हैं, किन्तु परिपक्व बुद्धि युक्त ज्ञानी जन्म-मृत्यु के चक्र से मुक्त हो जाते हैं ।। १३ ।।

महाप्रलय में सभी पदार्थ नष्ट हो जाते हैं, कुछ भी बाकी नहीं रहता । पुनः सृष्टि के समय जगज्जननी संचित बीजों को छींट देती हैं । इसी प्रकार नयी सृष्टि आरंभ होती है ।। १४ ।।

सृष्टि में अनेक प्रकार के जीव, जन्तु, पशु, पक्षी, वृक्ष, लता आदि दिखाई पड़ते हैं । उनमें कुछ अच्छे और कुछ बुरे हैं । परन्तु सभी का प्रयोजन है ।। १५ ।।

चतुर्विध जीव

जीव चार प्रकार के हैं - बद्ध, मुमुक्षु, मुक्त और नित्य । उनमें विषयासक्त और ईश्वर-चिंता-विहीन व्यक्ति बद्ध हैं ।। १६ ।।

जीवा मुमुक्षवः सन्ति मुक्तिकामा निरन्तरम् ।
केचिदेवाचिरान्मुक्ताः प्रतीक्षन्ते चिरं परे ।।१७।।

मुक्ताः पूर्णतयाऽसक्ता निवृत्तविषयास्तथा ।
नान्यत्कार्यं भवेत्तेषां नामस्मरणतः परम् । १८।।

नारदाद्यास्तु नित्यास्ते भवे भ्रमणतत्पराः ।
जगत्कल्याण - सिद्ध्यर्थं लोकशिक्षार्थमेव च ।।१९।।

जालेबद्धाश्छिन्नजाला जालतो मोक्तुमिच्छवः ।
सर्वथाऽस्पृष्टजालाश्च मत्स्या अपि चतुर्विधाः ।।२०।।

मुमुक्षु जीव सदा मुक्ति की कामना करते हैं । उनमें कोई साधन के बल से शीघ्र ही मुक्तिलाभ करते हैं और अन्य कोई मुक्ति के लिए बहुत दिनों तक प्रतीक्षा करते हैं ।। १७ ।।

मुक्त जीव पूर्णरूप से विषयासक्ति छोड़कर निर्लिप्त होकर संसार में रहते हैं । उन्हें भगवान के नाम का स्मरण करने के अतिरिक्त अन्य कोई काम नही रहता ।। १८ ।।

नारद आदि ऋषि नित्य जीव रूप से कथित होते हैं । वे धर्मदान कार्य के लिए सदा भ्रमण करते रहते हैं । जगत्कल्याण और लोकशिक्षा ही उन जीवन का एकमात्र लक्ष्य हैं ।। १९ ।।

मछलियाँ भी ४ प्रकार की हैं—जाल में आबद्ध, जाल तोड़कर निकल जानेवाली, जाल से मुक्त होने के इच्छुक तथा जाल को न छूने वाली अर्थात् कभी जाल में नहीं फँसतीं ।। २० ।।

मोदकावृतिरेकैव पूरणं विविधं पुनः ।
एकरूपा नराः सर्वे तथापि गुणभिन्नता ।।२१।।

ज्ञानिनः अज्ञानिनश्च

यावल्लाङ्गुलिनो भेकाः स्थितास्तावत्सरोजले ।
नष्टपुच्छाः पुनर्यान्ति सरस्तीरे पयस्यपि ।।२२।।

अविद्याकलितास्तद्वन् नरा भवजले स्थिता ।
त्यक्ताविद्याः सुखं सन्ति भवे सच्चित्सुखेऽपि च ।।२३।।

विभिन्न मिठाइयों के बाहरी आवरण एक जैसे होने पर भी उनके भीतर की मीठी चीजें विभिन्न हैं । इसी प्रकार सांसारिक मनुष्य बाहर से देखने में एक प्रकार होने पर भी उनके भीतर विभिन्न सत्त्व, रज और तम गुण रहते हैं ।। २१ ।।

ज्ञानी और अज्ञानी

जब तक मेंढकों के बच्चों की दुम रहती है, तब तक वे जल में ही रहते हैं । उसके बाद दुम के गिर जाने पर वे जल में भी रहते हैं और जलाशय के तीर पर भी घूमते-फिरते हैं ।। २२ ।।

उसी प्रकार अविद्याच्छन्न लोग संसार-समुद्र के जल में ही रहते हैं । उस अविद्या का परित्याग करने से वे संसार में सुख से विचरण करते हैं और सच्चिदानन्द-समुद्र में भी निमग्न होते हैं ।। २३ ।।

बद्धा मुक्ताश्च

कुलशीलघृणाजातिलज्जाभीशोकगोपनैः ।
पाशैरष्टविधैर्बद्धो जीवोऽयं कष्टजीवनः ॥२४॥

अवताराः परं स्वेच्छागृहीताऽऽवरणाः पुरः ।
मात्राऽऽज्ञप्तास्त्यक्तपाशाः क्रीडन्ति पृथुका इव ॥२५॥

द्विविधाः साधवः

साधवो द्विविधा नित्यसिद्धाः साधनतत्पराः ।
प्रह्लादवन्नित्यसिद्धा येऽपेक्षन्ते न साधनम् ॥२६॥

बद्ध और मुक्त

कुल, शील, घृणा, जाति, लज्जा, भय, शोक और गोपन स्वभाव इन ८ पाशों से आबद्ध होकर जीव संसार में कष्ट पाते हैं ॥ २४ ॥

किन्तु जो लोग ईश्वर के अवतार हैं वे जान-बूझ कर अपने शरीर पर मनुष्य देह रूप एक आवरण पहन कर संसार में रहते हैं। बाद में जगज्जननी की इच्छा से आसक्ति रूप पाश छोड़कर बालक की तरह जीवोद्धार रूप लीला करते हैं ॥ २५ ॥

द्विविध साधू

साधु दो प्रकार के हैं—नित्य-सिद्ध और साधन-परायण। प्रह्लाद आदि नित्य-सिद्ध हैं, उन्हें किसी साधन की आवश्यकता नहीं है। वे जन्म से ही पूर्ण ज्ञानी या पूर्ण भक्त है ॥ २६ ॥

होमापक्षी नभस्यण्डं दद्यात्तत्र स्फुटेच्च तत् ।
शावकोऽथ सपक्षः सन् उत्पतेदपि तत्क्षणात् ॥२७॥

केचित्साधनमर्हन्ति लाभाय परमात्मनः ।
सन्ति साधनसिद्धास्ते जलार्थं कृषका यथा ॥२८॥

कृपासिद्धा भवन्त्यन्ये ये न कुर्वन्ति साधनम् ।
सफला जीवने सन्ति परमीशकृपावशात् ॥२९॥

अनुरागं विना व्यर्थं केवलं नामकीर्तनम् ।
भोगेच्छापूरिते चित्तेऽनुरागः कथमाविशेत् ॥३०॥

होमा नामक चिड़िया ऊँचे आकाश में अण्डा देती है । आकाश से उतरते समय वह अण्डा फूट जाता है और उसी समय वह बच्चा पर फैलाकर उड़ने लगता है तथा आकाश में पक्षीमाता के साथ मिल जाता है ॥ २७ ॥

कोई मनुष्य भगवान को प्राप्त करने के लिए साधन करता है । जैसे कृषक खेतों में जल देने के लिए अनेक प्रकार से चेष्टा करते हैं, उस प्रकार के साधक को साधन-सिद्ध कहते हैं ॥ २८ ॥

जो लोग साधन नहीं करते, किन्तु भगवान की कृपा से जीवन में सिद्धि-लाभ करते हैं, उन्हें कृपासिद्ध कहते हैं ॥ २९ ॥

अनुराग के बिना श्रीभगवान के नामकीर्तन करने से कोई फल नहीं होता । जो चित्त भोगेच्छा से पूर्ण है, उसमें भगवान के प्रति अनुराग कैसे प्रविष्ट होगा ? ॥ ३० ॥

मानसोद्दीपकं नित्यं सतां मन्दिरदर्शनम् ।
तत्रैव सर्वतीर्थानि यत्रेश्वरकथावचः ॥३१॥

अनुरागः

शिवानुचिन्तारतमानसङ्गे प्रदत्तपादो यमिनाथ तेन ।
वेश्यारतः कश्चन भानशून्यः प्रोक्तो रुषा भोः किमिदं करोषि ? ॥३२॥

विलासिना चित्रितमानसेन ध्याने रतः सादरमेवमूचे ।
वेश्यारतोऽहं किमपीह नेक्षे त्वमीशभक्तः कथमीक्षसे माम् ॥३३॥

आगम्य भक्तोऽप्यथ वारनारीं तामुक्तवानद्य गुरुर्ममाभूः ।
'ईशेऽनुरागः खलु कीदृशः स्याद् इति त्वया शिक्षितमद्य मातः ॥३४॥

साधु लोग यदि मन्दिर में देवदर्शन करते हैं तो उनके मन में भक्ति की उद्दीपना आती है। जहाँ भगवान की नामगुणकीर्तन या वार्तालाप होता है वहाँ सारे तीर्थों का समावेश होता है ।। ३१ ।।

अनुराग

एक शिव-भक्त शिवजी का ध्यान कर रहे थे, एक दूसरा वेश्यासक्त मनुष्य उनकी गोद में पैर रखकर चला गया, क्योंकि उसे वेश्या के अतिरिक्त और किसी ओर ध्यान नहीं था। शिवभक्त ने क्रोध के साथ उससे कहा—''अरे, तू क्या कर रहा है ? ।। ३२ ।।

उस भोगासक्त विलासी व्यक्ति ने ध्यान-मग्न भक्त से विनय के साथ कहा—''मैं वेश्या के प्रति एकाग्रचित्त रहने से कुछ भी नहीं देख सका। किन्तु ईश्वर-भक्त होकर आपने मुझे कैसे देखा ? ।। ३३ ।।

शिवभक्त ने उस मनुष्य के पीछे जाकर उस वेश्या से कहा—''माँ, आज तुम मेरे गुरु हुई। ईश्वर में कैसा अनुराग होना चाहिए उसे तुमने मुझे सिखा दिया ।। ३४ ।।

न केवलं जगद् याति विस्मृतिं जपतो हरिम् ।
देहोऽपि विस्मृतिं याति यस्तस्यातिप्रियो भवेत् ॥३५॥

विषया विनिवर्तन्ते स्वयमेवेशभक्तितः ।
शर्करापेयमास्वाद्य गुड़पेयं न ना स्मरेत् ॥३६॥

रुचिस्तु भगवन्नाम्नि विकारे मनसोऽरुचिः ।
इदं निर्भयतायाश्च प्रेमवृद्धेश्च लक्षणम् ॥३७॥

मुक्तो गजस्तरुंश्छिन्दन् अङ्कुशेन निवार्यते ।
तद्वन्मनो गजो याति विवेकाङ्कुशतो वशम् ॥३८॥

हरिनाम का जप करते रहने से केवल संसार का ही विस्मरण होता है, ऐसा नहीं । उससे तो भक्त अपने अति प्रिय शरीर को भी भूल जाता है । हरिनाम की ऐसी ही महिमा है ॥ ३५ ॥

ईश्वरभक्ति से विषय-वासना नष्ट हो जाती है, जैसे चीनी का शरबत पीने पर गुड़ का शरबत पीने की इच्छा नहीं होती ॥ ३६ ॥

भगवान के नाम में रुचि और मानसिक विकार में अरुचि, ये दोनों ईश्वर में निर्भयता तथा प्रेमवृद्धि के लक्षण हैं ॥ ३७ ॥

मस्त हाथी मुक्त रहने से अनेक पेड़-पौधों को तोड़ डालता है, तब केवल अंकुश के द्वारा ही वह वश में लाया जाता है । इसी प्रकार मन रूप हाथी जब मत्त हो जाता है तो विवेक रूप अंकुश के द्वारा उसे वश में लाना पड़ता है ॥ ३८ ॥

प्रविश्य नाशयेत्पूर्णं तूर्णं तृणगृहं गजः ।
भावहस्ती प्रविश्यान्तर्देहागारं विनाशयेत् ॥३९॥

नाममहिमा

कदापि पतितं वेश्मन्यासीद् बीजं क्वचित्पुनः ।
भूकम्पतो गृहे नष्टे बीजाद् वृक्षश्चिराद्भूत् ॥४०॥

नाम्न्येवं शक्तिरीशस्य कदापि फलिता भवेत् ।
तुलसीकृष्णनामभ्यां भामाकार्षीत्तुलां हरेः ॥४१॥

हाथी घास-फूस के घर में घुसकर तुरन्त उसे तोड़ डालता है। ऐसे ही भगवद्भाव रूप हाथी भक्त के शरीर के भीतर प्रविष्ट होकर सभी कुभावनाओं को और अपने शरीर को भी सदा के लिए नष्ट कर डालता है ॥ ३९ ॥

नाम की महिमा

किसी मकान के कोने में एक फल का बीज पड़ा था। उसके बाद भूकम्प से वह मकान नष्ट होने पर भी उस बीज से किसी समय वृक्ष उत्पन्न हुआ। इसी प्रकार ईश्वर के नाम में भी महान् शक्ति है। समय आने पर उससे भी फल अवश्य ही उत्पन्न होता है। सत्यभामा ने एकबार श्रीकृष्ण को तौला था। उन्होंने पलड़े के एक ओर एक तुलसी-पत्र में श्रीकृष्ण का नाम लिखकर उसे रख दिया और दूसरे पलड़े में श्रीकृष्ण को बिठाया। तब देखा गया कि श्रीकृष्ण का नामयुक्त तुलसीपत्र वाला पलड़ा भारी हो गया है। तात्पर्य यह है कि भगवान की अपेक्षा उनके नाम की महिमा अधिक है ॥ ४०–४१ ॥

विषं विषधरस्यास्ये न तद्बाधाकरं भवेत्।
बाधतेऽन्यं तथेशस्य मायास्मान्मुग्धतां नयेत् ॥४२॥
यैर्मानुषाः शुचिभिरात्ममनःशरीरैर्र्हन्ति कर्तुमनिशं परमेशलाभम्।
शय्योपधानगृहसेवकशिष्यवृन्दैरौचित्यमेति मलिनीकरणं न तेषाम् ॥४३॥
ग्रन्थान् वार्तापत्रकान् वा लिखन्तु नैनेनैते यान्ति लोका महत्ताम्।
ईशस्येहामात्रतो योग्यतैषां पुष्पं भृङ्गार्थं वनेऽपि प्रसिद्धम् ॥४४॥
प्रयत्नेनापि महताऽहङ्कारो नोपहन्यते।
छिन्नेऽपि मस्तके छागकन्ध नृत्यतत्परम् ॥४५॥

साँप के मुख में विष रहने पर भी उससे उसकी कोई हानि नहीं होती। वह साँप जिसे काटता है, उसे हानि होती है। इसी प्रकार ईश्वर की माया उन्हें मोहित नहीं कर सकती, वह मनुष्य को ही मोहित कर डालती है ॥ ४२ ॥

मनुष्य जिन पवित्र आत्मा, मन और शरीरों के द्वारा परमेश्वर का लाभ कर सकते हैं, उन्हें शय्या, तकिया, घर, सेवक, शिष्यसमुदाय आदि द्वारा मलिन बनाना उचित नहीं। सारांश यह कि आत्मा, मन एवं शरीर को वैषयिक उपकरणों से न जोड़ कर परमेश्वर में ही लगाना चाहिए तभी वे विशुद्ध रहेंगे ॥ ४३ ॥

अनेक पुस्तकें लिखकर या समाचार-पत्रों में निबंध लिखकर मनुष्य महान नहीं हो सकता। केवल ईश्वर की कृपा होने से ही उनकी योग्यता बढ़ती है। जंगलों में फूल खिलते हैं किन्तु भ्रमर उन फूलों में जो मधु है उसकी गन्ध पाकर दूर जंगल में जाकर मधुपान करते हैं—यह बात प्रसिद्ध है ॥ ४४ ॥

बहुत चेष्टा करने पर भी मनुष्य का अहंकार नष्ट नहीं होता। बकरे का सिर काट डालने पर भी उसका शरीर कुछ समय तक छटपटाता रहता है। अर्थात् एकमात्र ईश्वर होने से ही मनुष्य के अहंकार अभिमान आदि बराबर के लिए नष्ट हो जाते हैं ॥ ४५ ॥

मनःस्थितिस्थापकयन्त्रशय्यासमं भरेणानमितं क्रियेत ।
भारे हृते पूर्ववदुन्नतं स्यात् सत्संग-भारो मनस्याप्यपेक्ष्यः ।।४६।।

साधनार्थं शरीरं ते साधनातः स्वदर्शनम् ।
तवात्मदर्शने जाते नैवोभाभ्यां प्रयोजनम् ।।४७।।

उन्मत्तानां ध्यानवार्ता स्त्रीप्रसङ्गश्च योगिनाम् ।
गृहिणां जगमिथ्यात्वं त्रितयं स्वात्मवञ्चना ।।४८।।

संग्रहः

सरघा सिक्थकगृहे मधुसञ्चयतत्परा ।
अपरैर्हृतसर्वस्वा साऽवधूतगुरुस्ततः ।।४९।।

मन स्प्रिंगदार बिछौने की तरह भार लादने पर नीचे दब जाता है और उस भार को हटा लेने से फिर वह पहले की तरह उठ आता है। इसी प्रकार मन को वशीभूत रखने के लिए सत्संग रूप भार लादना चाहिए ।।४६।।

केवल साधन करने के लिए ही तुम्हारा शरीर है। उसी साधन से तुम आत्मदर्शन कर सकोगे। आत्मदर्शन होने पर तुम्हें शरीर और अन्य साधन का कोई प्रयोजन नहीं रहेगा ।। ४७ ।।

पागल के लिए भगवान के ध्यान की बात, योगियों के लिए स्त्री-प्रसंग की बात और गृहस्थों के लिए जगत् के मिथ्या होने की बात—ये तीनों आत्मप्रवंचना मात्र हैं ।। ४८ ।।

संग्रह

मधुमक्खियाँ अपने मोम के घर में मधुसंचय करने के लिए व्यस्त रहती हैं, किन्तु दूसरे लोग आकर उनके संचित मधु लूट ले जाते हैं। इसी तरह संचय का परिणाम देखकर अवधूत ने मधुमक्खियों को गुरु बनाकर संचय करना उचित नहीं है यही शिक्षा पाई ।। ४९ ।।

संसारे तु सदा दोषः सर्वस्वहरणं फलम् ।
अधिकेन न कोऽप्यर्थः कुटुम्बं परिपालय ॥५०॥

ध्यानम्

गतागतपरे लोके सवाद्ये वरयात्रिणि- ।
लक्ष्ये बद्धमना व्याधोऽवधूतस्य गुरुः परः ॥५१॥

नवप्रस्थानि वृन्ताकी सहस्रं वस्त्रविक्रयी ।
हीरकस्यावदन्मूल्यं लक्षं रत्नपरीक्षकः ॥५२॥

संसार में सब प्रकार के संचय ही दोषयुक्त है। इससे सर्वस्व-हरण रूप कुफल होता है। अधिक धन संचय करने से तुम्हें कोई लाभ नहीं है। केवल परिवार-पोषण के लिए तुम जितना आवश्यक है उतने धन का उपार्जन करो ॥ ५० ॥

ध्यान

एक व्याध अपने लक्ष्य के प्रति इतना अधिक एकाग्र था कि लोगों के आने-जाने और बाजा बजाते हुए बारातियों के गमन आदि के ऊपर उसका ध्यान ही नहीं था। इसे देखकर अवधूत ने उसे भी श्रेष्ठ गुरु बनाया तथा यही शिक्षा पाई कि भगवान-लाभ के लिए अत्यन्त एकाग्र चित्त से संसार को भूलकर ध्यान-परायण होना चाहिए ॥ ५१ ॥

किसी मनुष्य ने एक हीरे का दाम जानना चाहा। एक बैंगन बेचने वाले ने कहा कि मैं इसके बदले में सेर भर बैंगन दे सकता हूँ। एक वस्त्र-विक्रेता ने एक हजार रुपये दाम लगाया। एक रत्न-परीक्षक ने कहा इसका दाम १ लाख रुपये है ॥ ५२ ॥

सच्चिदानन्दमूल्यं तु द्वित्रा जानन्ति सज्जनाः ।
कथं वृन्ताकविक्रेता वदेद्धीरकमूल्यकम् ।।५३।।

संसारे सारमादाय सिद्धोऽसारं परित्यजेत् ।
हंसो हि क्षीरमादत्ते जलं त्यजति तद्गतम् ।।५४।।

पृषत्कशय्याशयनः सशोकः पितामहः पाण्डुसुतानुवाच ।
नारायणो नित्यमयं सहायो नान्तोऽस्ति युष्मद्विपदां तथापि ।।५५।।

सच्चिदानन्द भगवान को प्राप्त करने का मूल्य केवल इने-गिने महात्मा ही बता सकते हैं। बैंगन बेचने वाला हीरे का दाम कैसे जानेगा ? अर्थात् साधारण मनुष्य सच्चिदानन्द भगवान की महिमा कैसे जानेगा ? ।। ५३ ।।

संसार में सिद्ध पुरुष सार वस्तु का ग्रहण करके असार वस्तुओं का परित्याग करें। राजहंस दूध में जल मिला रहने पर उसमें से केवल दूध ही ग्रहण करता है, जल को छोड़ देता है ।। ५४ ।।

बाण की शय्या पर पड़े हुए शोक-सन्तप्त-चित्त से पितामह भीष्म ने पांडवों से कहा था—"साक्षात् नारायण सदा तुम्हारे सहायक हैं, फिर भी तुम लोगों की विपत्तियों का अन्त नहीं है। इससे आश्चर्य की बात और क्या हो सकती है ? ।। ५५ ।।

संसारः स्वप्नवदसत्यः

कुटुम्बिनो ज्ञानवतो मृतोऽभूद् विषूचिकाऽऽक्रान्तवपुः परासुः ।
सर्वान्सशोकानाधिकं प्रशान्तः पितोक्तवान् "किं मम नास्ति दुःखम् ? ॥५६॥
स्वप्ने स्वयं भूपतिरद्य जातः सप्तात्मजामे रुचिरास्तथासन् ।
राज्यं विनष्टं समुतं प्रभाते तथापि शान्तोऽस्मि कुतोऽसुखं वः ?" ॥५७॥

सांख्यम्

सांख्यदर्शनमते पुरुषोऽस्त्यकर्ता
दासीव कार्यमखिलं प्रकृतिः करोति ।
आदेशवांस्तु पुरुषः "क्रियतामिदं" सा
ब्रूते, "मया कृतमिदं वद किं विधेयम्" ? ॥५८॥

संसार स्वप्न की तरह मिथ्या है

किसी ज्ञानी गृहस्थ का लड़का कालरा रोग से अचानक मर गया। मकान के सभी लोग शोक करने लगे, किन्तु गृहस्थ ने प्रशान्तचित्त से उन लोगों से कहा—"क्या मुझे दुःख नहीं हो रहा है ? आज मैंने स्वप्न में देखा था कि मैं राजा हो गया हूँ और मेरे सात सुन्दर लड़के हुए हैं, किन्तु सुबह उठकर देखता हूँ कि मेरे राज्य, पुत्र सभी नष्ट हो गये हैं। इतना होते हुए भी मेरा चित्त शान्त है, अब मैं इस एक पुत्र के लिये शोक करूँगा या मैंने जो राज्य, सात पुत्र पाये थे उनके लिये शोक करूँगा ? फिर तुम लोग इतने दुःखी क्यों हो रहे हो ? ॥ ५६–५७ ॥

सांख्य

सांख्य दर्शन के मतानुसार पुरुष अकर्ता है और प्रकृति दासी की तरह उसकी अवस्थिति से सभी कार्य करती है। आदेश देनेवाला पुरुष मानो कहता है—'यह काम करो और वह काम करो'। और प्रकृति कहती है—'प्रभु, मैंने सब कर दिया है और क्या करूँगी, बताइये' ॥ ५८ ॥

शक्तिः परं ब्रह्म च भेदशून्ये यः पूरुषः सा प्रकृतिः प्रतीता।
एकः पदार्थः किल कार्यभेदात् द्वेधा, स्थिरोऽहिर्गतिमान् कदापि ॥५९॥

स्थिरे भुजङ्गपुरुषे प्रकृतिर्न ततः पृथक्।
तस्मिंश्च ते पृथग्भूता सा स्वकार्यकरी मता ॥६०॥

वेदान्तम्

जाग्रज्जगत्स्वप्नसमं न सत्यं मायामयं भ्रान्तिमदिन्द्रजालम्।
वेदान्तदृष्टया चितिरेव वस्तु सर्वास्ववस्थास्वपि साक्षिरूपम् ॥६१॥

कश्चिद्धनी समुपवेश्य निजासने स्वं प्रत्नं भुजिष्यमथ सादरमुक्तवांस्तम्।
अद्यावयोरजनि सत्यमभेदबुद्धिरद्वैततत्त्वमिदमात्मरहस्यरूपम् ॥६२॥

शक्ति और परब्रह्म अभिन्न हैं। पुरुष ही प्रकृति हो जाते हैं। एक ही वस्तु कार्य के अनुसार दो रूप धारण करती है, कभी स्थिर और कभी गतिशील है। जैसे सांप कभी स्थिर रहता है और कभी चलता-फिरता है। स्थिर होने से ही पुरुष और कार्य करते रहने से ही प्रकृति है ॥ ५९–६० ॥

वेदान्त

जाग्रत् काल में यह परिदृश्यमान जगत स्वप्न की तरह मिथ्या है और वह भ्रम पैदा करनेवाला मायामय इन्द्रजाल है। वेदान्त की दृष्टि से चैतन्य ही एकमात्र सत्य वस्तु है, जो सभी अवस्थाओं में साक्षी रूप से विराजमान है ॥ ६१ ॥

किसी धनी व्यक्ति ने अपने पुराने नौकर को बहुत दिनों की सेवा से सन्तुष्ट होकर अपने आसन पर बिठा कर कहा—"आज से 'तुम और मैं' यह भेद समाप्त हो गया। आज से तुम मुक्त हो। आनन्द से सुखभोग करो।" इसी का नाम अद्वैत तत्त्व और आत्मा का रहस्य है मानो परमात्मा प्रसन्न होकर जीवात्मा को अपने में मिलाकर मुक्त कर देते हैं ॥ ६२ ॥

भगवान् नरेन्द्रं प्रति

कर्णे शूल इवाजनि श्रवणतो नित्यं वचः स्वार्थिता।
तत्कस्मैचन हृद्गतं कथयितुं मन्मानसं व्याकुलम् ॥
त्वं प्राप्तोऽसि चिरात् पुरातनमुनि र्नारायणो मूर्तिमान्।
नृणां दुर्गतिवाराणाय नियतं लोकेऽवतीर्णः स्वयम् ॥६३॥

इति श्रीरामकृष्णोपदेशसाहस्त्र्याम् मार्गनिर्देशोनाम
षोडशोऽध्यायः समाप्तः ॥ १६ ॥

भगवान नरेन्द्र के प्रति

"आज तक स्वार्थी लोगों की बातें सुन-सुनकर मेरे कानों में शूलदर्द हो गया है। मन की बात किससे कहूँ ? मेरा मन व्याकुल हो गया है। तुम साक्षात् आदि नारायण मुनि हो, संसार के कष्ट दूर करने के लिए तुम इस संसार में अवतीर्ण हुए हो" ॥ ६३ ॥

इस प्रकार श्रीरामकृष्णोपदेशसाहस्री का मार्गनिर्देश नामक
सोलहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ १६ ॥



ईश्वरदर्शनं नाम सप्तदशोऽध्यायः

मार्गेण नद्याः कुटिलेन गच्छन् चिरेण गन्तव्यपदं प्रयाति ।
प्लावे तु शीघ्रं सरलाध्वनेशलाभे तथर्जुं खलु भक्तिमार्गः ॥ १ ॥

ईशामृताब्धिमभ्येतुं मार्गाः सन्ति सहस्रशः ।
येन केनापि मार्गेण गन्तव्योऽसौ महोदधिः ॥ २ ॥

अमृतप्राशनादेव सुधाकुण्डे तु कुत्रचित् ।
मर्त्योऽमरत्वमाप्नोति नास्ति मार्गविचारणा ॥ ३ ॥

स्वयमुत्प्लुत्य वा तत्र सोपानक्रमशोऽथ वा ।
बलाद्वा पातितोऽन्येन फलमेकं 'नरोऽमरः' ॥ ४ ॥

"ईश्वरदर्शन" नामक सत्रहवाँ अध्याय

नदी के टेढ़े रास्ते से जाने पर गन्तव्य स्थान में पहुँचने में बहुत समय लगता है, किन्तु बाढ़ आने पर सीधे मार्ग से मनुष्य अल्प समय में गन्तव्य स्थान में पहुँच सकता है। अतः ईश्वरलाभ के लिए भक्तिमार्ग ही सबसे सीधा पथ है ॥ १ ॥

ईश्वर-स्वरूप अमृत-महासागर के निकट जाने के हजारों रास्ते हैं। साधक किसी भी रास्ते से क्यों न जायँ, सभी उनका वह महासागर ही गन्तव्य स्थान है ॥ २ ॥

किसी अमृतकुण्ड में जाकर सुधापान करने से ही मनुष्य अमर हो जाता है, किस रास्ते से उस अमृतकुण्ड पहुँचना होगा, इसके विचार का कोई प्रयोजन नहीं है ॥ ३ ॥

उस अमृतकुण्ड में मनुष्य स्वयं उछल पड़े या धीरे-धीरे सीढ़ी से उतर कर उस कुण्ड में पहुँचे अथवा अन्य किसी मनुष्य के धक्के से अमृतकुण्ड में गिर पड़े—सारे उपायों का एक ही फल होगा—अमरत्वलाभ ॥ ४ ॥

ये भक्तिज्ञानकर्माख्याः पन्थानः प्रथिताः शुभाः ।
केनाऽपि तेषु मनसा गमनात् प्राप्यते शिवः ॥ ५ ॥
प्रभुर्ज्ञानरविस्तस्य कृपा चेद्दर्शनं भवेत् ।
नस्यैकेनांशुना लोके ज्ञानालोकः प्रकाश्यते ॥ ६ ॥
येनालं वयमन्योऽन्यं ज्ञातुं विद्याश्च शिक्षितुम् ।
स्वस्याहितप्रकाशस्य दर्शनं तु भवेत् प्रभोः ॥ ७ ॥
सार्जन्टो दीपपाणिः सन् भ्राम्यतीतस्ततो निशि ।
नेक्षते तन्मुखं काऽपि पश्येत् सर्वमुखानि सः ॥ ८ ॥
यदि दीपधरो भासं कृपया स्वमुखोपरि ।
पातयेत् तन्मुखस्यापि दर्शनं सुकरं भवेत् ॥ ९ ॥

भक्तिमार्ग, ज्ञानमार्ग और कर्ममार्ग ये तीन पथ ही ईश्वरलाभ के लिए प्रख्यात हैं । इन तीनों पथों में किसी एक पथ का अवलम्बन करके अनन्यचित्त से व्याकुल होकर निरन्तर चलते रहने से अवश्य ही आनन्दस्वरूप ईश्वर का लाभ हो सकता है ॥ ५ ॥

भगवान ज्ञानसूर्यस्वरूप हैं । उनकी कृपा होने से ही उनका दर्शनलाभ होता है । उस ज्ञानसूर्य की एकमात्र किरण-कणिका से सभी ब्रह्माण्डों में प्रकाश दिखाई पड़ता है ॥ ६ ॥

इस ज्ञान के प्रकाश से हम एक दूसरे का स्वरूप जान सकते हैं तथा विविध प्रकार के ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं । जब भगवान कृपा करके अपने को प्रकाशित करते हैं, केवल तभी मनुष्य उस प्रभु का दर्शन पा सकता है ॥७॥

सर्जेन्ट साहब रात को लालटेन लेकर (स्टेशन पर) इधर-उधर टहलते हैं । कोई उनका मुख नहीं देख सकता, किन्तु वह सभी के मुख देखते हैं ॥८॥

यदि वे कृपा करके उस दीपक के प्रकाश को अपने मुख के ऊपर डालते हैं तो उनका मुख भी हम अनायास देख सकते हैं ॥ ९ ॥

एवं चेदीश्वरः कुर्याद् ज्ञानालोकं निजानने।
अनुकम्पापरस्तस्याप्यास्यं सुलभदर्शनम् ॥ १० ॥
नेशो गोचरतां याति नाराणां चर्मचक्षुषाम्।
अनिशं साधनाऽऽसक्तैः प्राप्या प्रेममयी तनुः ॥ ११ ॥
यदि प्रेममयं नेत्रं श्रुतिः प्रेममयी तथा।
चक्षुषैतेन दृश्यः स श्रुत्या श्रव्यं च तद्वचः ॥ १२ ॥
पाण्डुरोगी नरः पश्येत् पीतवर्णं यथा जगत्।
तथैवात्यन्तिकप्रेम्णा भवेदीशमयी हि दिक् ॥ १३ ॥
यथा दीपशिखासक्तदृष्टेः सर्वं शिखामयम्।
ईशचिन्तापरस्यैवं यान्ति तन्मयतां दिशः ॥ १४ ॥

इसी प्रकार यदि भगवान कृपा करके ज्ञान का प्रकाश अपने मुख पर डालते हैं, तो उनका दर्शन भी सुलभ हो सकता है ॥ १० ॥

मनुष्य के इन चर्मचक्षुओं के द्वारा ईश्वर-दर्शन सम्भव नहीं होता, जो लोग निरन्तर साधना करते रहते हैं, वे ही भगवान के प्रेममय शरीर का दर्शन प्राप्त कर सकते हैं ॥ ११ ॥

यदि चक्षु और कर्ण प्रेममय हो जाते हैं, तभी उन प्रेम-चक्षुओं से भगवान दिखाई पड़ते हैं और उन प्रेम-कर्णों से उनकी बात भी सुनाई पड़ती है ॥१२॥

पांडुरोगाक्रान्त व्यक्ति जिस प्रकार सारे जगत् को पीला देखता है, उसी प्रकार भगवान के प्रति आत्यन्तिक प्रेम होने से सभी दिशाएँ ईश्वरमय हो जाती हैं अर्थात् सभी दिशाओं से ईश्वरदर्शन होता है ॥ १३ ॥

जिस प्रकार दीपक की शिखा पर निरन्तर दृष्टि रखने से सर्वत्र दीपज्योति दिखाई पड़ती है उसी प्रकार सदा ईश्वरचिन्ता में डूबे रहने से सभी दिशाओं में ईश्वर-दर्शन होता है ॥ १४ ॥

ईश्वरे जायते प्रेम नित्यं निष्कामकर्मणा।
क्रमेण तत्कृपालाभे प्रभुः प्राप्तो भवत्यसौ ॥ १५ ॥

प्रत्यक्षं दर्शनं तस्य तेन साकं च भाषणम्।
नासम्भवं तव यथा मम वात्र त्वया सह ॥ १६ ॥

प्रवर्तकः साधकश्च सिद्धः सिद्धस्य सिद्धकः।
भक्ताश्चतुर्विधा ज्ञेया आद्यस्तत्र प्रवर्तकः ॥ १७ ॥

मालातिलकपुण्ड्राङ्को बाह्याचाररतस्तु सः।
साधकः प्रभुलाभार्थं नित्यं व्याकुलितान्तरः ॥ १८ ॥

प्रेम्णा तमाह्वयेच्छुद्धः प्रार्थयेन्नामकीर्तनैः।
ईशः सर्वकृदस्त्येवं यद्बुद्धिर्निश्चयात्मिका ॥ १९ ॥

निरन्तर निष्काम कर्म करने से भगवान के प्रति प्रेम उत्पन्न होता है। उसके बाद क्रमशः उनकी कृपा मिलने पर प्रभु को प्राप्त किया जा सकता है ॥ १५ ॥

जैसे तुम्हारे साथ मेरा वार्तालाप होता है, वैसे ही भगवान् का प्रत्यक्ष दर्शन प्राप्त होने पर उनके साथ भी वार्तालाप हो सकता है ॥ १६ ॥

भक्त चार प्रकार के हैं—प्रवर्तक, साधक, सिद्ध और सिद्ध का सिद्ध। इनमें प्रवर्तक भक्त प्रथम स्तर के हैं ॥ १७ ॥

प्रवर्तक भक्त माला, तिलक, त्रिपुण्ड्र आदि बाहरी आचारों में निरत रहते हैं और साधक भक्त निरन्तर भगवान को प्राप्त करने के लिए व्याकुल रहते हैं ॥ १८ ॥

यह साधक भक्त श्रद्धा के साथ भगवान की आराधना करते हैं और उनके नाम का कीर्तन करके प्रार्थना करते हैं। ईश्वर हैं और वह सब कुछ करते हैं, ऐसी बुद्धि को निश्चयात्मिका बुद्धि कहते हैं ॥ १६ ॥

स सिद्धः कथ्यते भक्तो यः साक्षात् पश्यतीश्वरम् ।
सिद्धस्य सिद्धः संलापं कुरुते प्रभुणा सह ॥ २० ॥

पितृवात्सल्यसख्याख्यैर्भावैर्मधुरभावतः ।
महतो महतस्तस्य नान्तोऽस्ताशस्य संस्थिते ॥ २१ ॥

काष्ठेऽग्निरिति विश्वासस्तथा काष्ठोत्थवह्निना ।
सिद्धपाकास्वादतृप्तिर्नैकत्वं गन्तुमर्हतः ॥ २२ ॥

न कर्मणा विनेशस्य दर्शनं शक्यसम्भवम् ।
ध्यानं दानं जपो यज्ञो निखिलं कर्मसंज्ञितम् ॥ २३ ॥

विना कर्म कुतो भक्तिर्विना कर्म कुतः प्रभुः ।
विना शैवालनिष्काशं न सरो जलदर्शनम् ॥ २४ ॥

और उन्हीं को सिद्ध भक्त कहते हैं जो साक्षात् ईश्वर का दर्शन करते हैं। सिद्धों में जो सिद्ध भक्त हैं वे प्रभु के साथ वार्तालाप भी कर सकते हैं ॥२०॥

भक्तों में जो सिद्ध भक्त हैं उनके मन में साधना के समय भगवान के प्रति पितृभाव, वात्सल्यभाव, सख्यभाव या मधुरभाव रहता है। यथार्थ में वे महान से भी महान हैं और वे अनादि और अनन्त हैं ॥ २१ ॥

जैसे 'लकड़ी में अग्नि है' ऐसा विश्वास, और उस लकड़ी में अग्नि उत्पन्न करके उससे रसोई पकाकर अन्न का स्वाद लेकर तृप्त होना—ये दोनों विषय भिन्न हैं, इसी प्रकार ईश्वर हैं और उनका दर्शन कर आनन्द लाभ करना दोनों विभिन्न विषय हैं ॥ २२ ॥

शुभ कर्मों के द्वारा चित्तशुद्धि हुए बिना ईश्वर का दर्शन मिलना संभव नहीं है। ध्यान, दान, जप, यज्ञ आदि सभी शुभकर्म नाम से कथित हैं ।२३॥

कर्म अर्थात् प्रयत्न के बिना भक्ति कैसे हो सकती है और कर्म के बिना प्रभु को प्राप्त करना कैसे सम्भव है ? तालाब के जल के ऊपर वाले सिवारों को हटाये बिना शुद्ध जल नहीं मिल सकता, उसी प्रकार परिश्रम किए बिना ईश्वर का लाभ भी सम्भव नहीं है ॥ २४ ॥

पयसो दधिदध्नश्च नवनीतमवाप्यते ।
प्राधान्यं कर्मणस्तत्र सिद्धिस्तेन विना कुतः ॥ २५ ॥
जपेनेश्वरलाभः स्यान्निर्जने रहसि स्थितः ।
नाम गृह्णन् कृपापात्रं जायते दर्शनं ततः ॥ २६ ॥
ईश्वरोऽस्तीश्वरोऽस्तीति भाषणं निष्फलं भवेत् ।
तत्प्राप्त्यर्थं व्याकुलस्य साधनेन प्रयोजनम् ॥ २७ ॥
बृहन्मत्स्यस्य लाभार्थमपेक्ष्यं बडिशादिकम् ।
जले मत्स्यो जले मत्स्य' इति चिन्ता तु निष्फला ॥ २८ ॥
कृष्णः साक्षात्परं ब्रह्म निग्रहानुग्रहक्षमः ।
साधनाभिरतः सोऽपि लोकसंग्रहहेतवे ॥ २९ ॥

दूध को जमाने से दही बनता है और उस दही को मथने से मक्खन मिलता है, अतः कर्म की ही प्रधानता है। कर्म किए बिना सिद्धिलाभ कैसे सम्भव होगा ? ॥ २५ ॥

नाम-जप करने से भगवान-लाभ होता है, इस कारण एकान्त स्थान में बैठकर नाम-कीर्तन करने से ही उनकी कृपा तथा दर्शनप्राप्ति होती है ॥ २६ ॥

ईश्वर हैं, ईश्वर हैं—केवल मुख से ऐसी बात कहना निष्फल है। बल्कि उन्हें प्राप्त करने के लिए व्याकुल होकर साधन करना आवश्यक है ॥ २७ ॥

बड़ी मछलियों के पकड़ने के लिए काँटे, जाल आदि की आवश्यकता है। 'जल में मछली है, जल में मछली है'—केवल ऐसी चिन्ता करते रहने से मछली नहीं पकड़ी जा सकती ॥ २८ ॥

श्रीकृष्ण साक्षात् परमब्रह्म हैं, वे अनुग्रह और निग्रह करने में समर्थ हैं, तो भी लोगों के सामने आदर्श उपस्थापित करने के लिए वे स्वयं भी साधन करते थे ॥ २९ ॥

साश्रुनेत्रं सरोमाञ्चं गात्रं चेन्नाममात्रतः ।
तदैव विलयं याति कामकाञ्चनदोहदम् ॥ ३० ॥

विषयैकरसक्लिन्नं मानसं न भवेदलम् ।
ईशभावोद्दीपनाय शोष्यातो विषयार्द्रता ॥ ३१ ॥

विद्याविद्या द्विधा माया सदसत्फलदायिका ।
विवेकादिस्वरूपाऽऽद्या कामक्रोधादिकाऽपरा ॥ ३२ ॥

सूते कृपां प्रभोः सृष्टि-स्थिति-संहार-कारिणो ।
आद्या शक्तिर्महामाया सा प्रसाद्या प्रयत्नतः ॥ ३३ ॥

उद्घाटिते तया द्वारे प्रवेशोऽन्तर्भवेत्सुखम् ।
अस्माकमन्यथा बाह्यवस्तूनामेव दर्शनम् ॥ ३४ ॥

भगवान का नाम लेते ही जब नेत्रों में आँसू आवे और शरीर पुलकित हो उठे तब विषयवासना तथा भोगासक्ति का लोप हो जाता है ॥ ३० ॥

केवल विषय-रस में जिसका मन आसक्त रहता है उसमें ईश्वर-भाव उत्पन्न नहीं हो सकता; इस कारण पहले मन की विषयासक्ति सुखा डालनी होती है ॥ ३१ ॥

माया दो प्रकार की हैं—विद्या और अविद्या । ये सत् और असत् फल देती हैं । प्रथम का स्वरूप वैराग्य आदि और दूसरी काम, क्रोध, लोभ आदि के स्वरूप हैं ॥ ३२ ॥

भगवान की कृपा प्राप्त करने के लिए सृष्टि, स्थिति, संहार करने वाली आद्या शक्ति, महामाया सहायता देती हैं, इस कारण पहले उन्हें प्रसन्न करने की चेष्टा करनी चाहिए ॥ ३३ ॥

यदि वह आद्या शक्ति महामाया द्वार खोल देती हैं तो अनायास ईश्वर-दर्शन-लाभ के लिए भीतर प्रवेश हो सकता है । नहीं तो उनका द्वार बन्द रहने से केवल बाहरी भौतिक पदार्थों का ही दर्शन होता है, ईश्वर का दर्शन नहीं मिलता ॥ ३४ ॥

देवैरपि महामाया पूजिता प्रार्थिता पुनः ।
मधुकैटभनाशार्थं पुराणे श्रूयते कथा ।। ३५ ।।
आलम्ब्य मातरं हस्तपादाभ्यां कपिबालकाः ।
आत्मनिर्भरतामेत्य स्वरक्षां कर्तुमुद्यताः ।। ३६ ।।
क्रियाशून्यतया नित्यं बिड़ालशिशवः परम् ।
मीउँमीउँकरा मात्रा नीयन्ते परितो मुखे ।। ३७ ।।
स्वोद्धारार्थं तपोध्यान - जपासक्तास्तु केचन ।
ईशं समवलम्बन्ते कपीनामर्भका यथा ।। ३८ ।।
ईश्वरार्पितसर्वस्वास्तिष्ठन्ति जड़वत्स्वयम् ।
मार्जारशिशुवत्केचिद् भक्तास्त्यक्तक्रियाः पुनः ।। ३९ ।।

मार्कण्डेय पुराण में ऐसी कथा है कि मधु और कैटभ नामक दो भयंकर असुरों का वध करने के लिए देवताओं ने इन्हीं महामाया की पूजा और प्रार्थना की थी ।। ३५ ।।

बन्दर का बच्चा अपने हाथ-पैरों से अपनी माँ को पकड़े रहता है और इसी प्रकार आत्मनिर्भर होकर वह अपनी रक्षा करने में समर्थ होता है ।। ३६ ।।

किन्तु बिल्ली का बच्चा स्वयं कुछ नहीं करता, केवल मीउँ-मीउँ करता रहता है और उसकी माँ अपने मुँह से पकड़ कर उसे इधर-उधर ले जाती है ।। ३७ ।।

इसी प्रकार बन्दर के बच्चे की तरह कुछ साधक अपनी मुक्ति के लिए पुरुषकार के साथ तप, ध्यान, जप आदि साधन करते हुए ईश्वर-लाभ करने के लिए प्रयत्न करते हैं ।। ३८ ।।

और कोई भक्त-साधक बिल्ली के बच्चे की तरह स्वयं किसी प्रकार का प्रयत्न न कर सभी अवस्थाओं में श्रीभगवान के ऊपर निर्भरशील तथा निश्चेष्ट होकर बैठे रहते हैं ।। ३९ ।।

भगवल्लाभसिद्ध्यर्थं पञ्च भावाः प्रकीर्तिताः ।
शान्तत्वदास्यसख्यानि वात्सल्यं मधुरस्तथा ॥ ४० ॥
मुनीनां शान्तभावोऽभून्नैतेषां भोगवासना ।
रामार्थं सिंहविक्रान्तस्यासीद्दास्यं हनूमतः ॥ ४१ ॥
स्वामिसेवाप्रसक्ताया दासीभावस्तथा श्रियः ।
सेवानुरक्तचित्तस्य ममापि पुनरल्पशः ॥ ४२ ॥
सख्यभावस्तु बन्धुत्वं सुदाम्नः श्रीहरिं प्रति ।
वात्सल्यं श्रीयशोदायाः कृष्णे निरूपमं पुनः ॥ ४३ ॥
मधुरः सर्वभावानामाधारः स्त्रीषु दृश्यते ।
स्वाभाविकेन भावेन पूजनीयः श्रियः पतिः ॥ ४४ ॥

भगवान को प्राप्त करने के लिए पाँच प्रकार के भाव कथित हैं—शांत, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर ॥ ४० ॥

ऋषि-मुनियों में शांत भाव था ! उनके मन में किसी प्रकार की भोग-वासना नहीं थी । सिंह के समान विक्रमशाली हनुमान में श्रीरामचन्द्र के प्रति दास्य भाव था ॥ ४१ ॥

अपने पति की सेवा में संलग्न लक्ष्मी देवी में दासीभाव था । इसी प्रकार श्रीकृष्ण की सेवा में अनुरक्त मेरे चित्त में भी कुछ अंश में दासीभाव है ॥ ४२ ॥

बन्धु प्रीति को सख्यभाव कहते हैं, जैसे कि विप्र सुदामा का श्रीकृष्ण के प्रति सख्य-भाव था । माता यशोदा का श्रीकृष्ण के प्रति अनुपम वात्सल्य-भाव था ॥ ४३ ॥

मधुर भाव अन्य सभी भावों से श्रेष्ठ है । स्त्रियों में पति के प्रति ऐसा भाव दिखाई पड़ता है । श्रीपति भगवान श्रीकृष्ण की आराधना अपने भाव के अनुसार ही करनी चाहिए ॥ ४४ ॥

ईश्वरः कल्पवृक्षोऽयं येन भावेन तं नरः।
उपेयात्तमनुप्राप्य शुभाशुभफलान्वित ॥ ४५ ॥

वृक्षपुष्पफलादीनि पश्यन्त्युद्याने चित्राणि।
जना उपवनाध्यक्षमन्वेष्टारो न कथञ्चन ॥ ४६ ॥

अध्यक्षदर्शनं मुख्यं तेन सार्धं तथा वचः।
मग्नं यदि मनस्तस्मिन् दर्शनं स्यान्न संशयः ॥ ४७ ॥

रामं ज्ञातुं ध्रुवं कार्या जानकीप्रेमभावना।
शिवे शर्वाणीभावस्तु प्रकृतेः प्रेम पूरुषे ॥ ४८ ॥

ईदृशं सच्चिदानन्दे प्रेम कार्यं निरन्तरम्।
सखीभावान्मातृभावाद्दासीभावादिदं त्रिधा ॥ ४९ ॥

ईश्वर कल्पवृक्ष के समान हैं, उन्हें मनुष्य किसी भी भाव से आश्रय करता है, वह उसी भाव को प्राप्त होता है और उसी भाव के अनुसार शुभ या अशुभ फल भोगता है ॥ ४५ ॥

विभिन्न प्रकार के लोग किसी बाग में जाकर उसके वृक्ष, फल, फूल आदि देख कर ही प्रसन्न हो जाते हैं, किन्तु उस बाग के मालिक की खोज कोई नहीं करता ॥ ४६ ॥

उस बाग के मालिक का दर्शन और उनसे बातचीत करना ही प्रधान कार्य है। इसी प्रकार यदि इस संसार के मालिक ईश्वर में मन लीन हो जाय तो उनका दर्शन निश्चित ही होगा ॥ ४७ ॥

श्रीरामचन्द्र को जानने के लिए जानकी की तरह प्रेमभाव आवश्यक है। शिव को प्राप्त करने के लिए शिवानी का प्रेम और पुरुष को जानने के लिए प्रकृति का प्रेम ही आदर्श है ॥ ४८ ॥

इसी प्रकार सच्चिदानंद भगवान को प्राप्त करने के लिए सखीभाव, मातृभाव और दासीभाव ये तीन भाव ही उत्तम हैं, अतः प्रेम तीन प्रकार के हैं; इनका निरन्तर अनुशीलन करना चाहिए ॥ ४९ ॥

विषयास्वादतो लब्धाद् दुःखोदर्कात्सुखान्ननु ।
भगवद्दर्शनानन्दः कोटिकोटिगुणोऽधिकः ॥ ५० ॥
उन्मत्तवद्भवेद्भक्तः परेशाप्तिपरः परम् ।
अर्थकामप्रसक्तस्य नाऽशा काप्यमृतागमे ॥ ५१ ॥
मायाहङ्काररूपेयं सर्वमावृत्य तिष्ठति ।
जीवन्मुक्तो भवेज्जीवश्चेदहं तस्य नश्यति ॥ ५२ ॥
यथा मेघावृतः सूर्यो न स्यान्नयनगोचरः ।
दर्शनार्हो न जायेत तथा मायाऽऽवृतः परः ॥ ५३ ॥
समीपस्थोऽपि भगवान् अहंकारान्न दृश्यते ।
नालमालोकितुं कोऽपि पटव्यवहितं मुखम् ॥ ५४ ॥
लक्ष्मणो न क्षमो द्रष्टुं सीतामायावृतेक्षणः ।
अपि रामं स्थितं तस्य सार्धहस्तद्वयान्तरे ॥ ५५ ॥

विषयों का भोग करने से जो सुख मिलता है, उसके परिणाम में दुःख का ही भोग करना पड़ता है। इस प्रकार के विषय-भोग-जनित क्षणिक सुख की अपेक्षा भगवान के दर्शन का आनन्द करोड़ों गुना अधिक है ॥ ५० ॥

ईश्वरलाभ के लिए भक्त पागल की तरह व्याकुल हो जाते हैं। काम-काञ्चन में आसक्त मनुष्य को भूमानंद-प्राप्ति की आशा भी नहीं है ॥ ५१ ॥

अहंकार रूप माया समस्त पदार्थों को आवृत करके बैठी है। यदि कोई मनुष्य इस अहंकार को नष्ट कर सके तो वह जीवन्मुक्त हो जाता है ॥ ५२ ॥

जिस प्रकार मेघावृत सूर्य नयनगोचर नहीं होता, उसी प्रकार माया के द्वारा आवृत-चक्षु व्यक्ति परमेश्वर का दर्शन नहीं कर सकता ॥ ५३ ॥

सर्वव्यापी भगवान अति निकट रहने पर भी मनुष्य में अहंकार रहने से दिखाई नहीं पड़ते। जैसे कि वस्त्र के द्वारा ढके मुख को कोई देख नहीं सकता ॥ ५४ ॥

यद्यपि रामचन्द्र और लक्ष्मण के भीतर केवल ढाई हाथ का ही अन्तर था, तथापि सीता रूप माया के द्वारा लक्ष्मण की दृष्टि आवृत रहने के कारण वे राम को देख नहीं सके ॥ ५५ ॥

चित्तशुद्धिं विनाऽलभ्यं भगवद्दर्शनं सुखम् ।
कामक्रोधादिवर्गस्य त्यागश्चित्तस्य शुद्धता ॥ ५६ ॥
चुम्बकाकर्षणायोग्या सूची पङ्कमलावृता ।
अर्थकामावृतं चित्तमीशेनाकृष्यते कथम् ? ॥ ५७ ॥
देहे यावदहङ्कारस्तावज्ज्ञानवश्यता ।
अन्तरायौ महान्तौ तावुभौ मुक्तिसुखाध्वनि ॥ ५८ ॥
मेंमेंकुर्वन्त्यजा नित्यं हम्मा हम्मेति धेनवः ।
साहङ्कारतया तासां विविधाः स्युः विडम्बनाः ! ॥ ५९ ॥
वासनायां स्थितायां न भगवल्लाभसम्भवः ।
न तत् सूचीप्रवेशार्हं सूत्रं यद्ग्रन्थिसंयुतम् ॥ ६० ॥

चित्तशुद्ध न होने से सुख-स्वरूप भगवान का दर्शन नहीं होता (इस कारण पहले चित्तशुद्धि आवश्यक है) । काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मात्सर्य इन छः रिपुओं पर विजय प्राप्त कर सकने से चित्त शुद्ध होता है ॥५६॥

सूई यदि कीचड़ से आवृत रहे तो चुम्बक उसे अपनी ओर आकर्षित नहीं कर सकता । इस प्रकार काम-काञ्चन से आवृतचित्त व्यक्ति को ईश्वर कैसे आकर्षित करेंगे ? ॥ ५७ ॥

जब तक शरीर में अहं-बुद्धि रहेगी तब तक मनुष्य अज्ञान के ही वशीभूत रहता है । मुक्तिसुख के मार्ग में यह अहंकार और अज्ञान महान् विघ्न हैं ॥ ५८ ॥

बकरी सदा में-में करती है और गाय हम्मा-हम्मा शब्द करती है । ये दोनों ही अहंकार के लक्षण हैं । इसके फलस्वरूप उन्हें अनेक कष्ट भोगने पड़ते हैं ॥ ५९ ॥

विषयवासना के रहते ईश्वरलाभ सम्भव नहीं होता । यदि सूत में गाँठ रहे तो वह सूई के छेद में नहीं घुस सकता ॥ ६० ॥

प्रभोः कृपाऽथ चैतन्यलाभः पश्चात् समाधिना ।
देहभावविनाशोऽथ कामाकञ्चनविस्मृतिः ॥ ६१ ॥
तच्छक्तिरूपिणी माया संसाररचनापरा ।
मायापाशेन बद्धाः स्मः पाशच्छेदेन दर्शनम् ॥ ६२ ॥
आकारयति चेदीशं साधनाव्याकुलं मनः ।
कृपा स्यादचिरात्तस्य स्नेहो मातुर्यथात्मजे ॥ ६३ ॥
पितुर्हस्तं गृहीत्वा चेद् बालो याति, पतेदपि ।
पतनान्न भयं तस्य पित्रा साधु करे धृते ॥ ६४ ॥
चित्ते चैतन्यचिन्तायामचैतन्यं विनश्यति ।
न सन्देहलवास्तित्वमभयं तत् कृपावशात् ॥ ६५ ॥

यदि भगवान की कृपा हो जाय तो मैं चैतन्य-स्वरूप हूँ, ऐसा ज्ञान हो सकता है । उसके अनन्तर समाधि अवस्था होती है, ऐसी अवस्था में देहभाव नष्ट हो जाता है और काम-काञ्चन भूल जाते हैं । भोग की वासना भी चली जाती है ॥ ६१ ॥

ईश्वर की शक्तिरूपिणी माया संसार की रचना करती है । हम लोग उसी माया के पाश से आबद्ध हैं । मायापाश के छिन्न होने से ही भगवान का दर्शन होता है ॥ ६२ ॥

जिस प्रकार माता पुत्र के व्याकुल रुदन से आकृष्ट होकर उसे गोदी में उठा लेती है, उसी प्रकार भगवान भी भक्त की व्याकुल पुकार से आकृष्ट होकर उसके ऊपर कृपा करते हैं ॥ ६३ ॥

यदि बालक अपने बाप का हाथ पकड़ कर रास्ते में चलता है, तो वह कभी गिर भी पड़ सकता है, किन्तु यदि बाप उसका हाथ पकड़ कर चले तो उसके गिर पड़ने का भय नहीं रहता (उनकी कृपा ही निर्भयता का कारण है) ॥ ६४ ॥

चित्त में सदा चैतन्यस्वरूप ईश्वर की चिन्ता होते रहने से अविद्यारूप अज्ञान नष्ट हो जाता है । उसके अनन्तर मन में कोई सन्देह नहीं रह जाता, उनकी कृपा से मनुष्य अभय हो जाता है ॥ ६५ ॥

साक्षात्कृतौ न संसारकार्यासक्तिर्भवेत्पुनः ।
कथं भवेत्सिद्धधान्यमंकुरोद्भेदकारणम् ॥ ६६ ॥
दृष्टेशस्य त्वहंकारो नास्य बाधाकरो भवेत् ।
नारिकेल-स्कन्धशाखापाते चिह्नं विलोक्यते ॥ ६७ ॥
प्रार्थनां सर्वभक्तानां सावधानः शृणोत्ययम् ।
कदाचिदपि दृष्टः स्याद् अन्तकाले तु निश्चितम् ॥ ६८ ॥
सर्वेऽप्युद्धारयोग्याः स्युः सर्वे ज्ञातुमलं प्रभुम् ।
यदैव साक्षात्कारोऽस्य लुप्येताहं क्षणादिव ॥ ६९ ॥
केचित्प्रातर्लभन्तेऽन्नं मध्याह्ने वापि केचन ।
केचित्सायन्तने काले विना नान्नं क्वचिज्जनाः ॥ ७० ॥

जिस प्रकार भुने हुए बीज से अंकुर की उत्पत्ति नहीं होती, उसी प्रकार भगवान का दर्शन होने पर सांसारिक कार्य में आसक्ति नहीं रहती ॥ ६६ ॥

भगवान का दर्शन करने के बाद यदि अविद्या का क्षीण अहंकार रह जाता है तो उससे कोई हानि नहीं होती । नारियल के वृक्ष से डाल के गिर पड़ने के बाद वहाँ केवल दाग ही रह जाता है । ६७ ॥

भगवान सभी भक्तों की प्रार्थना ध्यान देकर सुनते हैं, फलस्वरूप जीवन में किसी न किसी समय उनका दर्शन हो सकता है, मृत्यु के समय से निश्चय ही दर्शन होगा ॥ ६८ ॥

सभी भक्त उन्हें जान सकेंगे और तभी उद्धार प्राप्त हो जायेंगे । जब श्रीभगवान का साक्षात् दर्शन होगा, तभी मनुष्य का अहं-भाव नष्ट हो जायगा ॥ ६९ ॥

कोई भूखा व्यक्ति सुबह खाने के लिए अन्न पाता है, तो कोई दुपहर को, और कोई सन्ध्या समय खाद्य प्राप्त करता है । उनके राज्य में कोई भी अनाहार नहीं रहता ॥ ७० ॥

ईशलाभान्विता भक्ता बालवच्च पिशाचवत् ।
जड़वच्च तथोन्मत्तवदेवं ते चतुर्विधाः ॥ ७१ ॥
बालवद् ये गुणातीताः शुद्धाशुद्धाविवेकिनः ।
पिशाचा इव ते सन्ति हसन्त्यपि रुदन्त्यपि ॥ ७२ ॥
उन्मादिनः क्वचित्सज्जाः क्वचित्कुक्षिगताम्बराः ।
जड़ा इवापरे केचिन्मौनमास्थाय संस्थिताः ॥ ७३ ॥
यथा स्पर्शमणिस्पर्शादयःखड्गोऽपि हेमताम् ।
एत्य खड्गाकृतीरपि घातायालं न जायते ॥ ७४ ॥
अहंभावो विद्यते चेद् ईशप्राप्तेरनन्तरम् ।
न दोषः पञ्चवर्षस्य बालस्याहं न बाधकः ॥ ७५ ॥

जो भक्त भगवान को प्राप्त कर सके हैं, उनकी अवस्था, बालक, पिशाच, जड़ और उन्मादी की तरह चार प्रकार की है ॥ ७१ ॥

बालक की तरह भक्त सत्व, रज और तम इन तीन गुणों से परे हैं। उनमें शुद्ध और अशुद्ध का विचार नहीं रहता। पिशाच की तरह वे कभी हँसते और कभी रोते हैं ॥ ७२ ॥

उन्मादी की तरह भक्त कभी अपने शरीर को विभिन्न रूपों से सजाते हैं, फिर कभी अपना वस्त्र बगल में दबाए चलते हैं या जड़ की तरह भक्त सदा मौन होकर बैठे रहते हैं ॥ ७३ ॥

जैसे लोहे की तलवार स्पर्शमणि का स्पर्श पाकर जब सोना बन जाती है, तब उसका आकार तलवार की तरह रहने पर भी उससे किसी प्राणी को काटा नहीं जा सकता ॥ ७४ ॥

इसी प्रकार ईश्वरलाभ होने से अहंभाव रहने पर भी उससे धर्मजीवन लाभ की कोई हानि नहीं होती, जैसे पाँच वर्ष का बालक जब 'मै-मैं' कहता है तो उससे किसी की कोई हानि नहीं होती ॥ ७५ ॥

बाह्यं विस्मयंते सर्वं भक्तेनेशोपलब्धितः ।
ईश्वरानन्दमग्नस्य कोऽर्थोऽन्येनास्ति वस्तुना ॥ ७६ ॥
हनूमान् केनचित्पृष्टः का तिथिर्ब्रूहि, सोऽब्रवीत् ।
"राममेकमहं जाने न भं वारं तिथिं तथा" ॥ ७७ ॥
अन्तरूत्थो महावायुर्मूर्धानमधिरोहति ।
सान्तः शब्दे समाधिश्चेज्जायते प्रभुदर्शनम् ॥ ७८ ॥
कृतसाक्षात्कृतिर्नित्यं सानन्दश्च विशालदृक् ।
ऊर्मिमाल्यपि पाथोधिः शान्तः स्वान्तस्तले यथा ॥ ७९ ॥
भावयेदनिशं भक्तो विहितप्रभुदर्शनः ।
जीवरूपो जगद्रूपः सृष्टिकर्ता तथेश्वरः ॥ ८० ॥

जब भक्त ईश्वर की उपलब्धि करते हैं तब वे बाहरी सभी विषयों को भूल जाते हैं, क्योंकि सच्चिदानन्द में मग्न भक्त का अन्य किसी विषय में प्रयोजन क्या है ? ॥ ७६ ॥

किसी ने महावीर हनुमान से पूछा था कि आज कौन तिथि है ? उसके उत्तर में उन्होंने कहा था—"मैं तिथि, वार, नक्षत्र आदि कुछ नहीं जानता, मैं केवल श्रीरामचन्द्र को ही जानता हूँ ॥ ७७ ॥

जब शरीर के भीतरवाली महावायु नीचे से शब्द करते हुए सिर के सहस्रार में चढ़ जाती है, तब यदि समाधि अवस्था हो तो प्रभु का दर्शन होता है ॥ ७८ ॥

जिन्होंने प्रभु का साक्षात् दर्शन किया है वे सदा आत्मानन्द में विभोर रहते हैं और उनकी दृष्टि विशाल हो जाती है। समुद्र के ऊपर तरंगमाला का विक्षोभ रहने पर भी भीतर शान्तभाव विराजमान रहता है ॥ ७९ ॥

भक्त ईश्वर-दर्शन करके सदा सोचते हैं कि भगवान ही जीव और जगत रूप में प्रतीयमान हो रहे हैं और सृष्टिकर्ता भी वही हैं ॥ ८० ॥

"अहङ्कारपरीतश्चेत् सिद्धिलाभान्वितः पुमान् ।
भगवत्प्राप्तयेऽनर्हः" प्रोक्तवानर्जुनं हरिः ॥ ८१ ॥

सविश्वासमनुष्ठान-पराणामीशदर्शनम् ।
येन केनापि भावेन भावनिन्दा न युज्यते ॥ ८२ ॥

हृदये तीव्रवैराग्यं परेशप्राप्तिसाधनम् ।
वैराग्यादेव संसारो दवाग्निरिति भावना ॥ ८३ ॥

मार्गोऽनपायः सरलश्च भक्तिर्द्रुतं स्वगन्तव्यपदं प्रयातुम् ।
पापान्यनेकानि नरैः कृतानि भक्तिप्रभावाद्विलयं व्रजन्ति ॥ ८४ ॥

तलं गृहस्योपरि वंशरज्जुसोपाननिश्रेणिभिरेति लोकः ।
धर्माः समाः सन्त्यनुरागसाराः विनानुरागं लभते न चेशम् ॥८५॥

किसी समय भगवान ने अर्जुन से कहा था—"आठ प्रकार की सिद्धियों में से एक को भी जिसने प्राप्त कर लिया है, उसमें अहंकार होता है और फलस्वरूप वह भगवान को प्राप्त करने के अयोग्य हो जाता है ॥ ८१ ॥

विश्वास के साथ साधन करने से ईश्वरदर्शन अवश्य होता है। भक्त पञ्च भावों में किसी भी भाव से साधन क्यों न करे, उनकी निन्दा नहीं करनी चाहिए ॥ ८२ ॥

हृदय में तीव्र वैराग्य ही भगवत्प्राप्ति का एकमात्र साधन है। इस प्रकार का वैराग्य होने से यह संसार दावानल के तुल्य प्रतीत होता है ॥ ८३ ॥

इष्टलाभ के लिए भक्तिमार्ग ही सरल और सहज पथ है। भक्ति के प्रभाव से सब प्रकार के पाप विलय प्राप्त हो जाते हैं ॥ ८४ ॥

छत पर चढ़ने के लिए बाँस, रस्सी, सीढ़ी आदि अनेक उपाय हैं। उसी प्रकार ईश्वररूप एकमात्र गन्तव्यस्थान में पहुँचने के लिए भी अनेक प्रकार के धर्ममार्ग हैं। सभी धर्म समान हैं। किन्तु धर्ममार्ग में ईश्वरानुराग ही प्रधान पथ है। अनुराग के बिना ईश्वर-लाभ नहीं हो सकता ॥ ८५ ॥

वृथा वचो वर्त्ममहन्ममैव चेद्व्याकुलत्वं न किमप्यपेक्ष्यम् ।
ईशप्रसक्तान्तर एव भक्तोऽहन्तां विनालं कलहेन हन्त ! ॥ ८६ ॥

इति श्रीरामकृष्णोपदेशसाहस्र्यां 'ईश्वरदर्शनं नाम'
सप्तदशोऽध्यायः समाप्तः ॥ १७ ॥

"मेरा धर्म पथ ही श्रेष्ठ है"—ऐसी बात कहना अनुचित है। यदि व्याकुलता रहे तो अन्य किसी वस्तु की आवश्यकता नहीं रहती। अहंकार छोड़कर अन्तर में ईश्वर के भीतर मन को संलग्न रखना उचित है। बाहर तर्क-वितर्क करना अनुचित है ॥ ८६ ॥

इस प्रकार श्रीरामकृष्णोपदेशसाहस्री का ईश्वर-दर्शननामक
सत्रहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥१७॥

सर्वधर्मसमन्वयो नाम अष्टादशोऽध्यायः

सर्वधर्मसमन्वयः

आहूयते नैकविधाभिधानैर्नरो गृहाभ्यन्तर एक एव।
पितृव्यतातानुजमातुलाद्यैः परं स जानात्यहमेव सर्वम् ॥ १ ॥

तथेशदुर्गाशिवरामकृष्ण - जगत्कृदल्लाजिनगाड्वचोभिः।
वेत्येक एवाखिललोकपूज्यो 'मामेव सर्वेऽपि समर्चयन्ति' ॥ २ ॥

"धर्मः समीचीनतरो ममैव तथा ततो हीनतरः परेषाम्।
ममैव वाक्यं खलु सत्यभूतमन्यस्य वाक्यं नितरामसत्यम्" ॥ ३ ॥

सर्वधर्म-समन्वय

परिवार में एक ही व्यक्ति को विभिन्न सम्बन्धी पिता, चाचा, मामा, भाई आदि स्वजन अनेक नामों से पुकारते हैं, किंतु वह जानता है कि सभी मैं हूँ, मैं ही विभिन्न उपाधियों से पुकारा जाता हूँ ॥ १ ॥

उसी प्रकार एक ही ईश्वर को दुर्गा, शिव, राम, कृष्ण, सृष्टिकर्त्ता, अल्लाह, जिन, गाड आदि अनेक नामों से पुकारा जाता है, किंतु वह सर्व-लोक-पूजनीय परमपिता जानते हैं कि सभी लोग मेरी ही पूजा करते हैं ॥२॥

'मेरा धर्म ही श्रेष्ठ है, दूसरे का धर्म इससे हीन है। मेरी बात ही सत्य है'—यह बात जो कहता है उसका वाक्य एकदम मिथ्या है ॥ ३ ॥

"साकारता तस्य यमर्चयामि निराकृतिर्वा यमहं नमामि" ।
उन्मत्तवाक्यं सकलं तदेतन्न कोऽप्यलं भाषितुमीदृशोऽसौ ॥ ४ ॥

उद्धारकं विष्णुमवैति वैष्णवो ब्रवीति शाक्तः शरणं शिवां पराम् ।
धर्मे वृथान्योन्यमियं विकत्थना मार्गैः समस्तैरपि गम्यमेकलम् ॥५॥

वेदान्तिभिर्वैष्णवशाक्तशैवैर्मोहम्मदैः ख्रीस्तमते रतैर्वा ।
सर्वैः स्वमार्गानुगतैर्मनुष्यैः शक्येशलब्धिर्विफलो विवादः ॥ ६ ॥

विष्णुः शिवः सोऽपि च शक्तिराद्या ख्रिस्तस्तथाल्ला सुगतः स एव ।
एकोऽप्यसावस्ति सहस्रनामा देशस्य भेदात्किल नामभेदः ॥७॥

'मैं जिनकी पूजा करता हूँ, वे साकार हैं, या जिन्हें मैं प्रणाम करता हूँ वे निराकार हैं।' ऐसी बातें पागल की हैं, क्योंकि कोई नहीं कह सकता कि ईश्वर इस प्रकार हैं या उस प्रकार हैं ॥ ४ ॥

वैष्णव विष्णु को अपना उद्धारकर्ता समझते हैं और उन्हीं की शरण लेते हैं। शाक्त दुर्गा को अपना शरणस्थान कहते हैं। धर्म के सम्बन्ध में आपस में इस प्रकार विवाद करना निरर्थक है। पथ विभिन्न होने पर भी गम्य स्थान सभी का एक ही है ॥ ५ ॥

वैदान्तिक, वैष्णव, शाक्त, शैव, मुसलमान, ईसाई सभी अपने-अपने मतानुसार हार्दिक भक्ति के साथ ईश्वरलाभ कर सकते हैं। इस सम्बन्ध में विवाद निष्फल है ॥ ६ ॥

एक ही ईश्वर विष्णु, शिव, आद्याशक्ति, ईसामसीह, अल्लाह, बुद्ध आदि सभी नामों से पुकारे जाते हैं। एक होने पर भी उनके हजारों नाम हैं। विभिन्न देशों में उनके अनेक नाम हुए हैं ॥ ७ ॥

हिन्दुर्जलं वाटरमांग्लभाषी 'पानीति' मोहम्मदबन्धुरिच्छेत् ।
गिरोऽनुकूलं; परमज्ञतेयं न तज्जलं, वाटरमित्थनुक्तिः ॥८॥

अनन्तलाभार्थमनन्तमार्गाः पन्था विभिन्नोऽस्ति मतानुसारम् ।
तलं गृहस्योपरि वंशरज्जुसोपाननिश्रेणिभिरेति लोकः ॥९॥

निराकृतिं पूजय साकृतिं वा यथारुचि द्वेषधियं विहाय ।
तमेव यं वैष्णवशैवशाक्त-बौद्धाः कुराणेशुमता नमन्ति ॥ १० ॥

युद्धं विवादः कलहप्रियत्वं, रक्तस्य पातो, दलबद्धता च ।
धर्मेऽनभीष्टं स तु देशकालपात्रानुरूपोऽवतरेदिहेशः ॥ ११ ॥

एक ही वस्तु को हिन्दू जल, अंगरेज वाटर, मुसलमान पानी कहते हैं। भाषायें विभिन्न होने से इस प्रकार नाम भिन्न-भिन्न हुए हैं। वह पानी नहीं है, वाटर है ऐसा कहना अज्ञान का लक्षण है ॥ ८ ॥

अनन्त भगवान को प्राप्त करने के लिए अनन्त मार्ग हैं। विभिन्न प्रकार के लोगों के मतानुसार विभिन्न मार्ग कल्पित हुए हैं। लोग मकान की छत पर चढ़ने के लिए बांस, रस्सी, सीढ़ी, सोपान आदि विभिन्न वस्तुओं का आश्रय लेते हैं ॥ ९ ॥

विद्वेष-बुद्धि छोड़कर तुम अपनी रुचि के अनुसार निराकार या साकार की उपासना कर सकते हो, क्योंकि वैष्णव, शैव, शाक्त, बौद्ध, मुसलमान, ईसाई आदि सभी लोग एक ही भगवान को प्रणाम और पूजा करते हैं ॥१०॥

धर्म के लिए युद्ध, विवाद, झगड़ा, खून-खराबी, दलबन्दी आदि हानिकर हैं। किन्तु ईश्वर देश, काल, पात्र के अनुसार विभिन्न रूपों में अवतीर्ण होते हैं ॥ ११ ॥

सूफीमतात्स्वीकृतमन्त्रदीक्षो गोविन्दतोऽल्लाजपतत्परोऽहम् ।
पठन्नमाजं समये त्रिसन्ध्यं दिनत्रयं विस्मृतहिन्दुभावः ॥१२॥

दृष्टं मयेदं भगवत्कृपार्थमिस्लामधर्मोऽपि विशुद्धमार्गः ।
अनन्तलीलाजननी मनुष्यान् सहस्रशोऽनेन पथोद्धार ॥ १३ ॥

धर्मो न रूपं भवतीश्वरस्य स केवलं स्यात्प्रभुलाभमार्गः ।
भवन्ति धर्माः सकलाः समाना जना पथा यान्ति मतानुसारम् ॥१४॥

कालीं यथा द्रष्टुमिमां तरण्या कश्चित्पदाभ्यां शकटेन कोऽपि ।
आयाति; नद्यः शतशो विभिन्नाः प्रयान्त्यनन्तं जलधिं तमन्ते ॥१५॥

मैंने सूफी मत के अनुसार गोविन्द से मुसलमान धर्म की दीक्षा ली थी, उसके बाद मैं अल्लाह का नाम जपने लगा, तीनों समय नमाज पढ़ने लगा, तीन दिनों तक मैं हिन्दू भाव भूल गया था ।। १२ ।।

इससे मैंने देखा कि भगवान की कृपा प्राप्त करने के लिए इसलाम धर्म भी एक विशुद्ध मार्ग है । अनन्त लीलामयी जगजननी ने हजारों मनुष्यों को इस मार्ग से उद्धार किया है ।। १३ ।।

धर्म ईश्वर का रूप नहीं है, वह केवल ईश्वरलाभ का मार्ग है । सभी धर्म समान हैं । लोग अपनी-अपनी रुचि के अनुसार विभिन्न मार्गों से जाते हैं ।। १४ ।।

इस कालीमाता के दर्शन के लिए कोई नाव से, कोई पैदल और कोई गाड़ी में बैठकर आता है । सैकड़ों नदियाँ विभिन्न मार्गों से प्रभावित होकर अन्त में एक ही समुद्र में जा गिरती हैं ।। १५ ।।

कृते सुतानां जननी प्रियत्वाद् यथारुचि स्थापयतीष्टमिष्टम् ।
कल्याणकाङ्क्षी परमेश्वरोऽयं भावानुसारं कृतवान् पथोऽपि ॥१६॥

राधाकृष्णौ पार्वतीशौ च सीतारामावित्थं मूर्तयः सन्ति भिन्नाः ।
स्वस्वाभीष्टं द्रष्टुमायान्तु सर्वेऽपीष्टेऽन्यस्मिन् द्वेषभावं विहाय ॥१७॥

सोऽन्तर्यामी वेत्ति भक्तस्य हार्दं निश्चेतव्यं स्वं सपर्याविधानम् ।
पश्चादन्यद्विद्यते चेदपेक्ष्यं तत्सम्पूर्णं बोधयेदीश्वरस्त्वाम् ॥१८॥

नोचेत्साक्षाद्दर्शनं तस्य कः स्याद् ईदृक्ताया निश्चयं कर्तुमीशः ?
ईशोऽस्तीत्थं चिन्तयेदल्पबुद्धिः साक्षात्काराज्ज्ञायते तत्स्वरूपम् ॥१९॥

माता के निकट सभी बच्चे प्रिय हैं । उनकी रुचियों के अनुसार वे अनेक प्रकार की मिठाइयाँ बना देती हैं । कल्याणाकांक्षी परमेश्वर ने भी विभिन्न भावों के अनुसार भिन्न-भिन्न मनुष्यों के लिए भिन्न-भिन्न पथ बना दिये हैं ॥ १६ ॥

राधाकृष्ण, शिवपार्वती, सीताराम इस प्रकार अनेक मूर्तियाँ बनायी जाती हैं । सभी लोग अपने-अपने इष्टदेव के दर्शन के लिए आ सकते हैं, किन्तु साथ ही साथ दूसरे के इष्ट देवता के प्रति विद्वेषभाव छोड़कर आना पड़ेगा ॥१७॥

ईश्वर अन्तर्यामी हैं, वे भक्त का हृदय जानते हैं, भक्त अपनी पूजा का विधान निश्चित कर लें, उसके बाद यदि और कुछ आवश्यक हो, तो ईश्वर स्वयं ही जता देते हैं, तुम्हें भी जता देंगे ॥ १८ ॥

जब तक ईश्वर का साक्षात दर्शन न हो, तब तक कौन कह सकता है कि वे इस प्रकार हैं, अल्पज्ञ व्यक्ति इतना ही कह सकता है कि ईश्वर हैं किन्तु उनका यथार्थ ज्ञान साक्षात्कार होने पर ही मिलना सम्भव है ॥ १९ ॥

शैवाः शाक्ता वैष्णवाश्चापि भेदा हिन्दूनां; तत्तेषु कः स्याद् यथार्थः ।
विश्वासस्ते यत्र सोढ्वा गरीयान् विश्वासे खल्वीश्वरस्याधिवासः ॥२०॥

एको देवः साधकैर्भिन्नभावैः सम्पूज्योऽसौ भेदधीरज्ञतैव ।
एको मत्स्यः सिद्धपाको यथास्ते सूपः स्वादुश्चर्चरी भर्जितो वा ॥२१॥

केनापि भावेन सहार्द्रमन्तः परेशनामस्मरणं कृतं चेत् ।
कल्याणबीजं; खलु भक्ष्यमाणो न मोदकः किं मधुरः कुतोऽपि ॥२२॥

सम्मेलनं चेद् बहिरन्यलोकैः कार्योऽनिशं तेषु समत्वबुद्धिः ।
समानधर्माऽप्यसमानधर्मा कोऽप्यस्तु मात्सर्यमतिः किमर्थम् ॥२३॥

हिन्दुओं में शैव, शाक्त, वैष्णव आदि अनेक भेद हैं। इससे संदेह होता है कि उनमें कौन मार्ग सत्य है ? उसका उत्तर यह है कि—जिस मार्ग पर तुम्हारा दृढ़ विश्वास होता है, वही तुम्हारे लिए श्रेष्ठ है। क्योंकि विश्वास में ही ईश्वर का निवास है ॥ २० ॥

एक ही ईश्वर विभिन्न साधकों के द्वारा भिन्न-भिन्न भावों से पूजित होते हैं। भेदबुद्धि अज्ञान का ही चिह्न है। जैसे एक ही मछली से पाक के भेद के कारण रसा, भुनी हुई तरकारी आदि विभिन्न खाद्य तैयार होते हैं ॥ २१ ॥

प्रेम के साथ किसी भी भाव से क्यों न हो, भगवान के नाम का स्मरण करने से मंगल ही होता है, जैसे लड्डू को किसी ओर से क्यों न खाया जाय, क्या वह मीठा नहीं लगेगा ? ॥ २२ ॥

बाहर किसी दूसरे मनुष्य से भेंट होने पर सदा ही उसमें समबुद्धि रखनी चाहिए। उसका धर्म मेरे धर्म के समान हो या भिन्न, किसी प्रकार का विद्वेष भाव रखने का प्रयोजन क्या है ? ॥ २३ ॥

अन्तःप्रवेशाय पदानुसारं द्वाराणि भिन्नानि भवन्ति गेहे।
एकेन नार्योऽप्यपरेण दासा नरास्तथान्येन पथा विशन्ति ॥२४॥

तथैव लोकाः स्वमतानुसारं उच्चावचान्येऽनुसरन्ति मार्गान्।
देवः समेषां ध्रुवमेक एव, द्वेषोवृथा, स्थापय सख्यभावम् ॥२५॥

संकीर्णया भावनया जनानां मनस्तु मात्सर्यंवियो भवन्ति।
दृढ़ानुरागप्रभया तु भक्ता भेदान्धकारं खलु नाशयन्ति ॥२६॥

संदर्श्य रामो निजविष्णुरूपं कदाप्यवादीत्किल वैनतेयम्।
अहं स्वयं पत्ररघेश! रामरूपेण कल्याणकृतेऽवतीर्णः ॥२७॥

बड़े आदमी के महल के भीतर जाने के लिए लोगों की योग्यता के अनुसार विभिन्न दरवाजे रहते हैं। एक मार्ग से स्त्रियाँ, दूसरे मार्ग से नौकर और उससे भिन्न मार्ग से पुरुष प्रवेश करते हैं ॥ २४ ॥

उसी प्रकार लोग अपने-अपने रुचि के अनुसार सरल या वक्र मार्ग का अनुसरण करते हैं, किन्तु यह बात सत्य है कि सभी के ईश्वर एक ही हैं, अतः उनके प्रति द्वेष रखना उचित नहीं है, बल्कि सबसे मित्रभाव स्थापित करो ॥ २५ ॥

संकुचित भाव से लोगों के मन में विद्वेष-भाव उत्पन्न होता है। भक्त लोग भगवान के प्रति दृढ़ अनुराग की प्रभा से भेद रूप अंधकार का नाश करते हैं ॥ २६ ॥

किसी समय श्रीरामचन्द्र ने गरुड़ को अपनी विष्णुमूर्ति दिखाकर कहा था—"हे विनतानन्दन गरुड़! लोगों के कल्याण के लिए ही मैं इस राम रूप में अवतीर्ण हुआ हूँ।" २७ ॥

परं हनूमान्न तुतोष विष्णुरूपं विलोक्याह च रामचन्द्रम् ।
अभेद-सत्त्वेऽप्युभयोरिहाहं हे जानकीनाथ ! परं न जाने ।।२८।।

कृष्णादिकेष्टेऽतु विशेषभक्तिस्तथापि तेनास्ति किमप्यनिष्टम् ।
स्वान् सेवमानापि वधूः स्वगेहे पत्येव सार्धं रमते रहः सा ।।२९।।

अभेदभावः स्वयमाविरास्ते भक्तिर्भवेदुच्चतमा यदीशे ।
विभिन्नताहेतुरपक्वबुद्धिः काष्ठा पराद्वैतमति-र्हि धर्मे ।।३०।।

इति श्रीरामकृष्णोपदेशसाहस्र्यां सर्वधर्मसमन्वयो नाम
अष्टादशोऽध्यायः समाप्तः ।। १८ ।।

किन्तु हनुमान विष्णु का रूप देख कर संतुष्ट नहीं हुए बल्कि उन्होंने रामचन्द्र से कहा—"हे जानकीनाथ, तुम्हारे दोनों रूप अभिन्न होने पर भी मैं तुम्हारे रूप को छोड़कर अन्य कोई रूप नहीं जानता ।। २८ ।।

(इष्टनिष्ठा धर्मजीवन की भित्ति है) श्रीकृष्ण आदि परम इष्ट देवता आदि में जो तुम्हारे इष्ट हों उनके प्रति तुम्हारी अव्यभिचारिणी भक्ति हो । अन्य देवता की भी पूजा करनी चाहिए; क्योंकि वे पूजा से प्रसन्न होकर तुम्हारे धर्ममार्ग में अग्रसर होने के लिए सहायता देंगे । जैसे कि घर की बहू देवर भसुर आदि सभी की सेवा-यत्न करने पर भी पति के साथ उसका सम्बन्ध स्वतन्त्र है, उसी प्रकार भक्त को भी अपने इष्टदेव के प्रति एकनिष्ठ भक्तिपरायण होना चाहिए ।। २९ ।।

यदि भगवान के प्रति उच्चतम भक्तिभाव रहे तो अभेद-बुद्धि अपने आप ही उत्पन्न होती है । कच्ची बुद्धि से ही भेद-बुद्धि पैदा होती है । धर्म के सम्बन्ध में अभेद-बुद्धि ही परा काष्ठा या सर्वोच्च अवस्था है ।। ३० ।।

इस प्रकार सर्वधर्म-समन्वय नामक अठारहवाँ
अध्याय समाप्त हुआ ।। १८ ।।

स्वामिविवेकानन्दरचितम्

श्रीरामकृष्णस्तोत्रम्—१

आचण्डालाप्रतिहतरयो यस्य प्रेमप्रवाहः
लोकातीतोऽप्यहह न जहौ लोककल्याणमार्गम् ।
त्रैलोक्येऽप्यप्रतिम-महिमा जानकी-प्राणबन्धः
भक्त्याज्ञानं वृतवरवपुः सीतया यो हि रामः ॥१॥

श्रीरामकृष्णस्तोत्रम्—२

स्तब्धीकृत्य प्रलयकलितमाहवोत्थं महान्तं
हित्वा रात्रिं प्रकृतिसहजामन्धतामिस्रमिश्राम् ।
गीतं शान्तं मधुरमपि यः सिंहनादं जगर्ज
सोऽयं जातः प्रथितपुरुषो रामकृष्णस्त्विदानीम् ॥२॥

नरदेव देव जय जय नरदेव

शक्तिसमुद्रसमुत्थतरङ्गं दर्शितप्रेमविजृम्भितरङ्गं
संशयराक्षसनाशमहास्त्रं यामि गुरुं शरणं भववैद्यम्

नरदेव देव जय जय नरदेव ॥३॥

अद्वयतत्त्वसमाहितचित्तं प्रोज्ज्वलभक्तिपटावृतवृत्तं ।
कर्मकलेवरमद्भुतचेष्टं यामि गुरुं शरणं भववैद्यम् ।

नरदेव देव जय जय नरदेव ॥४॥

प्रणामः

शैवा यं शिवमामनन्ति जननी कालीति शक्तिप्रिया
राम: कृष्ण इतीह वैष्णवजना बौद्धाश्च बुद्धाख्यया ।
खृस्ता: स्वर्गपितेति यत्र निरता अल्लेति मोहम्मदा
ब्रह्मेत्यद्वयवादिनोऽवतु स व: श्रीरामकृष्ण: स्वयम् ।।

इत्थं विरच्य भगवन्मुखपंकजोत्थं
दैव्या गिरा सदुपदेशसहस्रमेतत् ।
नृणां भवेद् भवविपद्दलनेऽलमित्थं
भक्त्या तदंघ्रियुगलाय समर्पयामि ।।

इति त्र्यम्बकशर्मविरचित: श्रीरामकृष्णोपदेशसाहस्रीनामक:
ग्रन्थ: समाप्त: ।

प्रणाम

जिन्हें शैवलोग शिव, शाक्त काली, वैष्णव राम या कृष्ण, बौद्ध बुद्ध, ईसाई स्वर्गपिता, मुसलमान अल्ला तथा अद्वैतवादी ब्रह्म नाम से पुकारते हैं, वही भगवान श्रीरामकृष्ण स्वयं आपलोगों का मंगल करें ।

भगवान श्रीरामकृष्ण के मुखकमल से जो सदुपदेश निकले थे उनके कुछ अंश इस भाव से सहस्रसंख्यक उपदेश संस्कृत छन्द में रचित कर भक्ति के साथ उन्हीं के चरणकमलों में समर्पण करता हूँ । ये उपदेश लोगों के संसार-दु:ख दूर करने में समर्थ होंगे ।

इति त्र्यम्बकशर्मविरचित श्रीरामकृष्णोपदेशसाहस्री
नामक ग्रन्थ समाप्त हुआ ।

।। शुभम् ।।

परिशिष्ट*

VIDYODAYA

1896

(आषाढ़)

पृष्ठ १४४—१४७

श्रीरामकृष्णोपदेशावलिः ।†

सर्वशिक्षितमण्डलैरिदानीं पूज्यपादस्य भगवतः श्रीरामकृष्णदेवस्य विज्ञातमेव नाम यशश्च । कामिनीकाञ्चनानासक्तचित्तस्य ब्रह्मदर्शिनोऽस्य महापुरुषस्य विमलोपदेशावलिः सर्वेषां सुमहाहिताय भविष्यतीति निश्चित्य वयन्तस्याः ज्ञानगर्भोपाख्यानसमन्वितायाः मनोहरसरलभावविभूषितायाः क्रमशः प्रकाशनाय सङ्कल्पयामः । पूर्णाः सन्तु सङ्कल्पितार्थाः महापुरुषकृपयैव ।

* भाटपाड़ा से प्रकाशित (अब लुप्त) 'विद्योदय' संस्कृत पत्रिका में—श्रीरामकृष्ण परमहंसदेव के अन्यतम प्रधान संन्यासी शिष्य स्वामी श्रीरामकृष्णानन्द के द्वारा लिखित "श्रीरामकृष्णोपदेशावलिः" कलकत्ते के जातीय ग्रन्थागार (National Library, Calcutta, India) से जैसे और जिस प्रकार प्राप्त हुआ है उसे ज्यों-के-त्यों ग्रहीत और प्रकाशित किया गया है । इसके लिए विशेष रूप से 'जातीय ग्रन्थागार' के मालिकों को धन्यवाद विज्ञापित करता हूँ । विद्योदय पत्रिका में संस्कृत श्लोक तथा उसका अंग्रेजी व्याख्या प्रकाशित हुआ था, उसका हिन्दी अनुवाद हमारा संयोजन है ।

द्रष्टव्य है—विद्योदय २५वां वर्ष तथा २६वाँ वर्ष (१९४७) ई० ।

—प्रकाशक

† मूल में श्लोक के साथ संस्कृत व्याख्या का हिंदी अनुवाद जोड़ा गया है ।
(प्रकाशक)

आजकल समस्त शिक्षित जनसम्प्रदाय ही पूज्यपाद भगवान श्रीराम-कृष्णदेव का नाम तथा उनकी महिमा जानते हैं। कामिनी-कांचन में अनासक्त-चित्त, ब्रह्मदर्शी इन महापुरुष की विमल उपदेशावली सभी का महान उपकार साधन करेगी, इस विश्वास से हमने उनके ज्ञानगर्भ-उपाख्यान-समन्वित मनोहर सरलभावविभूषित उन उपदेशों को क्रमशः प्रकाशित करने का संकल्प किया है। उन महापुरुष की कृपा से हमारा संकल्प सिद्ध हो, यही प्रार्थना है।

वियत्तले सूर्यविभाप्रभावाद् यथा दिवा खे न विभान्ति भानि।

विभुन्तथा मोहबलाद्‌दृष्ट्वा निरीश्वरं केऽपि वदन्ति विश्वम्।१।

दिवाभागे गगनतले दिवाकरकरप्रभावेनैकस्यापि नक्षत्रस्यादर्शनात् यथा नक्षत्रशून्योऽयमाकाश इति सिद्धान्तो न समीचीनस्तथा मायाप्रभावेनेश्वरस्यादर्शनाच्चराचरात्मके विश्वे निरीश्वरमिदं जगदिति सिद्धान्तो भ्रान्त एव ।।१।।

दिन में गगन के नीचे सूर्यालोक के प्रभाव से आकाश में एक भी नक्षत्र नहीं दिखाई पड़ता। किन्तु इसलिए आकाश नक्षत्ररहित है—ऐसा सिद्धान्त निर्णय करना उचित नहीं है। उसी प्रकार माया के प्रभाव से स्थावरजंगमात्मक विश्व में ईश्वर का दर्शन नहीं होता, इसलिए यह जगत ईश्वरविहीन है—ऐसा सिद्धान्त भी भ्रान्त ही है।१।

अप्यब्धिनीरं लवणेन पूर्णं नास्वादनात् प्रागवगम्यते कैः।

इदं जगत् पूर्णमपीशशक्त्या कस्तां विजानाति विना सुचेष्टाम् ?।२।

यथा दर्शनमात्रेण समुद्रवारिणि लवणास्तित्वं नोपलभ्यते तस्यास्वादनापेक्षत्वात् तथा जगद्दर्शनमात्रेण तत्स्रष्टापि नाधिगम्यते तस्य साधनविशेषापेक्षत्वात्।२।

समुद्र का जल लवण से पूर्ण है, समुद्र देखते ही वह समझा नहीं जाता, उसे समझने के लिए जल का स्वाद ग्रहण आवश्यक है। उसी तरह यह संसार

ईश्वर की शक्ति से पूर्ण है, उसे केवल जगत देखकर ही नहीं समझा जाता, उसे समझने के लिए विशेष प्रयास तथा साधना आवश्यक है ।२।

उड्डीयमानो वियतीह गृध्रो दृष्टिं यथार्यं कुणपेषु धत्ते ।
दृष्टिस्तथा यात्यपि पण्डितानां निरर्थकेष्वर्थयशःसु नित्यम् ।३।

विसर्पयन्त्यत्युच्चदेशे गृध्राः । तेषां तु दृष्टिर्निम्नगामिनी पूतिगन्धसमाकुलेषु कुणपेषु स्वभावात् पतति, प्रायशस्तथा बहुशास्त्रदर्शिनः सर्वे पण्डिता महोच्चवेदान्तार्थविदोऽपि तुच्छयशोमानकाञ्चनादिषु रतिं कुर्वन्ति ।३।

गीध आकाश में बहुत ऊँचाई पर उड़ता रहता है, किन्तु उसकी दृष्टि नीचे की ओर सड़े-गले मुर्दों की ओर रहती है । उसी प्रकार प्रायः दिखाई पड़ता है कि अनेक शास्त्र जाननेवाले, सर्वोच्च वेदान्तशास्त्र का अर्थ जाननेवाले पंडित लोग भी निरर्थक यश, मान और कांचन में अनुरक्त रहते हैं ।३।

कदाचित् कति धीवरवध्वः करण्डपूर्णान् मत्स्यानादाय तद्विक्रयार्थं सुदूरवर्त्तिनीं काञ्चिद्ग्रामान्तरस्थां पण्यवीथिकां गतवत्यः । क्रय-विक्रयव्यापारात्ताभिः शेषतां दिवसो नीतः । सायाह्ने ताः शून्यकरण्डान् शिरोदेशे निधाय स्वगृहाणि गन्तुमुपचक्रमिरे, मध्यपथे तु कस्मिंश्चित् प्रान्तरप्रान्तभागे घोरघनघटासमाच्छन्ना प्रबलवात्याकुलितविग्रहा कुलिशनिर्घोषभयङ्करी विद्युन्मालिनी शितसायकनिभवारिधारासम्वर्षिणी भीमा यामिनी समागता । भीतास्ताश्चञ्चलचपलालोकेनान्वेषयन्त्य आश्रयमितस्ततो व्याकुलदृष्टिं निचिक्षिपुः । श्रीभगवदनुग्रहात् सम्मुखदेशे मालाकरगृहमेकमवलोक्य धावमानास्तस्योद्यानवाटिकां प्रविविशुः, मालाकरोऽसौ दिष्ट्या परमभागवतो दयार्द्रहृदयश्चासीत् । विलोक्य ता विषमसङ्कटग्रस्ताः स तस्योद्यानवाटिकैकदेशे तासां रजनीयापनाय स्थानं विनिर्दिष्टवान् । अथ प्रथमयामशेषे प्रशमिते प्रतिकूलवाते अपसृते वज्रनिर्घोषभयङ्करे सौदामिन्युद्भासिते वर्षति धाराधरे, ज्वलद्धीरकखण्ड-

सन्निभ-चारुनक्षत्रसुशोभिता अनुकूलसुखसेव्यमरुत्सनाथा मधुररजनी निखिल-लोकसुखशान्तिविधात्रीं निद्रामङ्के निधाय जगति समागता। कुसुमसुरभिमन्द-मारुतमधुरव्यजनेन सपरिवारो मालाकरोऽयं तूर्णं सुखनिद्रामवाप। धीवरवध्वस्तु तमननुभूतपूर्वसौरभमाघ्राय स्वगृहसुलभमत्स्यगन्धेन विरहिता न लेभिरे निद्राल-वमपि। स्वस्वशय्यासु केवलमितस्ततः पार्श्वपरिवर्तनं चक्रुः। उवाच तास्वेका— "भगिन्यः, हतविधिनास्माकं कोऽनर्थो नानुष्ठितो यत्तेन मालाकरगृहेऽद्य न आश्रयो निर्दिष्टः। मुहूर्त्तकालमपि नाहं सुप्तास्मि।" तस्या वचनमाकर्ण्य सर्वास्तास्तया सह एकवाक्या बभुवुर्विधातरञ्च तत्कदाश्रयविधानात् भृशं विनिन्दितवत्यः, इत्थं निद्राक्लेशेन गते कियति काले तास्वेका बुद्धिमत्तमा उपायमेकं विनिर्द्धार्य उवाच—"भगिन्यः, मयैक उपायो विनिश्चितो यदनुष्ठाना-दाशु यूयं सर्वाः सुखनिद्रामवाप्स्यथ।" तच्छ्रुत्वा साग्रहं ताः पप्रच्छुः "वद वद भगिनि कोऽसावुपायः?" सा कथयामास, "सर्वाः स्वां स्वां मत्स्याधानीमादाय तां तां सलिलसिक्तां कृत्वा स्व-स्व-शिरःप्रान्ते अवस्थापयन्तु। मत्स्यगन्धेन तूर्णं सर्वासामस्माकं निद्रा भविष्यति।" तस्यास्तद्वाक्यमाकर्ण्य तस्य च सत्यतामुप-लभ्य सर्वास्तास्तदेवानुतष्ठुः। तीव्रमत्स्यगन्धेन तिरस्कृते मधुर-कुसुम-सौरभे ताः शीघ्रं नासिकाध्वनिं कृत्वा सुप्ता बभूवुः॥

इत्युपाख्यानेन अभ्यासजन्यस्य स्वभावस्यैव प्राधान्यं प्रदर्शितं भगवता श्री-रामकृष्णदेवेन। अभ्यासवशादेव कुसंसर्गी साधुसंगमिच्छन्नपि न तमनुष्ठातुं शक्नोति, भवति तु तस्य समधिका प्रीतिर्दुःसंगेन। कामिनीकाञ्चनसंसर्गी पुरुषः न कदापि तदासक्तिं विहाय शुद्धे सच्चिदानन्दमयेऽविग्रहे परब्रह्मनि चित्तं समाधातुं शक्नोति।

अतएव—

यतोऽभ्यासात् स्वभावोऽयं स्त्रीपुंसां जायते ध्रुवम्।
यतः सर्वः सदैवेह स्वभावमनुवर्त्तते॥
कदभ्यासं ततः सर्वो विहाय सत्स्वभावतः।
सद्भावान् समनुष्ठाय विमलानन्दभाग् भवेत्॥ ४ (क्रमशः)

एक दिन कुछ मछुइनें टोकरी-भर मछली लेकर बेचने के लिए किसी दूर के गाँव के बाजार में गयी थीं। बेचने-खरीदने के काम में दिन बीत गया। शामको वे खाली टोकरी सिर पर लेकर घर की ओर चलीं। बीच में वे किसी एक मैदान के बाद एक गाँव के पास आयीं। इतने में आकाश में बादल छा गया। साथ ही साथ आँधी आ गयी। बादल गरजने लगे। बिजली चमकने लगी। तीखे तीर के बरसने की तरह पानी की बौछारों के साथ भीषण रात्रि आ गयी। मछुइनों को आश्रय की खोज में बिजली की चमक से इधर-उधर व्याकुल दृष्टि डालते हुए श्रीभगवान की कृपा से सामने एक फूल बेचनेवाले का घर दिखाई पड़ा। वे जल्दी से दौड़कर उस माली के घर में पहुँचीं। सौभाग्य से वह माली भगवान का भक्त और दयालु था। उन्हें विपन्न देखकर उसने अपने बाग वाले घर के एक अंश में उनके रात भर के लिए स्थान बता दिया। रात का प्रथम प्रहर बीत गया। आँधी-पानी भी रुक गये। बिजली की कड़क रुक गयी। आकाश में उज्ज्वल हीरक-खंड की तरह नक्षत्र शोभायमान होने लगे। आनन्ददायक वायु का धीमा प्रवाह चलने लगा। समस्त लोगों की शान्तिदायिनी निद्रा को गोदी में लेकर माधुर्यमयी रात्रि मानो पृथ्वी पर आविर्भूत हुई। फूलों की गन्ध से आमोदित मन्द-मन्द वायु के मधुर हिल्लोल से वह माली तथा उसके परिवार के लोग सुख-निद्रा में निमग्न हो गये, किन्तु मछुइनें अननुभूतपूर्व सुगन्ध नाक में आ लगने से और अपने घर के अभ्यास के अनुसार सड़ी-गली मछलियों की गन्ध न मिलने से उन्हें नींद नहीं आ रही थी। वे अपने-अपने बिस्तर पर केवल करवटें बदलने लगीं। अन्त में उनमें से एक बोल उठी—"बहनो! माली के घर में हमारा आश्रय देकर निर्दयी विधाता ने आज हमारा अनर्थ ही कर डाला है। मैं क्षणभर के लिए भी आँखें बन्द नहीं कर सकी हूँ।" उसकी वैसी बात सुनकर उसकी साथिनों ने कहा—"ऐसी गंदी जगह देकर ईश्वर ने हमें इतना दुःख दिया है।" इसी तरह नींद न आने से कुछ समय के बाद उनमें जो सबसे अधिक बुद्धिमती थी, वह एक उपाय निकालकर बोल उठी—"बहनो! मैं

एक उपाय बताती हूँ, वैसा करने से हम सभी सुख से सो सकेंगी।" उसकी यह बात सुनकर दूसरी स्त्रियों ने आग्रह के साथ पूछा—"बताओ, बताओ, यह कैसा उपाय है ?" उसने उत्तर दिया—"सब लोग अपनी-अपनी मछली की टोकरी को लेकर उन्हें पानी में भिगाओ और उसके बाद उसे अपने सिर के पास रखो। सड़ी मछली की गन्ध से सभी को अच्छी नींद आयेगी।" उसकी बात सुनकर तथा उसकी सच्चाई समझकर सबने वैसा ही किया। सड़ी मछली की बदबू से मधुर पुष्प-गन्ध के दूर होने पर वे थोड़ी ही देर में नासिका-ध्वनि के साथ निद्रामग्न हो गयीं।

इस कहा ी की सहायता से भगवान श्रीरामकृष्ण देव ने अभ्यास-जनित स्वभाव का प्राधान्य ही दिखाया है। अभ्यास के फलस्वरूप कुसंसर्गी मनुष्य साधुसंग पाने पर भी उसे सहन नहीं कर सकता, कुसंसर्ग के प्रति उसकी अधिक प्रीति रह जाती है। कामिनी-कांचन के प्रति आकांक्षित व्यक्ति कभी उस आसक्ति का परित्याग करके शुद्ध सच्चिदानन्दमय अविग्रह परमब्रह्म में चित्त को समाहित नहीं कर सकता।

इस कारण—

यह बात निश्चित है कि अभ्यास के द्वारा ही स्त्री और पुरुष सभी के स्वभाव गठित होते हैं और सभी लोग अपने-अपने अभ्यास के अनुसार ही काम करते हैं। इस कारण कुअभ्यास का परित्याग कर सद्भाव का अनुष्ठान करने से सभी उत्तम स्वभाव के अधिकारी होकर क्रमशः विमल ईश्वरानन्द का उपभोग कर सकते हैं। ४ (क्रमशः)

VIDYODAYA

1896 (भाद्र), pp. 193-199

श्रीरामकृष्णोपदेशावलिः*

कृपणेषु यथार्थेषु स्पृहास्ति बलवत्तमा ।
तथैव तव लोभोऽस्तु श्रीहरेः पादसेवने ॥ १

As a miser has a very strong yearning for gold, even so be thy yearning for the service of God.

श्रीरामकृष्णदेव के उपदेश

जिस प्रकार कृपण के मन में धन के प्रति प्रबल आकांक्षा रहती है उसी प्रकार तुम्हारे हृदय में भी श्रीहरि की चरणसेवा में प्रबल लोभ हो । १

फलोदये क्षयं यान्ति यथा पुष्पदलानि वै ।
ज्ञानोदये तथा ह्यत्र मानमोहमदान्वताः ॥ २

As when the fruit grows from the flower, the petals thereof disappear of themselves, so when true knowledge comes, vanity goes off.

जिस प्रकार फल उत्पन्न होने पर फूल, दल आदि क्षयप्राप्त हो जाते हैं, उसी प्रकार यहाँ ज्ञान उत्पन्न होने पर मान, मोह, अहंकार नष्ट हो जाते हैं । २

---

* मूल में केवल संस्कृत श्लोक और उसका अंग्रेजी अनुवाद है । प्रस्तुत संस्करण में हिंदी अनुवाद जोड़ दिया गया है । (प्रकाशक)

हृदाकाशमिदं यावद् वासनातमसावृतम् ।
ब्रह्मसूर्योदयस्यास्मिन् तावद् वै सम्भवः कुतः ? ॥३

So long as the clouds of desire cover the broad expanse of our heart, how can there be any possibility of the sunshine of true knowledge?

जब तक यह हृदयाकाश वासना के मेघ से आवृत रहता है तब तक इसमें ब्रह्मसूर्य के उदय की सम्भावना कहाँ ? । ३

तावद् गुञ्जति भृंगोऽयं यावत् पुष्पं न गच्छति ।
पुष्पालिंगनमासाद्य निःशब्दो मधुपः सदा ॥ ४

तथायं पण्डितस्तावद् वादतर्कपरायणः ।
पाण्डित्यघोषणायोच्चैः शास्त्रार्थकथनोत्सुकः ॥ ५

शास्त्राणां प्रतिपाद्यस्य सर्वेषामीश्वरस्य तु ।
यावन्न लभते भक्तिं पादपंकजयुग्मयोः ॥ ६

यदा तु तत्कृपालेशात् तद्भक्तिं लभते पराम् ।
तदालोकननिर्वृत्या निश्चेष्टो जायते तदा ॥ ७

(i) So long as the bee is outside the flower it emits a buzzing sound, but no sooner it is inside the flower, than it becomes at once silent. (2) Similarly the learned man so long wants to show his pedantry by big high sounding arguments on scriptural texts, as long as he does not realize the Almighty, the end and aim of all Shastras. (3) When through His grace he at last sees

and loves Him, he then calmly enjoys Him and becomes quiet.

जब तक भ्रमर फूल से बाहर रहता है, तब तक ही वह गुंजन करता है, किंतु फूल के ऊपर बैठ जाने पर वह चुपचाप मधुपान करता रहता है। उसी प्रकार पंडित व्यक्ति जब तक शास्त्रों के प्रतिपादय ईश्वर के चरणकमलों में भक्तिलाभ नहीं करते, तब तक ही वह अपने पांडित्य की घोषणा के उद्देश्य से तर्कविचारपरायण तथा शास्त्रार्थ की व्याख्या करने में उत्सुक रहते हैं। किंतु ईश्वर की कृपा से यदि उनमें परा भक्ति का लाभ होता है और उनका दर्शनलाभ भी हो सकता है। उस समय वह सब प्रकार के तर्कविचार से रहित होकर प्रशान्त चित्त से ईश्वरानन्द का उपभोग करते हैं।

चित्ते मायापरिच्छिन्ने विभुर्नैव विकाशते।
रूपं मलसमाच्छन्ने दर्पणे किं प्रकाशते ?॥ ८

When the mind becomes covered and soiled with ignorance, it does not reflect God. Does a mirror covered over with dirt ever reflect any image ?

जब मन अज्ञान से समाच्छन्न तथा मलिन रहता है, तब तक उसमें ईश्वर प्रकाशित नहीं होते। क्या धूल से मलिन दर्पण में रूप प्रतिफलित होता है ? ८

यथा घनघटाकाशे सूर्यमावृत्य तिष्ठति।
महामाया तथैवेह विभुमावृत्य वर्त्तते॥ ९
मायायां विगतायान्तु विभुः सर्वत्र भाष्यते।
जलदेऽपगते सूर्यो यथा सर्वत्र दीप्यते॥ १०

As the clouds cover the sun in the sky so Neseience hides and conceals the Lord. As when the clouds

disperse, the sun shines in all its glory, so when Maya goes away, the Lord is revealed everywhere.

आकाश में जिस प्रकार घनमेघ सूर्य को आच्छन्न कर डालता है, महामाया भी उसी प्रकार सर्वव्यापी ईश्वर को मानो आच्छन्न कर डालती है। मेघ के दूर हो जाने पर जिस प्रकार सूर्य अपनी प्रभा से दीप्यमान होता है, उसी प्रकार माया के दूर हो जाने पर ईश्वर सर्वत्र अपनी महिमा में प्रकाशित रहते हैं। १०

तरंगसंकुलेऽम्भोधौ चन्द्रबिम्बानि खण्डशः ।
खेलन्तीव यथा चन्द्रं सम्विभज्य सहस्रशः ।। ११
तथा सुचञ्चले चित्ते संसारावद्धचेतसाम् ।
पवित्रेऽपि ब्रह्मभावाः क्षणमायान्ति यान्ति च ।। १२

As in the troubled sea surface the broken images of the moon are reflected and made, as it were to dance, so in the unsettled, though pure, mind of a worldly man the partial images of God appear at times.

तरंगपूर्ण समुद्र के ऊपर जिस प्रकार चन्द्र का प्रतिबिम्ब सहस्रों खंडों में विभक्त होकर नाचता रहता है, उसी प्रकार संसार में फंसे हुए मनुष्य का चंचल मन पवित्र होने पर भी उसमें ब्रह्मभाव क्षणभर में आते हैं और क्षणभर में चले जाते हैं। ११-१२

सहस्रवत्सरव्यापि-तमःपूर्णगृहोदरम् ।
सर्वत्र द्युतिमद्भाति दीपयोगाद्यथाञ्जसा ।। १३
मनोमलं किल्विषाख्यं सहस्रजन्मसञ्चितम् ।
श्रीहरेः करुणालेशात् तथा तूर्णं पलायते ।। १४

As the darkness of thousand years suddenly vanishes from inside a room by striking a lamp, so the accumulated impurities of thousand births at once vanish from the mind by a particle of Divine grace.

हजारों वर्षों के अन्धकार से आवृत कमरे के भीतर जिस प्रकार दीपक जलाते ही क्षणभर में वह पूर्णरूप से प्रकाशित हो जाता है, उसी प्रकार सहस्रों जन्मों से संचित चित्त की कलुष-अशुद्धि श्रीहरि की कणमात्र करुणा प्राप्त होने पर क्षणभर में दूरीभूत हो जाती है। १३-१४

त्यजन्ति सात्त्विकाः सर्वं कथं गोविन्दमानसाः ।
धनं धान्यं यशोमानं पुत्रदारगृहादिकम् ? १५

विस्मृत्य निखिलान् भोगान् विहाय जीवितस्पृहा ।
पतंगोऽयं यथा याति प्रदीप्तज्वलनं प्रति ॥ १६

यथापि मक्षिका तूर्णं तुच्छीकृत्य स्वजीवितम् ।
परमानन्दमास्थाय मधुभाण्डे निमज्जति ॥ १७

तथेतररसान् सर्वान् विस्मृत्य सम्विहाय च ।
श्रीविष्णुमुपगच्छन्ति भगवत्परमायणाः ॥ १८

Why does a devotee, whose mind is filled with God, give up all lucre, name, fame, home, wife and children ? As an insect, forgetting its enjoyments, cares little for its life, and springs into the flame, or as a fly, caring a fig for its life, falls into the honey-pot with great glee, even so a devotee, who has made God his sole refuge, goes unto Him forgetting all other minor enjoyments.

गोविन्दगतप्राण सात्त्विक लोग किस कारण धन, यश, मान, स्त्री, पुत्र, गृह, क्षेत्र सब कुछ छोड़ देते हैं ? जिस प्रकार फतिंगे आनन्दभोग, यहाँ तक कि जीवन की आकांक्षा को भी भूलकर प्रदीप्त अग्नि के प्रति धावित होते हैं या जिस प्रकार मक्खियाँ अपने जीवन को तुच्छ करके परम आनन्द से मधुपात्र में निमग्न होती हैं, उसी प्रकार भगवत्परायण लोग भी सब प्रकार के आनन्दभोग को भूलकर श्रीविष्णु में लवलीन होते हैं। १५-१८

जलं यथा भिन्ननामभिः ब्रुवते जनाः ।
'ओवाटरिति वा केचिद् 'आकोवा' इति वा परे ॥ १९
'पानीति वा वदन्त्येके त्वभिन्नं सलिलं भुवि ।
तथैवं सच्चिदानन्दं नामभिर्बहुभिः पृथक् ।
वदन्ति भिन्नपुरुषा 'अल्ला' 'गॉड्' 'जिहोवे'-ति वा ॥ २०

As one water is called by some *jala*, by others aqua, by some others pani, so one God is called differently by different men as *Allah*, *Jehova*, Ishwara, etc.

इस पृथ्वी पर एक ही जल को विभिन्न देशों के लोग भिन्न-भिन्न नामों से प्रगट करते हैं। कोई पानी, कोई आकोवा, कोई वाटर कहते हैं, उसी प्रकार विभिन्न प्रकार के मनुष्य सच्चिदानन्द भगवान को विभिन्न व्यक्ति अल्लाह, गॉड, जीहोवा, ईश्वर आदि पृथक- पृथक नामों से पुकारते हैं। १९-२०

"अधुनैव मया दृष्टः कृकलासो मनोहरः ।
वृक्षशाखाग्र-भागेऽस्मिन् रक्तवर्णः समुज्ज्वलः ॥ २१
पत्रान्तरं प्रविष्टोऽसौ इदानीन्तु न दृश्यते ।
किं भ्रातः स त्वया दृष्टः सरटो भृशमद्भुतः ॥" २२
भ्रातर्मयापि दृष्टोऽसौ नूनं पीतो न रक्तभाक् ।
तस्य तद्वचनं श्रुत्वाऽब्रवीत्तं प्रथमोऽध्वगः ॥ २३

"किं कामलरुजा भ्रातर्दृष्टिस्ते कलुषीकृता ।
कथं त्वं मन्यसे पीतममुं कोकनदच्छविम् ॥" २४
परिहासमिमं श्रुत्वा तमुवाच ततोऽपरः ॥
"नाहं कामलवानस्मि न मे दृष्टिर्भ्रमात्मिका ॥ २५
"पीतं द्रक्ष्यामि शोनं चेद् यास्यामि दुष्टदृष्टिताम् ।
पीतान् सरटनिवहान् विधाता सृष्टवान् पुरा ॥ २६
रक्तोऽसौ सरटो नूनं नवसृष्टिस्तवाधुना ।"
इत्थं विवदमानौ तौ तृतीयः प्राप्तवान् पथि ।
साग्रहं समकालञ्च तं प्राप्य पृच्छतः स्म तौ ॥ २७
भ्रातर्यदि विजानासि सत्यं नु वद साम्प्रतम् ।
किंवर्णः सरटो भाति पीतः किमुत लोहितः ॥" २८
तयोस्तद्वचनं श्रुत्वा सस्मितं तावुवाच नः ।
"युवयोर्वचने सत्यं बहुरूपः स एव हि ॥ २९
पत्रान्तरेऽसौ हरितोऽपि भूत्वा चापेक्षते कालवशात् प्रनेयान् ।
आहार्यकीटानतितीक्ष्णदृष्टिः स्वपत्रवर्णाच्च सुगुप्तदेहः ॥ ३०
आहार्यमाहर्त्तुमनेकरूपं प्रयोजनस्यानुमतं स धत्ते ।
स्वभावमित्यस्य निरीक्ष्य धीरा इमञ्च नित्यं बहुरूपमाहुः ॥ ३१
अनन्तभावस्य च विश्वमूर्तेर्दभ्रात् विभिन्नानधिगम्य भावान् ।
परस्परं मूढमनुष्यसंघाःइत्थं पृथिव्यां विवदन्त एव ॥ ३२
युवां ततो नार्हथ एवमेव चित्ते निधातुं खलु दीनभावम् ।
नान्यस्य धर्मे कुरुतञ्च निन्दां सर्वे विवादा हि तमःप्रसूताः ॥ ३३

"Even now I have seen a beautiful chameleon of a bright red colour, which has just now hid itself amongst thick leaves of the fore-branch of that tree. Have you too seen this strange creature, brother?" Said one of the

two travellers to the other, to whom the latter replied, "Oh yes, I have already seen it, but it is not red, but yellow !" The first wayfarer hearing this replied,—"Are your eyes affected with jaundice, brother ? Why do you then think yellow what is red even like the red lotus ?" At this joke the other replied,—'Friend, I am neither jaundiced nor my eyes are misleading. Had I seen red what is yellow, then, of course my eyes would have been at fault. The Lord, in the beginning created the chameleons yellow, but this red chameleon must now be your own new creation." When they were thus quarrelling between themselves, a third joined them in their way, upon which both of them eagerly asked him at once, "Brother, if you know right, tell us truly whether the chameleon is red or yellow." Hearing them, the third answered smiling.—"Both of you are right as it is of various forms. Sometimes it becomes green, and thus, assuming leafcolour, it becomes almost imperceptible amongst the leaves and there the keen-eyed creature waits for the insects destined to be its preys. It assumes diverse forms to suit itself to procure its food. The learned therefore always call it "Bahurupa" (of various forms) by observing its nature." Even so, the unthinking men, knowing very little of the few different aspects of the Infinite and Universal Lord, eternally quarrel amongst themselves. You two, therefore, should give up bigotry after this, broaden your views without reviling others' religion, for all such petty quarrels proceed from vanity and ignorance."

दो पथिक रास्ते से जा रहे थे। उनमें एक ने दूसरे से कहा—"अभी मैंने उस पेड़ की डाली के अगले भाग में एक उज्ज्वल, लाल, सुन्दर छिपकली

देखी है। पत्तों के भीतर में घुस जाने से अब वह दिखाई नहीं पड़ रही है। भैया, क्या तुमने उस अनोखे प्राणी को देखा है?" दूसरे ने कहा—"जी हाँ, मैंने पहले ही उसे देखा है, किंतु वह लाल नहीं, बल्कि पीली थी।" उसकी वह बात सुनकर प्रथम पथिक ने उससे कहा—"भैया, क्या कँवल रोग से तुम्हारी दृष्टि-शक्ति आक्रान्त हुई है? क्या तुम लाल को पीला समझ रहे हो?" इस प्रकार दिल्लगी की बात सुनकर दूसरा बोला—"मैं कँवल रोग से आक्रान्त नहीं हूँ, और मेरी दृष्टि-शक्ति बिगड़ी नहीं है, बल्कि पीली वस्तु को मैं लाल देखता तभी मेरी दृष्टि विकार-ग्रस्त होती। प्राचीन समय में ईश्वर ने छिपकली को पीला ही बनाया था, बल्कि लाल रंग की छिपकली तुम्हारी नयी सृष्टि है।" इस प्रकार वे दोनों मित्र आपस में झगड़ा करते हुए रास्ता चलने लगे। रास्ते में चलते हुए एक मनुष्य को देखकर दोनों ने ही एक साथ उससे पूछ—"भैया, यदि तुम जानते हो तो सत्य बताओ, वह छिपकली पीली या लाल है?" उन दोनों की उस बात को सुनकर तीसरे मनुष्य ने मुस्कराते हुए कहा—"तुम दोनों की बातें ही सत्य हैं, वह प्राणी बहुरुपिया है, यहाँ तक कि वह पत्तियों के भीतर जाकर कभी हरा रूप लेकर छिप जाता है, वह बहुत तीखी दृष्टि से ठीक समय पर उसके खाने योग्य कीड़ों की प्रतीक्षा में रहता है, इस प्रकार खाद्य पदार्थ संग्रह करने के लिए वह प्रयोजन के अनुसार विभिन्न रंग का बन जाता है। उसके इस प्रकार के स्वभाव को देखकर पंडित लोग उसे बहुरूपिया नाम दिया करते हैं। उसी प्रकार अनन्तभावमय विश्वमूर्ति भगवान के विभिन्न भावों के कुछ अंशमात्र जानकर अज्ञानी व्यक्ति संसार में सदा ही आपस में झगड़ा करते रहते हैं। अतः तुम लोग अपने चित्त में एकदेशदर्शी दीनभाव को स्थान न देना तथा दूसरों के धर्म की निन्दा भी न करना। अज्ञान-रूप अन्धकार ही सब प्रकार के झगड़ों का मूल है।" २१-३३



Vol. XXVI January, 1897 Magh—No. I

विद्योदयः

संस्कृतमासिकपत्रम्

Edited by : **Pandit Hrisikesa Sastri**

माघ २३०३

VIDYODAYA

(p. p. 11-16)

Instructions of Ramkrishna Paramahansa

श्रीश्रीरामकृष्णपरमहंसोपदेशावली ।

(१) यथा विलिप्ते तु रसैः प्रकाशते
काचस्य पृष्ठे प्रतिरूपसंचयः ।
हृल्लग्नशुक्रे च तथोर्ध्वरेतसा-
मादर्शवत् सर्वविभुः प्रकाशते ॥

As a pane of glass, being smeared on one side with mercury, reflects images of whatever is put before it, so the heart of an abstemious man, who has never wasted his seminal fluid, beign smeared with semen, reflect the image of God like a mirror.

काँच की पीठ पर पारा लिप्त रहने से जिस प्रकार उसमें सामने की वस्तुओं का प्रतिविम्ब स्पष्ट दिखाई पड़ता है, उसी प्रकार ऊर्ध्वरेता व्यक्तियों के हृदय में शुक्र प्रलिप्त रहने से दर्पण की तरह उसमें परमेश्वर का प्रतिबिम्ब पड़ जाता है । १

(२) वाष्पालोका यथैवेह पुरवर्त्मगृहादिकम् ।
नानारूग्भिर्द्योतयन्ति ह्येककोषात् समागताः ॥
नानाजातिकुलोद्भूता अवतारास्तथा भृशम् ।
सर्वान् देशान् भासयन्ति ह्यद्वयेशात् समागताः ॥

As all gaspipes, proceeding from one common central store, light the different streets and houses of a town with varied intensities, so the Avataras, proceeding from the one, Almighty God and taking their births in different countries of the world among different nations, shed light of the intelligence throughout the world.

एक ही आधार से आगत वाष्पालोक यानी गैस का प्रकाश जिस प्रकार नगर के रास्ता-गली, मकान-मैदान आदि को प्रकाशित करता है, उसी प्रकार एक अद्वितीय ईश्वर से उत्पन्न अवतार विभिन्न जातियों और विविध देशों में उत्पन्न होकर उस चेतनता के प्रकाश से सारे देशों को प्रकाशित करते हैं। २

(३) यथा स्पर्शमणिं स्पृष्ट्वा लौहः कांचनतां गतः ।
स्थापितो यत्र कुत्रापि विकृतिं नैव गच्छति ॥
तथा सद्गुरुसंसर्गाद् यदा निर्मलतां व्रजेत् ।
शुभान्वितो जनः कोऽपि न पुनः किल्विषी भवेत् ॥

When iron is once converted into gold with touching of the philosopher's stone and afterwards you may place it anywhere you like, it will remain always gold. Similarly when a fortunate man becomes pure after coming in contact with the Sad-Guru, he may then live anywhere he likes and remain pure for ever without being soiled at all.

जिस प्रकार पारस पत्थर के स्पर्श से लोहा सोना बन जाने पर उसे

जहाँ कहीं रखा क्यों न जाय, वह कभी विकृत नहीं होता, उसी प्रकार सौभाग्यशाली व्यक्ति सद्गुरु के संस्पर्श से शुद्धि प्राप्त करके कहीं भी क्यों न रहे फिर से कलुषित नहीं होते ।३।

(४) यथा स्पर्शमणेः स्पर्शात् तरवारो ह्ययोमयः ।
हिरण्मयत्वमासाद्य न तु रूपं त्यजेत् स्वकम् ॥
तथापि पूर्ववत् नान्यद्धिंसितुं क्षमते त्वसौ ।
तथा हरिपदस्पर्शात् कश्चित् पुण्यवतां वरः ॥
निर्मलत्वं समासाद्य पूर्वदेहं समाश्रयेत् ।
तथाप्यसौ पुनर्नेह गच्छेद्वै रिपुवश्यताम् ॥

Although an iron sword, being converted into gold by the touch of the philosopher's stone, does not change its form, yet it loses the power of inflicting any mortal wound, like before. Similarly, when a great righteous man becomes internally pure with the touch of the feet of the Almighty although he does not change his former shape, still he is never again led by any evil thought.

जब पारस पत्थर का स्पर्श प्राप्त करके कोई लोहे की तलवार सोना बन जाती है तब वह अपना स्वरूप नहीं छोड़ती, किंतु वह पहले की तरह हिंसा-कार्य करने में समर्थ नहीं रहती । इसी प्रकार यदि कोई परम पुण्यवान व्यक्ति हरिचरण-स्पर्श से संशुद्धि प्राप्त करते हैं तो वह पूर्व शरीर का आश्रय लेकर रहते हैं सही, परन्तु फिर कभी वह रिपुओं के वश नहीं होते ।४।

(५) अयस्कान्तगिरिर्गुप्तः समुद्रसलिलान्तरे ।
विश्लेषयत्ययः कीलान् पोतेभ्यः क्षणमात्रतः ॥
तथा हरिकृपाकर्षात् नरो विगतबन्धनः ।
तत्प्रेमार्णवगर्भे वै ह्यात्मारामो निमज्जति ॥

As a loadstone rock, hidden under the occean, drowns

down vessel by drawing from it all its iron nailings, so when the mercy of the Lord draws asunder and undoes all the worldly ties of a man, it then drowns him at once in the ocean of divine love, full of eternal bliss.

समुद्र के जल मे गुप्त चुम्बक-पर्वत जिस प्रकार क्षणभर में जहाज की सारी कीलों को आकर्षण-शक्ति से उखाड़ कर उस जहाज को जल में डुबा देता है, उसी प्रकार श्रीहरि की कृपा के आकर्षण से मनुष्य सब प्रकार के बन्धनों से निर्मुक्त तथा आत्माराम होकर उन्हींके प्रेम के समुद्र में निमग्न हो जाता है।

(६) सिद्धकन्दमूलादीनि भजन्ते मृदुतां यथा।
असिद्धानि यथा तानि सन्त्येव कठिनानि च॥
निष्ठुरोऽपि तथा सिद्धः पुरुषो जायते यदा।
कोमलत्वमवाप्नोति काठिन्यं सम्विहाय सः॥
असिद्धः स्वल्पसिद्धो वा स्वभावाद् विकृतो भवेत्।
मृषाचारी मृषाभाषी सुदुष्टो जायते ध्रुवम्॥

When brinjals, potatoes etc. become boiled or siddha, they then become soft, similarly when men become siddha or perfect, they then become soft in their nature; while like the unboiled or halfboiled vegetable the imperfect men of the world are hard in their nature and merely increase the number of hypocrites and the wicked. (Here is a pun upon the word "Siddha" which means both "boiled" and "perfect").

आलू, मूली आदि जिस प्रकार सिझाने से पहले कड़े रहते हैं किंतु सिझाने पर वे कोमल हो जाते हैं, उसी प्रकार मनुष्य स्वाभाविक अवस्था में निर्दयी होने पर भी साधना से सिद्ध होने पर कठोरता का परिहार करके

कोमल हो जाते हैं। किंतु असिद्ध या अल्पसिद्ध मनुष्य स्वभाव से ही विकृत भावापन्न रहते हैं तथा इस संसार में वे केवल मिथ्याचारी या मिथ्यावादी होकर ही रहते हैं।

(७) स्वप्नमन्त्र-हठकृपा-नित्यत्वादि-विभेदतः।
सिद्धाः पञ्चविधा ज्ञेयाः पृथ्वीशोभाविवर्धनाः॥
स्वप्नकाले यदा कोऽपि मन्त्रं प्राप्य तु चेतनम्।
तेनैव सिद्धिमाप्नोति स्वप्नसिद्धः स उच्यते॥

गुरुदत्तं शुभं मन्त्रं सर्वसिद्धिप्रदायकम्।
यो जप्त्वा सिद्धिमाप्नोति मन्त्रसिद्धः स एव हि॥
हठात् प्राप्य धनं दीनो भवेत्तूर्णं धनी यथा।
दुष्टोऽपि साधुतामेति सहसैव क्वचिद्भुवि॥

दीर्घकालतपस्याभिर्यत् फलं प्राप्यते नरैः।
मुहूर्तेनैव तत्प्राप्य हठसिद्ध स जायते॥
दीनं हीनं यथा दृष्ट्वा धनी कृपापरायणः।
तस्यापनयति क्लेशं धनदानेन सर्वथा॥
वीक्ष्य कञ्चिद् दीनचित्तं दुराचार नरं तथा।
करोति सात्त्विकश्रेष्ठं गोविन्दो दीनवत्सलः॥
तस्यैव नरदेवस्य सर्वपूज्यस्य वै तदा।
कृपासिद्ध इति ख्यातिर्भवतीह धरातले॥

कुष्माण्डालावुवल्लीनां यथा फलोदयात् परम्।
पुष्पाणि सम्भवन्तीह फलानि च ततः परम्॥
तथा ये नित्यसिद्धास्ते जन्मसिद्धा भवन्ति वै।
तेषां त्वाजन्मसिद्धानां कर्तव्यानीह सन्ति न॥

तथापि तेऽनुतिष्ठन्ति यानि कर्माणि सिद्धये।
तान्येव लोकशिक्षार्थं नित्यसिद्धास्त एव हि॥

There are five classes of perfect men according to their inspirations, as they get them either through dreams or by repeating certain symbolic words or by mere accident or through the grace of God or by their own inherent perfection. These men are the ornaments of the Mother Earth. When in the state of dream a man hears some living words which enliven and illumine him and thus make him perfect, he is called a 'Svapna-Siddha'. When by the repetition of certain holy symbolic words, fallen from the lips of his spiritual guide, a man attains perfection, he is called a 'Mantra-Siddha'. As a pauper suddenly becomes rich by getting some hidden treasure, so when a wicked man suddenly becomes good and perfect, he is called, 'Hatha-Siddha'. As when a wealthy man, taking pity upon a poor helpless wretch dispels his poverty and dejection by enriching him through his munificence, similarly when the merciful Lord taking pity upon an immoral and wicked man with satonic principles, makes him one of His best devotees, then that all-honoured man-god is known throughout the world as a 'Kripa-Siddha'. As the pumpkin creeper brings forth the fruits first and then the flowers, similarly when a man is perfect, even from his birth, and when having no duty to perform he works merely for the good of mankind by becoming an exemplary character, he is called a 'Nitya-Siddha'.

पृथ्वी के अलंकार-स्वरूप सिद्ध लोग ५ प्रकार के हैं—स्वप्नसिद्ध, मंत्रसिद्ध, हठसिद्ध, कृपासिद्ध तथा नित्यसिद्ध। जब कोई मनुष्य चेतन-मंत्र स्वप्न में पाकर उसकी सहायता से सिद्धिलाभ करते हैं, तब वे स्वप्नसिद्ध कहे जाते हैं। गुरुदत्त सर्वसिद्धिप्रदायक शुभ-मंत्र जप करके जो सिद्धिलाभ करते

हैं उन्हें मंत्रसिद्ध कहते हैं। जिस प्रकार कदाचित् कोई दीन-दरिद्र व्यक्ति भाग्य से एकाएक धन लाभ करके शीघ्र धनी हो जाता है, उसी प्रकार इस संसार में कदाचित् कोई दुष्ट व्यक्ति एकाएक साधु बन जाता है और दीर्घ काल तक तपस्या करने से जो फल मिलता है उसे क्षणभर में पाकर हठसिद्ध रूप से प्रसिद्ध हो जाता है। कभी-कभी ऐसा भी देखा जाता है कि कोई दरिद्र व्यक्ति किसी धनी मनुष्य की दृष्टि में पड़ जाता है और वह धनी व्यक्ति कृपा करके यथेष्ट धन देकर उसकी दरिद्रता दूर कर देते हैं। उसी प्रकार किसी दरिद्र दुराचारी व्यक्ति को देखकर दीनदयाल गोविंद कृपाविष्ट हो जाते हैं और उसे सात्त्विक-श्रेष्ठ पुरुष में परिणत कर देते हैं। तब वह सर्वपूज्य नरदेव पृथ्वी पर कृपासिद्ध रूप से प्रसिद्ध हो जाते हैं। लौकी-कोंहड़ा आदि की लता में पहले फल निकलता है, उसके बाद फूल उत्पन्न होता है। उसके बाद बड़ा फल होता है। इसी प्रकार जो लोग नित्यसिद्ध हैं वे जन्म से ही सिद्ध रहते हैं। और इस संसार में उनका कोई कर्तव्य कार्य नहीं रहता। तो भी वे पुनः सिद्धिलाभ करने के लिए जिन कर्मों का अनुष्ठान करते हैं वे केवल लोगों की शिक्षा के लिए ही करते हैं। वे ही तो नित्यसिद्ध हैं।७।

(८) यथा दूरतो हट्टकोलाहलोऽयं
अबोध्यः सदा भाति सर्वैर्मनुष्यैः।
समीपे तु वाणिज्यकार्योत्थ-शब्दाः
क्रयादर्थमुत्थापिता भान्ति नित्यम्॥
तथा सृष्टिकाण्डमनन्तं विलोक्य
ह्यनीशं स्वतंत्रं वदन्तीह मूढाः।
सुधीः सूक्ष्मदर्शी तु जानाति नित्यं
विधातास्य नेता प्रभुर्विश्वकर्ता॥

From a distance a busy market appears to be full of noise and turmoils, but at a near view everything there

appears to be in perfect order and bargaining and transactions seem to be carried on with nice precision. Similarly shallow and superficial judgement can not find any system in the infinite workings of the world, but when one dives deep into its mysteries he finds there a well-ordered system moving on under the guidance of one infinitely intelligent power, known as God.

जिस प्रकार दूर से बाजार का हल्लागुल्ला सुनाई पड़ने पर भी दूर के लोगों के लिए उसका कोई भी अर्थ मालूम नहीं होता, किंतु बाजार में जाने पर खरीदने-बेचने का शब्द समझ में आता है, उसी प्रकार अज्ञानी लोग इस अनन्त सृष्टि-कार्य को देखकर इसे ईश्वर-रहित तथा स्वयं-चालित रूप से कहते हैं, किंतु सूक्ष्मदर्शी ज्ञानी लोग जानते हैं कि विधाता ईश्वर ही इस विश्व-ब्रह्मांड के सदा परिचालक, कर्ता और प्रभु हैं।

श्रीरामकृष्णस्तुतिः

नमः श्री रामकृष्णाय रामकृष्णस्वरूपिणे ।
नरान् भ वाम्बुधेः पारं नेतुं नौरिव यः स्थितः ॥१॥
सर्व ग स्सर्वसाक्षी यः सर्वधर्ममयः प्रभुः ।
स्वभा व त. कृपासिन्धुरिन्दुश्चिन्तानलोष्मणः ॥२ ।
ससं तो षोऽकिञ्चनत्वे समहेमाश्ममृत्तिकः ।
मातु रा राधनासक्तो विहितेश्वरदर्शनः ॥३॥
निष्का म लोकसत्कार्यपरः परमतत्त्ववित् ।
कृत कृ त्यो नरेन्द्रोऽभूद्यस्य सङ्गतिमात्रतः ॥४॥
वितृ ष्ण स्संसृतौ रामकृष्णस्तु भगवान्स्वयम् ।
सर्व दे वमयः पूर्णः सर्वज्ञो विश्वपूजितः ॥ ५॥
मान व स्य स्वरूपं हि नित्यं शुद्धं तथामलम् ।
विश्व स्य शान्तये सर्वनरैकत्वमतोऽब्रवीत् ॥६॥
सद्व स्तु नः प्रकाशेन सर्वधर्मसमन्वयात् ।
यत्कीर् ति र्देशमर्यादामतिक्रम्याभिता ययौ ॥७॥

स्तुतिरियं साहित्याचार्य-एम्-ए० श्रीभंडारकरोपाह्वेन
त्र्यंबकशर्मणा विरचितम् ।

दक्षिणेश्वर का भवतारिणी मन्दिर